श्रीमद्वादिराजसूरिविरचित

पार्श्वनाथ चरित।

(हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ.

टेहू (अहारन—आगरा)

प्रकाशक—

जयचंद्र जैन,

२२० अपरसर्क्यूलररोड, श्यामबाजार कलकत्ता।

प्रथमवार } आषाढ़ वी. नि. २४४८ { न्योछावर ढाई रुपया

दो शब्द।

श्रीमान् वादिराजसूरिका नाम कौन नहीं जानता ? आपका बनाया हुआ एकीभावस्तोत्र जैन संसारमें खूब ही प्रसिद्ध है। आप ही की प्रतिभाका फलस्वरूप यह श्रीपार्श्वनाथचरित्र है। इसमें शृंगारादि नव रसोंका अति विस्तारके साथ वर्णन किया गया है इसलिये संस्कृत साहित्यज्ञोंको दृष्टिमें, और वीतराग सर्वज्ञ धर्म-चक्री श्रीपार्श्वनाथके अनुपम चरित्रका चित्रण किया गया है इसलिये धार्मिक व्यक्तियोंकी दृष्टिमें यह ग्रंथ कितने महत्त्वका है, यह इसका एक वार स्वध्याय करने वाले स्वयं ही निर्णय सक्ते हैं।

ग्रंथरचयिताने अपना परिचय प्रशस्तिमें स्वयं दिया है पाठक गण उसे वहांसे देख लें।

अनुवाद, माणिकचंद्र दि० जैनग्रंथमालामें मुद्रित प्रतिपरसे किया गया है और उसमें अधिक अशुद्धि होनेसे अनुवादमें भी बहुत सी अशुद्धियां हो गई होंगी यह निश्चित है इसके सिवा ग्रंथकी कठिनता और हमारी अल्पज्ञताके कारण भी अशुद्धियोका हो जाना संभव है, विज्ञ पाठक उन्हें सुधारलें और कृपा कर हमें भी सूचित करें जिससे द्वितीय संस्करणमें वह निकाल दी जांय।

अंतके तीन सर्गोंका अनुवाद श्रीमान् न्यातीर्थ पंडित गजाधरलालजीने किया है अतः हम उनके अति आभारी हैं।

नम्र—
श्रीलाल जैन

विषय सूची।

श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीमद्वादिराजसूरिविरचित

श्रीपार्श्वनाथचरित ।

(हिंदी अनुवाद सहित)

प्रथम सर्ग ।

श्री वधूनवसंभोगभव्यानंदैकहेतवे ।
नमः श्रीपार्श्वनाथाय दानवेंद्रार्चिताङ्घ्रये ॥ १ ॥

यक्षेंद्र द्वारा पूजनीय चरण कमल वाले, और मोक्ष लक्ष्मीरूपी वधूके नवीन संभोगसे उत्पन्न हुये अपूर्व आनंदको भव्योंके लिये प्रदान करने वाले, जो श्री पार्श्वनाथ जिनेंद्र हैं, उन्हें हमारा बारंबार नमस्कार है ॥ १ ॥

आगे उन्ही भगवान की स्तुति करते हैं—

क्रुद्धदैत्यविनिर्मुक्ताः सायका यस्य पादयोः ।

हिंसादोषक्षयायेव पुष्पवर्षश्रियं दधुः ॥ २ ॥
अग्निवर्षो रुषा यस्य पूर्वदेवेन निर्मितः ।
तपसा सहसा निन्ये हृद्यकुंकुमपंकताम् ॥ ३ ॥
गुर्वोऽपि त्रिलोकस्य गुरोर्द्रोहादिवाद्रयः ।
लाघवं तूलवद् यस्य दानवप्रेरिता ययुः ॥ ४ ॥

कुपित हुये कमठके जीव असुरने पूर्व भवके वैरके कारण जो बाण छोडे थे वे जिनके चरणोंका आश्रय पाते ही मानो हिंसासे उत्पन्न हुये दोषोंको नष्ट करनेके लिये ही पुष्पमाला होगये, जो अग्नि वर्षा की थी वह तपके प्रभावसे सहसा मनोहारी कुंकुम का लेप होगया; बडे भारी जो पत्थर फेंके थे वे तीन लोकके गुरु भगवानके द्रोही हो जानेके भयसे ही मानो रुईके समान हलके और कोमल होगये। भावार्थ- अपने वैरी द्वारा ऊपर छोडे गये वाणोंको जिन्होने फूलोंकी मालाके समान प्रिय समझा, आग की वर्षाको केसरका लेप मान स्वागत किया और वर्षाये गये पत्थरोंको रुईके समान कोमल एवं हलके मान कुछ भी पर्वा न की ॥ २-४ ॥

भूगर्भादुत्पतन्नागचूडामणिमरीचिभिः ।
आवृता यस्य धैर्येणेवास्वरज्यत मेदिनी ॥ ५ ॥
आतपत्रं महाबोधेर्यस्य शुभ्रमिवांबुदं ।
पद्मिनी विभरामास पर्वतस्येव मूर्धनि ॥ ६ ॥

पाताल लोकसे ऊपर मध्य लोकमें आये हुये धरणेन्द्र

मुकुटमणिकी किरणोंसे जो पृथ्वी व्याप्त होगई वह जिनभगवानके धैर्यसे व्यापृत सरीखी सुशोभित होने लगी और जिसप्रकार उन्नत पर्वतकी शिखरपर शुभ्रमेघ (सफेद बादल) मनोहर दीखते हैं उसीप्रकार ज्ञानके भंडार जिन भगवानके उन्नत मस्तकपर पद्मावतीने श्वेत छत्र धारण किया॥५-६॥

तापसैर्वर्धिता यस्मिन् नित्योद्बोधपरश्वधे।
अच्छिद्यंत वनेऽतुच्छाः स्वयं दुस्तर्कशाखिनः॥ ७॥

जिस प्रकार कुल्हाडीसे पेड काटकर निर्मूल नष्टकर दिये जाते हैं, उसी प्रकार जिन पारसनाथ भगवानने अपने नित्य उत्कृष्ट ज्ञानसे कपिल आदिक तपस्वियों द्वारा उठाये गये कुतर्क बिल्कुल नष्ट करदिये॥ ७॥

ज्ञानामृतार्णवे यत्र चित्ते मज्जति दुर्जये।
क्रोधदावाग्निसंतापो दानवेंद्रान्न्यवर्त्तत॥ ८॥
प्रह्वदानवमूर्धन्यमणिरागेण यद्वपुः।
प्रभावभूमिवाक्रांतं विद्युता श्यामलप्रभम्॥ ९॥

दुर्जय ज्ञान रूपी अमृतके समुद्रस्वरूप जिनभगवान में चित्त जब मग्न होगया तो वैरी असुरकी भी क्रोध रूपी अग्नि एकदम शांत होगई और हर्षित हो जो मणियोंकी प्रभासे जाज्वल्यमान अपना मुकुट उसने पैरोंपर नमाया तो उसकी लालिमासे जिन पार्श्वनाथका शरीर बिजलीसे घेरे गये कृष्ण मेघ सरीखा सुंदर जंचने लगा॥ ८-९॥

निःशेषलोकवृत्तांतमीक्षमाणं यमीश्वरं ।
उपास्थिषत गीर्वाणाः कामचारभयादिव ॥ १० ॥
अनंतगुणसाम्राज्यलक्ष्मीकांतमुपांतिमम् ।
अघहंतारमर्हंतं वंदिषीय तमव्ययम् ॥ ११ ॥

कामदेवके आक्रमणके भयसे ही मानो देव लोग समस्त संसारके वृत्तांतको जाननेवाले जिनभगवानकी पूजाकरने लगे ऐसे अनंत गुण रूपी साम्राज्य लक्ष्मीके अधीश्वर, पापोंको नष्ट करनेवाले, अविनाशी तेईसवे तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १०-११ ॥

अपि प्रहास्ये मांद्ये मे श्रेयस्कामितया प्रभोः ।
कवेयं चरितं तावदर्थी दोषं न पश्यति ॥ १२ ॥

यद्यपि मेरा यह साहस कि "अनंत गुणोंके भंडार श्रीपार्श्वनाथजिनेंद्रके चरितको कहनेका कुछ भी प्रयत्नकरूं" एक मूर्खताका काम है ऐसा करनेसे सज्जन लोग अवश्य ही मेरी हसी करेंगे तथापि मैं उस हास्यकी अपने कल्याण की चाहनाके सामने कुछ पर्वा न कर उन भगवान (पार्श्वनाथ) के चरित का अवश्य कहूंगा, क्योंकि मेरा यह दृढ श्रद्धान है कि अर्थी किसी भी दोपकी अपेक्षा नहीं करता उसे अपने स्वार्थके सामने बडेसे बडा भी दोष कुछ नहीं मालूम होता ॥ १२ ॥

जडाशयोदयमपि भव्यं तद्वचनं भवेत् ।
यज्जनाभिमुखं पद्ममभ्यर्कं न तु शोभते ॥ १३ ॥

जिस प्रकार जलाशय (तालाब) से उत्पन्न हुआ भी कमल सूर्यके उदित होजानेपर क्षण मात्रमें प्रफुल्लित हो उठता है और मनोहर दीख निकलता है उसीप्रकार जडाशय (मूर्ख) द्वारा बोला गया भी वाक्य यदि वह जिनेंद्र भगवान के लिये कहा जाता है तो अवश्य ही सुन्दर मालूम होने लगता है ॥ १३ ॥

कुतस्तमो लयं याति वचोवातायनेन चेत् ॥
न विशेयुर्मनःसद्म सतां जिनगुणांशवः ॥ १४ ॥

जिसप्रकार अंधेरे घरमें मोखुआ द्वारा सूरजकी किरणोंका प्रवेश हुए विना प्रकाश नहीं होता उसीप्रकार जबतक वचनों द्वारा अज्ञानसे आवृत हृदयमें जिनेंद्र भगवानके गुण प्रवेश नहीं करते तबतक ज्ञानका प्रकाश नहीं होता ॥१४॥

अल्पसारापि मालेव स्फुरन्नायकसद्गुणा ।
कंठभूषणतां याति कवीनां काव्यपद्धतिः ॥ १५ ॥

जिसप्रकार अल्प मूल्य वाली भी माला मध्यमणिके उत्तम गुणसे भूषित होने के कारण कण्ठ की भूषण बन जाती है उसीप्रकार अल्प अर्थवाली भी कवियोंकी काव्य पद्धति नायक (चरित्रस्वामी) के सद्गुणों से गूथी गई होनेके कारण अवश्य ही कण्ठकरने लायक हो जाती है भावार्थ—उसमें ऐसे ऐसे उत्तम गुण अवश्य आजाते हैं कि वह लोगोंके मनको हरण करनेवाली होजाती है इसलिये

मुझे विश्वास है कि मेरी वाणी भी जिनेंद्र भगवानके चरित में प्रयुक्त होनेके कारण अवश्य ही निर्दोष हो जायगी ॥१५॥

अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तं ।
पक्षीकुर्वंति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः ॥ १६ ॥

आकाशमें उड़नेकी इच्छा करनेवाले पक्षी जिसप्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं उसीप्रकार मोक्ष रूपी नगरको जानेकेलिये भव्य लोग जिस मुनीश्वरका सहारा लेते हैं उस महात्मना अगणित गुणोंके भंडार स्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहाराजके लिये मेरा सविनय नमस्कार है ॥ १६ ॥

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥ १७ ॥
अचिंत्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यंति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥ १८ ॥
त्यागी स एव योगींद्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरंडकः ॥ १९ ॥

जिन मुनि महाराज द्वारा निर्मित देवागम स्तोत्र आज तक भी सर्वज्ञको प्रत्यक्ष सिद्धकर बतलाता है उनके उस विस्मयावह चरित का कहना ही क्या है और जिनके प्रभावसे साधुत्व को प्राप्त हुये शब्द सिद्ध हो जाते हैं वे अचिंत्यमहिमा वाले स्वामी (समन्तभद्र) सबोंके वन्दनीय हैं । वे ही

योगींद्र (समन्तभद्र) वास्तवमें त्यागी–दानी हैं जिन्होंने अक्षयसुख (मोक्ष) को देनेवाला रत्नकरण्डक (रत्नों-का पिटारा) भव्य लोगोंके लिये प्रदान कर दिया अर्थात् जो लोग विनाशीक सुख देनेवाले एक दो रत्नोंके देनेवाले हैं वे त्यागी–दानी कहलानेके योग्य नहीं है बल्कि जिन्होंने अविनाशी सुखके देनेवाले रत्नकरण्डको ही दे डाला भावार्थ—जिन्होंने रत्नकरण्ड श्रावकाचार नामक ग्रंथ बनाकर जीवोंका कल्याण किया वे ही त्यागी कहलानेके योग्य हैं ॥ १७–१९ ॥

तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः ।
जगद्द्रव्यमुषो येन दंडिताः शाक्यदस्यवः ॥ २० ॥

जिसप्रकार पृथ्वी का स्वामी राजा धन हरण करने वाले चोरोंको दंड देता है उसी प्रकार जिन नैयायिकों के अधीश्वर अकलंक देवने संसारकी द्रव्योंको चुराने वाले अर्थात् पृथ्वी जल तेज वायु और आकाशके सिवा अन्य-द्रव्योंको न मानने वाले बौद्धरूपी चोरों को दंड दिया, भावार्थ—अपने तर्कबलसे उन्हे परास्त कर दिया वे (अकलंकदेव) जयवंत हैं अर्थात् बौद्ध मतको खंडन करने-वाले उनके ग्रन्थ आज कल भी उनका यश विस्तार रहे हैं ॥ २० ॥

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।
दिग्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः ॥ २१ ॥

अनेकांत [स्याद्वाद] मतरूपी पर्वतका आश्रय कर बोलनेवाले जिन सिंहस्वरूप वादीभ सिंह आचार्यने अपने शास्त्रार्थसे दिग्गजस्वरूप दिग्नाग नामक बौद्धाचार्यके यशको उसका गर्व चूर्णकर खंड खंड कर दिया उनके लिये हमारा नमस्कार है ॥ २१ ॥

नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनां ।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥ २२ ॥

भव—संसाररूपी कुएमें गिरते हुये प्राणियोंको जिनने मोक्षरूपी सुखदायक घरमें प्रवेश करानेवाली सन्मति बतलाई अर्थात् इस नामका ग्रन्थ बनाया उन सन्मति मुनिराजकेलिये हमारा सादर प्रणाम है ॥ २२ ॥

जिनसेनमुनेस्तस्य माहात्म्यं केन कथ्यते ।
शलाकाः पुरुषाः सर्वे यद्वचोवशवर्तिनः ॥ २३ ॥

जिसकी वाणीके वशमें समस्त शलाका पुरुष हैं-जो समस्त शलाका पुरुषोंके चारित्रको भलीभांति जाननेवाले हैं उन जिनसेनस्वामीका माहात्म्य अवर्णनीय है-उनकी जितनी स्तुति की जाय सब थोडी है भावार्थ—श्रीजिनसेनने त्रेसठ शलाका पुरुषोंके जीवन चरितको वर्णन करने वाला महापुराण बनाया ॥ २३ ॥

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता ।
अनंतकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गैव लक्ष्यते ॥ २४ ॥

जीवसिद्धि नामक ग्रन्थको बनानेवाले उन अनंतकी-

र्ति मुनिको हमारा सादर नमस्कार है जिन्होंने कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र तीनोंके ही मिलनेसे मुक्ति होती है इस बातको प्रत्यक्ष बतला दिया ॥ २४ ॥

गुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः ।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ॥ २५ ॥

महातेजस्वी वैयाकरणोंके शिरोमणि पाल्यकीर्ति मुनिकी उस वैयाकरणत्व शक्तिका वर्णन कौन करसक्ता है ! जिनके कि नाम मात्र उच्चारण करनेसे अन्य वैयाकरणोंके हृदयमें डर पैदा हो जाता है ॥ २५ ॥

अनेकभेदसंधानाः खनंतो हृदये मुहुः ।
बाणा धनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥ २६ ॥

कुंती का पुत्र धनंजय (अर्जुन) का बडा भाई कर्ण दुर्योधनकी पक्षमें था इसलिये अर्जुनद्वारा प्रयुक्त, अनेक भेद संधानाः-एक साथ अनेक लक्ष्यका संधान-भेदन करनेवाले, हृदय को खनते-पीड़ा देते हुये बाण तीर कभी भी उसे प्रिय नहीं थे परंतु धनंजय-धनंजय नामक कविके द्वारा प्रयुक्त, एक साथ अनेक भेद-अर्थका संधान-कथन करने वाले, हृदय ग्राही बाण-शब्द कर्ण-श्रवणोंको प्रिय लगते हैं यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥ २६ ॥

वंदेयानंतवीर्याब्दं यद्वागमृतवृष्टिभिः ।
जगोज्जिघत्सानिर्वाणः शून्यवादहुताशनः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार संसारको भस्म कर देनेकी सामर्थ्य रखनेवाली अग्नि मेघकी मूसलधार वर्षासे नष्ट हो जाती है उसीप्रकार जिनकी वाचनिक शक्तीके प्रभावसे जगत्को शून्य माननेवाले लोगोंकी तर्कणा शक्ति खंड खंड हो गयी उन अनंतवीर्य मुनीश्वरके लिये नमस्कार है ॥ २७ ॥

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानंदस्य विस्मयः ।
श्रृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ॥ २८ ॥

संसारमें जो स्फुरद्रत्न—रत्नोंसे देदीप्यमान अलंकार-भूषण होते हैं वे एक तो ऋजु सूत्र सीधे डोरोंसे गुथे हुये नहीं होते और दूसरे जो उन्हे पहिनता है उसीके अंगको दीप्त करते हैं परंतु श्रीविद्यानन्दस्वामीका स्फुरद्रत्न—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी रत्नोंसे भूषित अलंकार (श्लोकवार्तिकालंकार) ऐसा है कि वह ऋजुसूत्रों (सरल वाक्यों) से गुथा हुआ है और जो उसे स्वयं पहिनते-पढते भी नहीं हैं केवल सुनतेहीं हैं उनके अंगमेंभी दीप्ति-हिताहितविचारशक्ति पैदा कर देता है यह बडे ही आश्चर्य की बात है ॥ २८ ॥

विशेषवादिगीर्गुफश्रवणाबद्धबुद्धयः ।
अक्लेशादधिगच्छंति विशेषाभ्युदयं बुधाः ॥ २९ ॥

जिनकी वाणीकी रचनाके श्रवणमें लगे हुये विद्वान लोग विनाही विशेष परिश्रमके विशेष अभ्युदय (मोक्ष) पा लेते हैं उन विशेषवादि आचार्यकेलिये हमारा सविनय नमस्कार है ॥ २९ ॥

चंद्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनः प्रियं।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनंदिनः ॥ ३० ॥

जिसप्रकार चन्द्रमाकी प्रभा कुमुद्वती (कुईफूल) को प्रफुल्लित करती है उसीप्रकार शृंगार आदि नौऊ रसोंसे पुष्ट चन्द्रप्रभचरित में गुथी हुई, वीरनंदिस्वामी की वाणी हमारे मनको प्रफुल्लित करती है ॥ ३० ॥

कुशलानि विपच्यंतां यदि संति तथा मम।
यावज्जीवं न पश्यामि दुर्जनं स च मां यथा ॥ ३१ ॥
अक्षमः सन् बुभुक्षायै तरक्षुर्न तथा क्षणं।
मां विभीषयते यद्वदहेतुकुपितः खलः ॥ ३२ ॥

जिसप्रकार मैं दुर्जनोंकी तरफ अपनी दृष्टि नहीं रखता उसी प्रकार वे दुष्ट जन भी मेरी तरफ दृष्टि न करें इसलिये मेरी (ग्रंथकर्ता की) भावना है कि जिन कर्म-परमाणुओंके उदयसे दुर्जनोंकी दृष्टि पडती है वे विना ही फल दिये खिर जांय भावार्थ—नष्ट हो जांय क्योंकि भूंखके वश हुआ शीघ्र ही प्राणहारी वाघ मुझे उतना भयभीत नहीं करता जितना कि निष्कारण कुपित हुआ दुर्जन भय पैदा करता है ॥ ३१--३२ ॥

अथवाऽस्तु नमस्तस्मै दुर्जनायापि यद्भयात्।
सप्रयत्नपदन्यासा न प्रमाद्यति मन्मतिः ॥ ३३ ॥

अथवा मैं उस दुर्जनके वास्ते भी नमस्कार ही करना

हूं जिसके कारण पद वाक्यकी रचना करनेमें लगी हुई मेरी बुद्धि सदा सावधान रहती है कभी भी प्रमाद करनेमें उत्सुक नहीं होती ॥ ३३ ॥

कलास्तत्र न वर्धंते चंद्रस्येव कवेरिव।
कण्ठे विषग्रहो यस्य धूर्जटेरिव दुर्मतेः ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार महादेवके विष-भरित गलेमें चन्द्रमाकी कलायें नहीं बढतीं उसीप्रकार दुर्जनके विष--दोषग्राही कंठमें भी कविकी-कलायें (गुण) कभी नहीं बढ़ पातीं ॥३४॥

दुर्जनस्य बहुच्छिद्रं तत्प्रवेष्टुमनीश्वराः।
प्रविशंति गुणाश्चित्रं निश्छिद्रं-धीमतां मनः ॥ ३५ ॥

तस्मात् सतामुपस्कारं मत्प्रयासो व्यपेक्षते।
मणिराकरजः शुद्धयै तज्ज्ञस्येव क्रियाविधिम् ॥ ३६ ॥

यद्यपि दुर्जनका मन बहुछिद्र (बहुतसे छेदवाला वा दोषोंसे सहित) होता है तो भी उसमें गुण प्रवेश नहीं करपाते और सज्जनका मन निश्छिद्र ही होता है तो भी उसमें गुण (डोरा, क्षमादि गुण) प्रवेश कर जाते हैं यह बडे ही आश्चर्यकी बात है इसलिये जिसप्रकार खानिसे तत्काल निकली हुई मणि अपनी शुद्धिके लिये शुद्ध करनेवाले की अपेक्षा करती है उसी प्रकार मेरी जो यह तात्कालिक कविता है वह भी अपनी शुद्धिकेलिये सज्जनोंके संस्कारकी अपेक्षा रखती है ॥ ३५-३६ ॥

अस्ति भारतवास्येऽस्मिन् जनांतः शांतकल्मषः ।
सुखाभिरतिहेतुत्वात् सुरम्याख्यस्तनूभृताम् ॥ ३७ ॥
भ्रांतालिप्रस्तरं व्योम शालीयामोदवासितं ।
घनांतेऽपि बिभर्तीव यत्र कालघनाहकम् ॥ ३८ ॥

इसी भरतक्षेत्रमें पुण्यात्मा जनोंसे भरा हुआ समस्त जीवोंको सुखका देनेवाला, सुरम्य सु [अच्छी तरह] रम्य [मनोहर] नाम का देश है। उस देशमें शालिधान्य इतने सुगंधित होते हैं कि उनकी सुगंधित लपटसे भ्रमर सदा उनके ऊपर घूमते रहते हैं और वर्षा ऋतुके बीतजाने पर भी आकाशमें काले काले मेघों सरीखे मालूम पडते हैं ३७-३८

भुज्यमाना जनैः स्वैरं यस्मिन्नुद्वासिताम्बराः ।
न त्यजंति कुलीनत्वं धान्यपाकसमृद्धयः ॥ ३९ ॥

अन्य स्त्रियोंकी तो यह बात है कि वे उद्वासितांबर (अंबर-वस्त्र रहित) होनेपर पुरुषों द्वारा सेई जानेसे कुलीनता [उच्चपना] छोड देती हैं और नीच हो जाती हैं परन्तु उस सुरम्य देशकी पके हुये धान्योंकी समृद्धिरूपीस्त्री एक विलक्षण ही है कि वह उद्वासितांबर [आकाशको सुगंन्धित करनेवाली] होनेपर समस्त पुरुषों द्वारा स्वछन्द रीतिसे सेई जाने पर भी कुलीनता [कु-पृथ्वीमें लीनता] नहीं छोडती-सर्वदा मौजूद ही बनी रहती है ॥ ३९ ॥

शंकां यत्र भुवो रात्रावुन्मिषन्निधिदीप्तयः ।
अवाप्तशालिपाकेषु पामराणां प्रकुर्वते ॥ ४० ॥

रात्रिके समय स्फुरायमान दीप्तिशाली वहांकी मणियां अपनी चमकती हुई प्रभासे मूर्खोंको वेपके हुये धान्योंमें भी पके हुओंकी शंका कर देती हैं ॥ ४० ॥

शस्यवृद्धीर्मुदा यत्र श्यामांगीः प्रसवोन्मुखीः ।
आपगाः स्वपयःपुष्टाः पश्यंतीवांबुजेक्षणैः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार अपने दूधसे पाली पोषी गई लडकियोंको उनकी मातायें प्रसूति कालके समीप होनेपर हर्षपूर्वक लालसा भरे नेत्रोंसे देखती हैं उसी प्रकार अपने जलसे वृद्धिको प्राप्त कराई गई धान्यवृद्धि रूपी पुत्रियोंको वहांकी नदियां कमलरूपी अपने नेत्रोंसे हर्षपूर्वक देखती सरीखी मालूम पडती हैं ॥ ४१ ॥

नद्यः स्फटिकपाषाणदीप्तिभिर्यत्र पूरिताः ।
वहंतीव शुचौ शुष्कवारोऽपि बृहदंभसः ॥ ४२

दूसरी जगह की नदियां तो ग्रीष्मऋतुमें सूर्यकी तीव्र आभासे सूखजानेके कारण जलरहित होजाती हैं और वैसी ही मालूम होती हैं परन्तु वहांकी सूखीहुई नदियां चमकती हुई स्फटिक पाषाणकी कांतिसे जलरहित होनेपर भी जल भरित सरीखी मालूम पडती हैं ॥ ४२ ॥

इक्षवो यत्र वाटेषु पाकभंगगलद्रसाः ।
प्रवाहाय प्रकल्प्यंते पांथक्लमतृषामुषे ॥ ४३ ॥

ग्रीष्म ऋतुकी तीव्र उष्णतासे तप्तायमान होनेके कारण

पिपासासे व्याकुलित हुए पथिकोंको पाकके समय होने वाले भंगसे चूते हुये रसवाले गन्ने (इक्षु) प्याऊ (पौस रा-प्रपाय) का कामदेते हैं ॥४३॥

वनेषु यत्र कर्पूरद्रुमरेणुसुगंधयः ।
माधवीमुपगूहंते मारुता बहुवल्लभीः ॥ ४४ ॥

वहां कर्पूरवृक्षकी रेणुओंकी सुगन्धिसे सुगन्धित वनका पवन बहुतसे वल्लभोंवाली माधवी लताओं को सहर्ष आलिंगन करता रहता है ॥४४॥

स्फटिकेभ्यो गिरेर्यत्र पादेभ्यः पथिका रवैः ।
विवेचयंति हंसानां सरांसि मधुरश्रवैः ॥ ४५ ॥

वहां स्फटिकमणियों के अकृत्रिम प्रत्यंत पर्वत और हंसोंसे व्याप्त सरोवर दोनों ही अपनी शुक्लतासे एकसे मालूम पडते हैं इसलिये मार्गकी थकावटसे थकेहुये और पिपासासे पीडित पथिक गण उन्हें (पहाड और सरोवरोंको) कानोंको मीठे लगनेवाले हंसोंके शब्दोंसे भिन्न भिन्न समझते हैं ॥४५॥

सरस्तरंगसंघातस्खलद्वातावहाः शुचौ ।
कुर्वंति पांथविश्रामं यत्र चंदनवीथयः ॥ ४६ ॥

वहां तालाबोंकी तरंगोंके संघातसे उठी हुई शीतल पवनको धारण करनेवाली चंदनवृक्षोंकी बगियायें पथिकोंको विश्राम देकर अपना जन्म सफल करती हैं ॥४६॥

पुण्यपापक्रियाव्याप्तिक्रमातिक्रांतवैभवाः ।
यस्मिन्नन्योऽन्यसंपत्त्यै जना न स्पृहयालवः ॥ ४७ ॥

पुण्याचरणसे अधिक वैभव प्राप्त होता है और पापाचरणसे हीन ऐसा क्रम है परन्तु उस देशमें यह क्रम न था समस्त लोग समान वैभव शाली थे इसलिये उस देशके रहनेवाले लोग आपसमें एक दूसरेकी संपत्तिके लिये लालायित न थे अर्थात् सब ही मनुष्य अपनेको समान संपत्तिके धारक समझते थे ॥ ४७ ॥

कृतपुण्यजनाकीर्णं पुरं तत्रास्ति पोदनं ।
पांथा यस्मिन्नयत्नेन प्राप्नुवंति कृपोदनम् ॥ ४८ ॥

उसी देशमें पुण्यात्मा लोगोंसे सर्वत्र व्याप्त, थके हुये पथिकोंको विनाही परिश्रमके कृपोदन (कृपासे आहारदान) देनेवाला एक पोदन नामका नगर है ॥४८॥

दीप्तरत्नमयो यत्र प्राकारो भाति भासुरः ।
पर्यटन् पुरगुप्त्यर्थं प्रताप इव भूपतेः ॥ ४९ ॥

उस नगरके चारो तरफ देदीप्यमान रत्नोंका बना हुआ परकोट है जोकि नगरकी रक्षाके लिये चारो तरफ खडा हुआ मूर्तिमान् भूपतिका प्रतापसरीखा मालूम पडता है ॥४९॥

अरुणस्तंभरत्नांशौ द्वारि यस्य प्रवेशिनां ।
मनुजः कुंकुमाक्तसान्दितरो न विभिद्यते ॥ ५० ॥

उसकोटका दरवाजा लोहित मणियोंकी दीप्तिसे

सर्वदा लाल लाल ही बना रहता है इसलिये उस दरवाजेसे निकलते हुये लोग कुंकुमसे (केसरसे) लिप्त सरीखे दीख पडते हैं ॥५० ॥

यस्य खातांभसि स्नाताः स्फुरन्माणिक्यदीधितौ ।
स्पर्शेनोष्णेन बुध्यंते तटे शीतालवोऽनलम् ॥ ५१ ॥

स्फुरायमान जो माणिक्य की किरणें हैं उनसे लोहित किये गये खाईके जलमें स्नान करनेवाले लोग उष्ण और शीतस्पर्शसे ही केवल अग्नि और उस जलमें भेद समझते हैं और वैसे दूरसे तो स्वरूपमें दोनों ही एक सरीखे मालूम पडते हैं ॥ ५१ ॥

शिखरप्रोतरत्नानां खातांबुपरिवेषिणः ।
यस्य सालस्य शोभंते पल्लवा इव रश्मयः ॥ ५२ ॥

उस खाईके चारोतरफ फिर एक साल (प्राकार) है और उसके शिखरपर लगे हुये रत्नोंकी किरणें उसके पत्ते सरीखीं मालूम पडती हैं ॥५२ ॥

यस्य गोपुरशूलाग्रदारितास्त्वव्यथा इव ।
रसंतो रसदाः काले निजं मुंचंति जीवनम् ॥ ५३ ॥

उसके गोपुर (नगरका प्रधान फाटक)के शिखरका अग्रभाग इतना ऊंचा है कि जिस प्रकार शूलके अग्रभागसे विदारित मनुष्य चिल्लाता हुआ अपना जीवन छोड देता है उसी

प्रकार उसके अग्रभागसे विदारे गये मेघ गरज गरज कर अपना जीवन (जल) समयपर छोडते रहते हैं ॥ ५३ ॥

पूर्णकुंभस्तनीयस्यालीढमाल्या निशामुखे ।
वेश्या इव करैरागी रथ्याः स्पृशति चंद्रमाः ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार रात्रिके प्रारम्भमें रागी लोग पूर्ण कुंभके समान स्तनवाली सुगंधित द्रव्योंसे भूषित वेश्यायोंको करों —हाथोंसे स्पर्श करते हैं उसी प्रकार पूर्ण कुंभरूपी स्तनोंवाली मालाओंसे व्याप्त उस नगरकी रथ्यायों (गलियों) को चन्द्रमा करों—किरणोंसे स्पर्श करता है ॥ ५४ ॥

कुसुमानि सुगंधीनि निष्कुटे यस्य ेरुधां ।
पिबंति भ्रमरा. स्त्रीणां गृहे वक्त्राणि वल्लभाः ॥ ५५ ॥

उस नगरके लतागृहोंसे शोभित उपवनोंमें तो भ्रमर सुगन्धित कुसुमोंके मधुको पीते रहते हैं और घरोंमें पति लोग पत्नियोंके मुखका पान किया करते हैं ॥ ५५ ॥

तन्वीनां सहजं बाल्यं नवयौवनसंग्रहे ।
यत्र यूनां मनःकूपं निर्वेदेनेव गच्छति ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार लोग अधिक अपमानित हो कुएमें गिर पडते हैं उसी प्रकार वहांकी तरुणी स्त्रियोंका स्वाभाविक बालपना नवीन यौवनके आक्रमणके समय युवाओंके मन रूपी कुओंमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् युवतियोंके यौवनको

देखकर वहांके युवाओंके मन हिताहित विचार रहित हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

यत्र दुग्धच्छटाशुभ्राश्चित्रं भोगस्पृहावतां ।
तन्वीकटाक्षविक्षेपा रागोपादानहेतवः ॥ ५७ ॥

वहां पर भोग (भोग करना, खाना) की स्पृहा करनेवाले लोगोंको दुग्धकी छटाके समान शुक्ल भी तरुणियों के जो कटाक्ष विक्षेप हैं वे राग (लालिमा प्रीति) के उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं यह बडे ही आश्चर्य की बात है। भावार्थ— जो शुक्ल वस्तु होती है वह अपने संबंधसे दूसरे पदार्थको रंग नहीं सक्ती परन्तु वहांकी युवतियों के कटाक्षोंमें यह बात थी कि वे शुक्ल होने पर भी अपने संबंधसे युवाओंको अपने रंगसे रंग लेते थे अपनेमें रागी कर लेते थे ॥ ५७ ॥

वेदीरत्नप्रभोत्कीर्णाः प्रासादाः यत्र पांडुराः ।
सेंद्रचापशरन्मेघविभ्रमं साधु बिभ्रते ॥ ५८ ॥

वेदि गृहके रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त जहांके प्रासाद (रईसोंके घर) अपनी कांतिसे इन्द्रधनुष से सहित शरत्कालीन मेघकी शोभाको धारण करते हैं ॥ ५८ ॥

गृहाग्रोन्नतरत्नानां स्फुरंत्यो रश्मिसूचयः ।
दिवाऽपि यत्र कुर्वंति शंकामुल्कासु पश्यताम् ॥ ५९ ॥

घरोंके उन्नत अग्रभागमें लगे हुये रत्नोंकी चमकती हु-

ई किरणें दिनमें भी देखनेवालों को अपनेमें बिजली की शंका कराती हैं ॥ ५९ ॥

आस्तीर्णा विपणिर्यत्र क्रय्यमाणिक्यरोचिषा ।
प्राप्ता बालातपेनेव व्योमपाथेयलिप्सया ॥ ६० ॥

बिक्रीके लिये रक्खे हुये माणिक्योंकी लाल लाल किरणोंसे व्याप्त वहां का जौहरी बाजार ऐसा मालूम पडता है मानों आकाश मार्गमें गमनकरने से पहिले पाथेय (टोसा, रास्तेमें खाने का सामान) को ग्रहण करनेकी इच्छासे लोहित नवीन सूरज ही वहां आया हो ॥ ६० ॥

यत्रेंद्रनीलनिर्माणगृहभित्तिरुपास्थिताः ।
हेमवर्णाः स्त्रियो भांति कालाब्दानिव विद्युतः ॥ ६१ ॥

सुवर्ण के समान पीत वर्ण वाली स्त्रियां जब कभी वहां की इन्द्रनील मणियोंसे निर्मित गृहभित्तियों पर आकर उपस्थित होती हैं तो उनकी नीले मेघों के पास चमकनेवाली बिजलियोंकीसी शोभा होती है ॥ ६१ ॥

भवनोत्तंभिता यत्र पताकाः पीतभासुराः ।
भावयंत्यघने व्योम्नि क्षणदीधितिविभ्रमम् ॥ ६२ ॥

उस नगरके घरोंपर की ध्वजायें जगमगाते हुये पीले वर्ण कीसी हैं सो जिस समय वे पवनके प्रतापसे इधर उधर फहराती हैं तो बिना मेघके ही आकाशमें बिजलीके चमकनेका संदेह करा देती हैं अर्थात् बिजलीका और उनका रंग

एक समान होनेसे लोग मेघ रहित आकाशमें उन्हें बिज-ली समझ सशंक हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

हरिन्मणिमयारंभामुन्मयूखां विचित्सया।
दूर्वांकुरधिया यत्र वत्सा धावंति देहलीम् ॥ ६३ ॥

उस नगरके घरोंकी देहलियां चम चमाते हुये म-णियों की बनी हुई हैं इसलिये वहाके वछरे (गायों के छोटे २ बच्चे) उन्हें हरे २ दूवके अंकुर समझ खानेकेलिये दौडते हैं ॥ ६३ ॥

अगाधान्वायसंपन्नो गुणी कर्कशदंडभृत्।
अरविंदाह्वयस्तत्र राजा श्रीनिलयोऽभवत् ॥ ६४ ॥

भातुं दिक्चक्रमाक्रामन्नद्वितीयेन तेजसा।
व्याप्नुवंतं जहासेव स सहस्रेण तेजसा ॥ ६५ ॥

इस प्रकार सर्वदा शोभाओं से शोभित रहनेवाले उस पोदनपुरका स्वामी, अनेक गुणोंका भंडार, तीक्ष्ण दण्डका देनेवाला, अगाध ऐश्वर्यका भोक्ता, लक्ष्मी का निवास स्थान अरविंद नामका राजा था और वह अपने अद्वितीय (अके-ले सहाय रहित) प्रतापसे समस्त दिक्मंडलका पालन कर-नेवाला होनेके कारण सहस्र प्रताप [हजार किरणों] से दिशाओंके समुदाय की रक्षा करनेवाले तेजस्वी सूर्यकी हंसी उडाता हुआ मालूम पडता था ॥ ६४-६५ ॥

स मनोज्ञकलाकांतिरुदयारक्तमंडलः।

राजा मृदुकरोल्लासैः कुमुदानंदमादधौ ॥ ६६ ॥

यह राजा चन्द्रमाके समान था क्योंकि चंद्रमा जिस प्रकार मनोज्ञ कला और कांतिसे शोभायमान रहता है उसी प्रकार यह भी मनोहर कला (राजकला) और कांतिसे शोभित था, चंद्रमा जिस प्रकार उदयारक्तमंडल—उदय कालमें आ—ईषत रक्त—लाल मंडलवाला होता है उसी प्रकार यह भी उदयमें आरक्त—अनुरक्त मंडल—देशवाला था (इसके उदय होनेमें प्रजा बडी ही अनुरक्त थी) और चंद्रमा जिस प्रकार अपने कोमल कर—किरणोंसे कुमुदों को आनंद देता है उसी प्रकार यह भी अपने कोमल—न्यून करों—राजाके लिये देय भागोंसे कु—पृथ्वी को मुद हर्ष देता था ॥ ६६ ॥

तादृशी पात्रता तस्य तं गच्छंत करेच्छया ।
शिरोदारप्रदानाय शत्रवोऽपि यदभ्यगुः ॥ ६७ ॥

यह महाराज इतना भाग्यशाली था कि जिस शत्रुके पास यह कर लेनेकी इच्छासे जाता था वही उसके पास श्रेष्ठ २ स्त्रियोंको भेटमें लाकर देता था ॥ ६७ ॥

आज्ञया कृतमर्यादे भुवने तस्य मध्यमे ।
साऽट्टप्राकारखाताद्याः शोभायै पत्तनादिषु ॥ ६८ ॥

जिस समय उसने अपनी तीक्ष्ण आज्ञासे राज्यकी मर्यादा बांधदी तो उस समय नगर आदिमें अट्ट, प्राकार, खाई आदि रक्षाकी वस्तुएं केवल शोभा के लिये ही दीख पडने लगीं ॥ ६८ ॥

तस्य धर्मभृतो युद्धे गुणारोपितशक्तयः।
पत्रिणोऽपि स्थिरावस्थानुदास्थन्नवनीभृतः ॥६९ ॥

उस महाराजकी युद्ध शक्ति इतनी अपूर्व थी कि जिस समय वह धनुष पर बाण चढा कर चलाता था उस समय बडे से बडे कभी न डिगने वाले राजाओंके मद को भी चूर चूर कर देता था ॥ ६९ ॥

कामवर्षी स सर्वस्मिन्नुन्नतेष्वधिकक्रियः।
तथापि जलदस्येव षड्गुणाः सत्पथस्थितेः ॥ ७० ॥

आकाश मार्गमें रहनेवाला मेघ, जल थलमें समान रूपसे वर्षनेवाला होता है किंतु श्रेष्ठ मार्गमें स्थित वह राजा समान रूपसे समस्त लोगोंकी इच्छाकी पूर्ति करता था तो भी जो पुरुष उन्नत थे-समृद्धि शाली थे उनका उसे विशेष ख्याल था अर्थात् वह समृद्धि शाली मनुष्योंको देखकर जलता न था उन्हें और भी समृद्ध बनाने का ख्याल रखता था तथापि वह मेघके समान गुणोंका धारक था ॥ ७० ॥

निर्गतं दिरसतस्तस्य न लक्षादूनमाननात्।
प्रत्यपद्यंत संतस्तं तथापि मितभाषिणम् ॥ ७१

दान देनेमें वह इतना विस्तीर्ण हृदय का था कि कभी उसने लाखसे कम रुपये अपने मुहसे ही न निकाले परन्तु बडे ही आश्चर्यकी बात है कि लोग तब भी उसे मितभाषी न्यून-परिमित बोलनेवाला ही कहते थे ॥ ७१ ॥

धर्म्यमाज्ञाविपाके स लोकस्थित्या वहन्नपि।
विचिकाय न कस्यापि चित्तेऽपायं दयापरः ॥ ७२ ॥

आज्ञा विचय, विपाक विचय, संस्थान और अपाय विचय ये धर्म्य ध्यानके चार भेद हैं जिनमें वह राजा पहिलेके तीन भेदोंको धारण करता हुआभी चौथे—अपाय (नाश) को न करता था भावार्थ—वह सर्वदा धर्मसे अविरुद्ध ही लोक स्थिति के अनुसार अपनी आज्ञा चलाता था और मनमें कभी किसी का दयाके वश हो नाश न सोचता था ॥७२॥

संवद्धोऽपि सदाऽध्यक्षैः करणक्रमवर्त्तिभिः।
अन्तव्यः सन्नुपालव्धस्स्थूलमर्थमनश्वरं ॥ ७३ ॥

यद्यपि वह राजा आज्ञामें चलनेवाले सेवकोंसे सदा वेष्टित था तथापि वह उनकी कुछ पर्वा नही करता था अर्थात् सेवक लोग उसकी शोभा मात्र थे इसलिये छोटे वडे समस्त मनुष्य उस राजाको अविनाशी समझते थे अर्थात् समस्त मनुष्योंको यह ज्ञान था कि सेना राजाकी शोभा मात्र है राजा का कोई कुछ कर नहिं सकता ॥ ७३ ॥

जनस्य क्षुण्णमार्गेण दीर्घयात्रां प्रकुर्वतः।
श्रमतापहरास्तस्य प्रपा इव विभूतयः ॥ ७४ ॥

जिसप्रकार रेतीलेमार्गसे दीर्घ यात्राको करतेहुये पथिकके लिये प्रपा (प्याऊ पोसरा) श्रम और तापको दूर करने वाली होती है उसीप्रकार उस राजाकी विभूतियां भी

कठिन रीतिसे अपने जीवन कालको वितानेवाले के
लिये शांतिदायी थीं ॥ ७४ ॥

सुप्तोऽपि चक्षुषा पश्यन् जगत्तेजोमयेन सः।
दंडेन दर्शयामास मार्गमुन्मार्गगामिनाम् ॥ ७५ ॥

वह राजा यद्यपि रात्रिमें सोता था तोभी अपने तेजो-मय नेत्रोंसे समस्त जगत्की नीतिको भलीभांति देखता था और जो लोग उसमें उन्मार्गसे गमन करते थे उन्हें दंडपूर्वक नियंत्रितकर सुमार्गपर चलाता था ॥७५ ॥

कोशगर्भात् स आकृष्टाद्दानार्थं खड्गरत्नयोः
कोपप्रसादयोस्सिद्धिमवापदारिमित्रयोः ॥ ७६ ॥

वह अपने शत्रुओंके नाशके लिये तो कोष-म्यानसे तलवार निकालकर कोपकी सिद्धि करताथा और मित्रोंके लिये कोष खजानेसे रत्न दे दे कर अपनी प्रसन्नता प्रकट करता था ॥ ७६ ॥

दुःखकूपात् प्रजा भूपः स चित्रं जैत्रविक्रमः।
यदुज्जहार दूरेऽपि भुजेनाजानुलंबिना ॥ ७७ ॥

यद्यपि जयशील वह प्रजासे दूर रहता था तोभी अपने घुटनों तक लंबे हाथोंसे उसे दुःखरूपी कूपसे बाहिर निकालता था अपने प्रतापसे प्रजाको किसीप्रकारका दुःख नही होने देता था ॥ ७७ ॥

तस्याराधयतो धर्मं नित्यं तत्परया धिया।

अनश्यतां न कामार्थाविभोगादिव भूपतेः ॥ ७८ ॥

वह राजा सावधानीसे धर्म का नित्यही पालन किया करता था इसलिये विना भोगमें लाये हुयेके समान उसके अर्थ और काम कभी नष्ट न होते थे वे सर्वदा मौजूद ही रहते थे ॥ ७८ ॥

तद्गुणामृतसंपातात् स्वयं कामदुघा मही ।
तत्फलानुभवे यत्नः प्रजानामवशेषितः ॥ ७९ ॥

उसके गुण रूपी अमृतके बलसे उसके राज्यकी भूमि स्वयं ही अभीष्टफलोंको दिया करती थी इसलिये वहां की प्रजाको सिर्फ उन फलोंके भोगकरनेमें ही प्रयत्न करना पडता था अर्थात् वहांके लोग विना ही प्रयत्नके धान्यादिका भोग किया करते थे ॥ ७९ ॥

तस्य सूक्ष्मविदस्तेजो दैवमन्यदिव प्रजाः ।
अबूभुजन्फलं काले प्रच्छन्नस्यापि कर्मणः ॥ ८० ॥

जिसप्रकार जीव समय समयपर अपने अपने भाग्यका फल पाया करते हैं उसीप्रकार सूक्ष्म २ बातोंको जाननेवाले उस राजाके दैवके समान प्रतापसे भी लोग समय पर छिपे हुये भी अपने सुकर्म और दुष्कर्मोंका फल पाया करते थे ॥ ८० ॥

हितपार्के प्रजानां स दाह्यमाक्रम्य तेजसा ।
कुर्वन्नपि प्रचख्ये न कृष्णवर्मा शुचिर्गुणैः ॥ ८१ ॥

दाह्य शत्रुओं को अपने तेजसे भस्म कर प्रजाके हित पाक को करनेवाला वह पवित्र गुणों से मंडित राजा यद्यपि दाह्यको जलाकर पाक करने वाली अग्निकी तुलना करता था तो भी लोग उसे कृष्णवर्त्मा--कृष्ण--काला, सदोष वर्त्म--मार्गवाला नहीं कहते थे और अग्निको तो उसी (कृष्णवर्त्मा) नामसे पुकारते थे ॥ ८१ ॥

तं दुरासदमासाद्य विश्वभूतिं प्रभाविनम् ।
उवाचेदं वचो मंत्री विश्वभूतिर्विशांपतिम् ॥ ८२ ॥

देव देवांगनापांगरुचिगौरगुणा गुणाः ।
किन्नरैर्गायिषेरंस्ते मानुषोत्तरमूर्धनि ॥ ८३ ॥

इसप्रकारकी विलक्षण महिमासे मंडित उस अरविंद नरेशका प्रधान मंत्री राजकार्योंमें कुशल विश्वभूति नामका ब्राह्मण था। वह एकदिन राजा के समीप आया और अपना नम्र निवेदन इसप्रकार कहने लगा "महाराज! देवांगनाओंके कटाक्ष विक्षेपके समान शुभ्र तुम्हारे गुण मानुषोत्तर पर्वत की चोटीपर किन्नरोंसे गाये जांय। ॥ ८२-८३ ॥

त्वयि शास्तरि लोकस्य शिवमेव गुणोत्तरं ।
प्रपीडयति मामेव केवलं प्रबला जरा ॥ ८४ ॥

देव ! पश्य जपाधारा विशुद्धा रक्तवाससः ।
जरसा जरठाः संतो निर्भर्त्स्यंते मम द्विजाः ॥ ८५ ॥

वार्द्धक्यवेषवेदेन स्खलतोऽनुपदं मम ।
चित्तशुद्धयेव निर्यत्या दृश्यते पांडुरं शिरः ॥ ८६ ॥
दौर्बल्यं मम दृष्ट्वेव जारिणो जनगर्हितं ।
दुःप्रेष्यवन्न वर्तंते स्वकार्ये चक्षुरादयः ॥ ८७ ॥
जरस्तेयं सपत्नीव मद्गात्रानपवर्तिनी ।
प्रतिहंति च कांतानां मत्समागमकौतुकम् ॥ ८८ ॥
प्रेषितः प्राप्तदौर्बल्यमचिरादप्रियास्यता ।
मां प्राप्तवानयं दंडः पुरस्तादिव मृत्युना ॥ ८९ ॥
वयसा पश्चिमेनेदमत्यंतोपात्तकंपनं ।
उद्योगमिव तृष्णायां निषेधति शिरो मम ॥ ९० ॥
ततो मामनुमन्येथा जिघृक्षुं जिनदीक्षितं ।
वयःपाकनिगारोऽयमन्यथा मां न मुंचति ॥ ९१ ॥
यदि दृष्टिर्न जैनीयं कः पुमान्नोपसर्पति ।
गंभीरं भवपातालमविद्यामृगतृष्णया ॥ ९२ ॥

"देव ! जबसे आपने इस पृथ्वीका भार ग्रहण किया है जबसे आप राजा हुये हैं तबसे समस्त प्रजाको उत्तरोत्तर सुखही सुख मिलता गया है और मिलता जारहा है परन्तु मैंही एक ऐसा व्यक्ति हूं जिसे प्रबल प्रतापशालिनी जरा (वृद्धावस्था) महा दुःख दे सतारही है और उत्तरोत्तर अपना वेग प्रबलही करती जारही है। इसलिये मैं आपसे सविनय प्रार्थना करताहूं कि आप मुझे राजकर्मके भारके परित्याग

की सुसम्मति दे कृतार्थ करें, मेरी इस भार परित्यागकी इच्छा को सफल होने दें यदि आप इसमें कुछभी विघ्न डालेंगे मुझे मेरी इच्छाके अनुसार करने से किसीप्रकार भी रोकेंगे तो आपको यह बातभी अविदित नहीं है कि श्रेष्ठ, सर्वदा भगवद्भजनकोही करने वाले, विशुद्ध, रक्त वस्त्रों के धारक सज्जन, मेरे समान अवस्थाके वृद्ध लोग मुझे क्या कहेंगे—वे मेरी अवश्य निंदा करेंगे—उनकी दृष्टिमें मैं अवश्य गर्हय, ममत्वी समझा जाऊंगा। इस वृद्धावस्थाके कारण मेरा शरीर बिलकुल शिथिल—निष्क्रिय होगया है, शिरके केश श्वेत हो गये हैं सो उनसे मुझे ऐसा मालूम पडरहा है कि अबतक जो मेरे अंदर चित्तविशुद्धि—मानसिक पवित्रता थी वह धीरे धीरे इन श्वेतकेशोंके छलसे निकलती जारही है और कालिमा भीतर प्रविष्ट हो अपना डेरा डंडा जमा रही है। मेरी इन्द्रियां अब- इस अवस्था को पाकर इतनी शिथिल--अनाज्ञाकारिणी होगई हैं कि जिसप्रकार स्वामीकी दुर्बलता--निष्कासन आदिमें असमर्थता देख कर दुष्ट नौकर अपना यथेष्ट काम नहीं करते उसीप्रकार वे भी अपने कार्यको पूरा नहीं करतीं--नेत्रों की ज्योति कम होगई है-उनसे स्पष्ट पदार्थावलोकन नहीं होता, श्रवणसामर्थ्य हीन होगये हैं--वे बहुत जोरसे बोलने पर सुनते हैं, स्पर्श इन्द्रिय इतनी शिथिल होगई है कि उससे धरा उठाईका कोई काम ही नहीं होता है हाथ पैर अपना बिलकुल कार्य नहीं करते। मेरे शरीर के-

साथ सर्वदा निवास करने वाली यह प्राकृतिक वृद्धावस्था जिसप्रकार पुरुषको एक स्त्री दूसरी स्त्री के--अपनी सौतके संगम करनेसे रोकती है उसीप्रकार मुझेभी मानुषी स्त्रियोंके सहवाससे रोक रही है—स्त्रियों के समागम करनेकी मुझमें कुछभी इच्छा नहीं रही है। जिसप्रकार शीघ्रही पीछे आने वाले राजा का दण्ड (डेरा,तंबू) पहिले आजाता है उसी प्रकार शीघ्रही मेरे पास आनेवाले यमराजका यह वार्द्धक्यरूपी दंड पहिलेसे आ प्राप्त होगया है। इस बुढापेसे जो मेरा शिर हिलरहा है उससे मुझे 'तृष्णाके वश हो अब और अधिक उद्योग मतकरो' ऐसा उपदेश होना सरीखा मालूम पडरहा है इसलिये महाराज! मुझे अब जिनदीक्षा लेनेकी आज्ञा दीजिये-मेरे इस शुभपरिणाम को कार्यमें परिणत करनेकी अनुमति दे कृतार्थ कीजिये। यदि आप इस समय मुझे रोकेंगे-मेरा वियोग होना अयोग्य समझ जिनदीक्षा ग्रहणसे सहमत न होंगे तो इस वृद्धावस्थाके अंतमें मुझे आपके पाससे वियुक्त करानेवाले यमराजसे आपको अवश्य ही सहमत होना पडेगा, थोडे दिनोंके बाद मेरा और आपका अवश्य ही वियोग होजायगा इसलिये उचित है कि हम पहिलेसे ही उसके लिये तयार होजांय और अपना अभीष्ट सिद्ध करनेके लिये जैन शास्त्र का आश्रय करें क्योंकि इस समस्त संसारमें सिवाय इस धर्म के दूसरा कोई भी ऐसा धर्म नही है जो अविद्यारूपी मृगतृष्णाके वश हो जन्म मरण रूपी पातालको जाते हुये

जीवों को वचावे यदि कोई उस अज्ञान से बचा सक्ता है तो एक यह जिन धर्म ही है।" ॥ ८४-९२ ॥

इति विज्ञाप्य राजानमाश्वास्यांबुधरीं प्रियां ।
निषिध्यानुगतौ पुत्रौ स प्रतस्थे तपोवनम् ॥ ९३ ॥
कमठे सत्यपि ज्येष्ठे तस्य पुत्रं गुणाधिकं ।
मरुभूतिं महीपालः साचिव्ये प्रत्यातिष्ठपत् ॥ ९४ ॥

इसप्रकार विश्वभूति अरविंद नरेशकी सेवामें विज्ञप्ति कर और अपनी प्राणप्यारी अंबुधरी स्त्री तथा पुत्रोंको आश्वासन देकर जिस समय तपोवन चला गया तो महाराजने उसके कमठ और मरुभूति नामक दोनों पुत्रोंमेंसे छोटे किंतु गुणों से वडे मरुभूति को अपना मंत्री बनाया और राज्य कार्यका समस्त भार उसके सुपुर्द कर दिया ॥ ९३-९४ ॥

अमात्यलक्ष्मीमासाद्य स बभार वसुंधरां ।
समुद्रमेखलाक्रांतां प्रियामपि वसुंधराम् ॥ ९५ ॥

मंत्रित्व पदको प्राप्तकर वह समुद्ररूपी मेखलासे वेष्टित समस्त वसुंधरा-पृथ्वीका और समुद्रके समान विशाल मेखला--करधनी से भूषित वसुंधरा नामक पत्नीका पालन करने लगा ॥ ९५ ॥

आकृष्टास्तस्य मंत्रेण परेषामपि संपदः ।
अनुरागप्रकर्षेण समाश्लिष्यन्महीपतिम् ॥ ९६ ॥

मरुभूति राज्यकार्यके मंत्र करनेमें इतना कुशल था कि अपनी उस कुशलतासे दूसरे दूसरे राजाओंकी संपत्तियां खींच खींच कर अपने राज्यमें मिलाने लगा और वे संपत्तियां भी स्त्रियोंके चंचल स्वभावके कारण अपने अपने पतियोंको छोड़ छोड़ कर उसीके राजा के पास आ आ कर अनुराग दिखलाने लगीं ॥ ९६ ।

सदसद्दर्शनोपायं श्रवणानुगतायतिं ।
नृपस्तमात्मनो मेने तृतीयमिव लोचनम् ॥ ९७ ॥

अरविंद नरेश भी उसे इस चातुर्यके लिये कम न समझता था बल्कि जिसप्रकार सत्-उपस्थित, असत्-अनुपस्थित पदार्थोंके देखनेकेलिये लोग कर्णके पास तक लंबाईसे पहुंचे हुये नेत्रको उपयुक्त समझते हैं उसी प्रकार वह राजा भी उस मरुभूतिको सद्--श्रेष्ठ, असद्--अश्रेष्ठ (हेय) पदार्थको दिखलानेके लिये उपयुक्त सर्वदा समीप रहनेवाला अपना तीसरा नेत्र समझता था ॥ ९७ ॥

नीरम्भृतया तेन तीक्ष्णयाऽजिह्मधारया ।
बुद्ध्या निस्त्रिंशयष्ट्या च बिभिदे मर्म शात्रवम् ॥ ९८ ॥

भोगतृष्णातुरे मूर्खे कमठे वारुणीप्रिये ।
स यावत् स्नेहसंबंधात् परां भक्तिमदर्शयत् ॥ ९९ ॥

मरुभूतिके मंत्रित्व कालमें पहिले तो उस राजाका कोइ शत्रुही नहीं रहा था और जो था भी सो उसके मर्म स्थान

को पहिले तो वह अपनी तीक्ष्ण सुचतुर, दूरदर्शिनी सीधी साधी दंडविधायिनी बुद्धिसे ही भेद देता था और यदि तिस परभी कोई अपनी कुटिलता न छोडता था तो उसे पैनी जल चढी हुई सीधी धारकी धारक तलवारसे छाती छेदकर वश करता था वह अपने कुटुंबियोंका भी बडा ही भक्त था यहां तक कि उसका बडा भाई कमठ जो विषयलोलुपी, मूर्ख, चारित्रभ्रष्ट और शराबी था तो भी वह उसमें अपनी गाढ भक्ति ही दिखलाता था ॥ ९८—९९ ॥

पौदनस्याभिगोप्तारमादिश्य सचिवाग्रजं ।
सामात्यः प्रययौ राजा वज्रवीरजिगीषया ॥ १०० ॥

एक समय की बात है कि वज्रवीर नामक किसी प्रांतिक राजाको जोकि विरुद्धमें खडा हो नाना उपद्रव कर रहा था वश करनेकेलिये मंत्री मरुभूति सहित अरविंदनरेश को जाने की तयारियां करनी पडीं और उस समय अपने नगर का रक्षक मंत्री का बडा भाई कमठ ही उपयुक्त समझ, कर देना पडा ॥ १०० ॥

बलेन चलतस्तस्य भाराक्रांता समंततः ।
प्रागेवावनता धात्री पश्चाद् मार्गे महीभृतः ॥१०१ ॥

शत्रुओंको जीतनेकेलिये जिस समय इस नरेशकी चतुरंग सेनाने प्रयाण किया तो इस महाराजाके प्रतापबलसे पूर्व की दबी हुई भी यह पृथ्वी मार्गमें सेनाबलके भारसे पुनः दबी हुई मालूम होने लगी ॥ १०१ ॥

अनेकभूभृदाबद्धा दिक्प्रसिद्धमतंगजा ।
सानुरागवती तस्य धरेव चलिता चमूः ॥ १०२ ॥

अनेक भूभृत–राजाओंसे संयुक्त, दिक् प्रसिद्ध मतंगजों —दिग्गजों के समान बली हाथियों से भूषित अनुराग–प्रेम करनेवाली इसकी अनुगामिनी सेना, अनेक भूभृत–पर्वतोंसे मंडित, दिग्गजोंसे शोभायमान अनुरागिणी पिछार २ चलनेवाली पृथ्वीके समान दीखने लगी ॥ १०२ ॥

भूभारैकक्रियाबंधोस्तस्याभ्यागच्छतोऽद्रिभिः ।
स्वागतं जगदे नूनं सेनाघोषप्रतिस्वनैः ॥ १०३ ॥

पृथ्वीके भारको धारण करनेसे समान क्रिया वाले, अपने मित्र स्वरूप इस राजाका मार्गमें पडते हुये पर्वत गण सेनाके शब्दोंकी प्रतिध्वनिसे स्वागत करते सरीखे मालूम पडने लगे ॥ १०३ ॥

जहि गुल्ममवस्कंद पंकमुद्धर कंटकं ।
गच्छन् प्रियं व्यधत्तेव स बली वनपद्धतेः ॥ १०४ ॥

मार्गविरोधक लता गुच्छोंको काटकर, कीचड़को धूलि आदिसे सुखाकर और कंटकोंके नाम निशानको मिटाकर इस राजाकी सेना वन पद्धतिके प्रियको करती हुई के समान सुशोभित होने लगी ॥ १०४ ॥

आरूढसिंधुरस्कंधं राजन्यपरिवेष्टितं ।
श्वेतच्छत्रेण राजानं जज्ञुर्जानपदा जनाः ॥ १०५ ॥

भूरजः सैन्यसंपातादुत्पपात नभःस्थलं।
तस्य धूम इवाभ्यगूत्तेजोवन्हेर्ज्वलिष्यतः॥ १०६॥

सिंधुर गजपर चढेहुये अनेक राजपुत्रोंसे वेष्टित अरविंद महाराजको तो लोग श्वेत च्छत्रसे पहिचानने लगे और सेनाके गमनसे आकाशमें उठते हुये धूलिके कणोंको भविष्यतमें प्रज्वलित होनेवाली उसकी तेजरूपी प्रबल अग्निका धुआं समझने लगे॥ १०५-१०६॥

अरौत्सीदरिमुद्दर्पं सपद्मं मधुपं तथा।
संकुचत्यत्र संपत्तिं यथा तीव्रो हिमागमः॥ १०७॥

इसप्रकार बडेही समारोहके साथ जाकर जिसप्रकार तीव्र पाला कमलमें बैठे हुये भ्रमर को संकुचित करदेता है उसीप्रकार उसने पद्मपुर नगर में रहनेवाले वज्रवीरको चारोतरफसे घेर संकुचितकर दिया॥ १०७॥

निर्गत्य वज्रवीरोऽपि सबलो नगराद् बहिः।
प्रत्यग्रहीन्महानाथं बाणवर्षैरणातिथिम्॥ १०८॥

जब यह बात वज्रवीरको मालूम पडी तो वहभी अपनी चतुरंग बलशालिनी सेनाको साथले बडीही सजधजके साथ लडनेकेलिये नगरसे बाहिर निकल पडा और घनघोर बाण वर्षासे अपने शत्रु अतिथिका आदरसत्कार करने पर उतारू हुआ॥ १०८॥

खड्गसंघट्टनोद्भ्रांतस्फुलिंगैः शरमंडपैः।

युद्धं व्योम्नि तयोश्चक्रे सतडिन्मेघविभ्रमम् ॥ १०९ ॥

बस ! फिर क्या था ! उन दोनों राजाओंकी आपसमें मुट भेद होगई एक दूसरे पर चमचमाती हुई तलवारोंसे और भनभनातेहुये बाणोंसे वार करने लगे जिससे कि आकाश में एक नवीनही युग उपस्थित होगया और वर्षते हुये मेघोंमें दमकती हुई विजलीकीसी शंका होनेलगी ॥ १०९ ॥

महिता वज्रवीरेण श्यामपत्राः शिलीमुखाः ।
नारविंदमुपासर्पन्नपि तेजोविकस्वरम् ॥ ११० ॥

वज्रवीरने यद्यपि इस युद्धमें सैकडों ही तीक्ष्ण तीक्ष्ण नोकीले बाण चलाये परन्तु वे कोईभी प्रतापी युद्ध कुशल अरविंदनरेशके पास तक न फटकने पाये ॥ ११० ॥

घनविक्रमसंनाहभंगान्मृदुरिवाभवत् ।
स दंडमरविंदस्य कर्कश सोढुमक्षमः ॥ १११ ॥
भयेन धावतो युद्धादव्यवस्थितदिक्तया ।
तस्याग्रे चारविंदस्य जयवार्ता जवाद् ययौ ॥ ११२ ॥

- इसके विपरीत अरविंद नरेशके फेंकेहुये बाण जो उसकी तरफ गये उनमें एकभी विफल न हुआ इसलिये उनसे घबड़ाकर वज्रवीरका साहस टूट गया और वह एकदम रण क्षेत्रको छोड भाग निकला परन्तु उसके गमनसे पहिलेही अरविंदनरेश की जयवार्ता सर्वत्र पहुंचगई ॥ १११-११२ ॥

राजा पश्चात् समाकर्ण्य कर्णैर्वघनिष्ठुरैः ।

रग्रहेण बुभुजे स पद्मनगराश्रियम् ॥ ११३ ॥

पतिरहितमेवं वज्रवीरं विजित्य

स्वपुरमभिजगामोद्दामलक्ष्मीसमेतः।

विकचकुमुदताराहारशुभ्रं यशः स्वं

दिशि दिशि सवधूकैर्गापयत्किंनरौघैः ॥ ११४ ॥

जब अरविंदने उसकी यह दशा देखी तो उन्होंने पद्म-पुर नगरको अपने अधिकार में करने की चेष्टा की और कर लेकर उसके भोगकरने की व्यवस्था बांध अपने नगर लौट आये जिससे कि प्रफुल्लित कमल, तारा और हार के समान शुक्ल निर्दोष उनका यश किन्नरियों के साथ किन-रोंसे गाया जाकर दशो दिशाओंमें एकसाथ फैलगया ॥ ११३–११४ ॥

वातोन्नर्तितकेतुयष्टिभुजया व्याहूयमानस्तया

तात्पर्यादिव विप्रयोगविधुरामासाद्य रम्यां पुरीं ।

कुर्वन् जैनमहप्रबंधविधिना लोकस्य भूरिश्रियं

राजा वारिधिमेखलां वसुमतीं दीर्घं ररक्षाज्ञया ॥ ११५ ॥

पवनके प्रबल वेगसे कंपित ध्वजारूपी भुजाओं द्वारा चिर कालके वियोगसे विधुर नगरीरूपी स्त्रीसे बुलायेगये महाराज अरविंद मनोहारिणी अपनी नगरीमें पहुंचकर जिन शास्त्रोक्त नाना प्रकारके उत्सव कराने लगे एवं समुद्रपर्यंत पृथ्वी

का अपनी आज्ञासे एकछत्र भोग करते हुये सुखसे रहने लगे।

इसप्रकार श्रीवादिराजसूरि विरचित श्रीपार्श्वनाथचरित के भाषानुवादमें अरविंद महाराजके संग्राम विजयको सूचित करनेवाला पहिला सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग।

अथैकनाथं वसुधांगनायाः पुरस्य वृत्तांतविशेषवेदी ।
निवेदितात्मा सचिवद्वितीयं चरो नराधीश्वरमाससाद ॥ १ ॥
स नूपुरश्चुंबितमस्तकेन प्रणम्य भूमावुपविश्य वाग्मी ।
प्रभोर्नियोगात् स्वनियोगमेवं प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमेण ॥ २ ॥

एकदिन समुद्र रूपी मेखलाके धारण करनेवाली पृथ्वीके अद्वितीय पतिस्वरूप महाराज अरविंद अपने प्रेमपात्र सच्चे हितैषी मंत्री मरुभूतिकेसाथ एकांतमें बैठे थे कि इतनेमें ही पहिले अपने आनेकी सूचना कर एक नगरका समस्त वृत्तांत जाननेवाला वचनकुशल गुप्तचर आया और पृथ्वीतल पर मस्तक टेककर नमस्कारपूर्वक महाराजकी आज्ञानुसार अपने नियोगको पूरा करता हुआ इसप्रकार निवेदन करने लगा ॥ १-२ ॥

किमेभिरन्यैः [illegible] नृप ! [illegible] ।

यशस्तवाक्रामति तेन सर्वा दिशो निशानाथमरीचिशुभ्रम् ॥३

यशो विशुद्धं नृप ! तावकीनं कलंकितं तत् कमठेन मन्ये ।
वियोगिकांतामुखरंजनेन प्रावृड्घनेनेव हिमाद्रिकूटम् ॥ ४॥

महाराज ! आपकी आज्ञा सर्वदा अप्रतिहत--अनिवार्य-रूपसे सबके ऊपर चलती है उसका भारीसे भारी पृथ्वीके नरेशभी उल्लंघन नहीं करसक्ते--उसके सामने सब लोगोंको अपना शिर नमाना ही पडता है इसलिये आपका चंद्र किरण के समान शुभ्र--निर्दोष यश दशो दिशाओं में अनिवार्य रूपसे विचरता फिरता है। परन्तु हे समस्तधरा के एकछत्र स्वामिन् ! जिस प्रकार हिमालय पर्वतके शुभ्र शिखर वर्षा ऋतुके कृष्ण मेघ द्वारा अपनी कृष्णतासे कृष्णकर दिये जाते हैं उसी प्रकार पतिवियुक्त स्त्रियोंके मुखरंजन--व्यभिचारके पोषणसे उपार्जित कलंकसे कलंकित करदिया ऐसा मैं समझताहूं जिसका कि विशेष वर्णन इसप्रकार है ॥ ३--४ ॥

त्वयि प्रयाते नृप ! वज्रवीरं जेतुं स गोप्ता किल पौदनस्य।
स्वेच्छाविहारी मरुभूतिकांतां वसुंधरामैक्षत पंकजाक्षीम् ॥५॥

भ्रूवल्लरीकार्मुकयष्टिभाजा कर्णांतकृष्टेन निकृष्टचेताः ।
तन्नेत्रबाणेन निसर्गलौल्यादविध्यतासौ हृदि मन्मथेन ॥ ६ ॥

अखंडकार्कश्यगुणोपपन्नौ तस्याः कुचौ निर्जितकुंभिकुंभौ ।
तयोः सवेगाल्लुठनादिवाभूदनेकभंगं खलु तस्य चित्तम् ॥ ७ ॥

महाराज ! जिस समय आपकी सवारी विद्रोही वज्रवीरको अपने वशमें करनेकेलिये गई थी तो उस समय आप अपने मंत्री के वडे भाई कमठको बडा जान पौदनपुर का समस्त शासन उसके हाथ सौंप गये थे यह वात तो आप को विदित ही है उसके वाद इतने विशाल नगरका अपने को एकाधिकारी पा वह कमठ इतना मदोन्मत्त हो गया कि उसे अपनी मानमर्यादाका कुछ भी ख्याल न रहा और सर्वत्र गम्य अगम्य जगहों में अपनी इच्छासे वे रोक टोक जाने आने लगा। एक दिन आपके मंत्री मरुभूतिकी वसुंधरा नाम की कोमलांगी कमलमुखी स्त्री पर दृष्टि पडगई और उसे वह जी जानसे चाहनेलगा। निकृष्टचित्त वह उस वसुंधराके भ्रूलतारूपी धनुषकी यष्टिको भजनेवाले कर्णपर्यंत लंबे तीक्ष्ण-नेत्र रूपी वाणके द्वारा कामरूपी योद्धासे स्वाभाविक चपलताके कारण हृदयमें इसतरह घायल कियागया कि अखंड कर्कशता गुणको भजनेवाले- महाकठोर हस्तिके कुंभस्थल को जीतनेवाले--स्थूल उस वसुधरा के स्तनरूपी पर्वत पर अचानकही उसका चित्त गिर गया और उससे उसके खील खील उडगये। उसके मन की शांति और सभ्यता एकदम किनारा करगई ॥ ५—७ ॥

न्यधत्त चित्ते मुखचंद्रबिंबं तस्याः स कामानलतीव्रतापे ।
शमाय पापेन तथापि तस्य स्मराग्निरुद्दामविवृद्धिरासीत् ॥ ८ ॥

कामाग्निकी तीव्र ताप से संतप्त अपने चित्तमें उसने

यद्यपि वसुंधराके मुखरूपी शीतल चंद्रबिंबको रक्खा परन्तु वह उस पापी कमठके पापकी प्रबलतासे शांति--शीतलताके बदले संतापकी वृद्धिकाही कारण हुआ ॥ ८ ॥

स्मृतिप्रबंधेन वसुंधराया बिंबाधरं चेतसि संदधानः ।
स तप्तनिर्मुक्तशराग्रभागममंस्त भग्नं मकरध्वजस्य ॥ ९ ॥

वार वार स्मरण करने से उसके चित्तमें रक्खा हुआ उस वसुंधराका बिंबाधर कामद्वारा पूर्वमें छोडे गये तीक्ष्ण वाणके टूटे हुये टुकडेके समान बुरी तरह चुभने लगा अर्थात् जिस प्रकार हृदय–छातीमें प्रविष्ट हुये बाणका टूटा हुआ टुकडा महती पीडा करता है उसी प्रकार उसके हृदयमें उसका वह बिंबाधर पीडा करने लगा ॥ ९ ॥

मनोरमावर्तिनि नाभिकूपे निपातितं तेन मनस्तदीये ।
पुनर्न कर्मण्युदतिष्ठत स्वे गभीरपातालमिव प्रविष्टम् ॥ १० ॥

जिस प्रकार पातालमें प्रविष्ट हुआ पदार्थ फिर वापिस नहीं आता उसी प्रकार उस वसुंधराके मनोहर सावर्त नाभिरूप कुएमें प्रविष्ट हुआ उसका मत्त मन फिर वापिस नहीं आया--हिताहित विचारने में वह विलकुल असमर्थ हो गया ॥ १० ॥

निषेधनायेव पुनः प्रवृद्धेः कांचीगुणेनाभिनिबध्यमानः ।
सविस्तरस्तन्मनसाऽणुनाऽपि व्याप्तो मृगाक्ष्या युगपन्नितंबः ॥

आगे बढनेका निषेध करनेके लिये ही मानो चारो तरफ

बंधे हुये कांची दामसे वेष्टित उसका स्थूल और विस्तृत नितंब उस कमठ के अणु--सूक्ष्म भी मन द्वारा शीघ्र ही व्याप्त कर लिया गया ॥ ११ ॥

धृत्वा लतांगीं करपल्लवे तामसक्तमाक्रुष्टुमिवानिवृत्तम्।
निरुद्धपंचेंद्रियवृत्तिचित्तं तं मृत्यवेऽयच्छदिव क्षणेन ॥१२॥

कर पल्लवमें पकडकर उस लतांगी (वसुंधरा) को अपने स्वामी की तरफ खींचनेमें असमर्थ अतएव उसके पाससे नहीं लौटे हुए उस कमठ के मनने समस्त इन्द्रिय व्यापारको रोकदिया और उसकी क्षण भरमें मृत्यु सरीखी अवस्था कर दी ॥ १२ ॥

पूर्वापरालोचनकर्मशून्या तथागतस्येव मतिस्तदीया।
बृहत्समारोपतया कृशांग्याः कृशेऽवलग्ने सुतरामसाक्षीत् ॥

पूर्वापर विचार करनेमें बिलकुल असमर्थ उसकी नीच बुद्धि जिस प्रकार पूर्व पर एक पदार्थ की अवस्था न मान सर्वदा क्षण क्षणमें पृथक पदार्थको स्वीकार करनेवाली बौद्ध की बुद्धि सूक्ष्म संबद्ध पदार्थमें लगती है उसी प्रकार उस कृशांगी के कृश कटिप्रदेशमें जा लगी-उसीके विचारमें तन्मय होगई ॥ १३ ॥

स विह्वलः सन्मदनानलेन किमप्यकृत्वा जनतासमक्षं।
नृवीर! विश्वास्यजनेन सार्धं न्यविक्षतोद्यानमशेषितारमा॥
अतिप्रवृद्धेन मनोभवाग्नेस्तप्तोष्मणा दुर्विषहेन राजन्!

अनीशतापावकतां तदंगे पुनः पुनश्चंदनपंकलेपः ॥ १५ ॥

इसप्रकार कामकी तीव्र व्यथासे व्यथित उस दुश्चरित्रने समस्त लोगोंके सामने तो अपना कुछभी बुरा भला खोटा खरा अभिप्राय प्रगट न किया। परंतु हे मनुष्यश्रेष्ठ! वह दुर-भिप्रायी अपने मनमें कुछ गूढ अभिसंधिकर अपने विश्वस-नीय कलहंस नामक एक हितैषी मित्र के साथ किसी उद्या-नमें चला गया और वहां असह्य कामाग्निके तापसे संतप्त होते हुये अपने अंगमें वार वार चंदनका लेप करने लगा परंतु उससे उसे कुछ भी शांति न मिली वल्कि उसके विप-रीत शरीरमें तीव्र ज्वाला ही धधक निकली ॥ १४-१५ ॥

स्थितोऽपि तस्यामशनैरशोकप्रवालशय्यां स विवृद्धतापः ।
ज्वालामिवावुद्ध दवानलस्य सरातुरस्यास्ति कुतो विवेकः ॥

अशोकवृक्षके लाल लाल कोमल पल्लवोंकी शय्यामें कामाग्निकी शांतिकेलिये शयन करता हुआ वह उस श-य्याको दावानलकी बलती हुई लाल लाल ज्वाला समझने लगा उससे उसे वनवन्हिके समान संताप हुआ सो ठीक ही है जो लोग कामातुर होते हैं उन्हे सच्चे झूंठेका कुछ भी विचार नहीं होता ॥ १६ ॥

स चंदनांभःकणसेकशीतैरावीजितः सन्कदलीद्रुमाणां ।
मुहूर्तमापांडुरगर्भपत्रैर्विषानलस्पृष्ट इवाशुमूर्च्छे ॥ १७ ॥

चंदन मिश्रित जलके सेक से शीतल कदली वृक्षोंके

पत्रों से उष्णता घटाने के लिये वार वार हवा किया गया वह विषाग्निसे छुए गयेके समान क्षण भर के लिये मूर्छित सरीखा हो गया ॥ १७ ॥

मुहुः समुत्थेंदुकलाविशुद्धां वहन्मृणालीमुरसि स्मरार्तः ।
असून् स्वकीयानदतस्तदानीं दंष्ट्रामिवातर्कयदंतकस्य ॥ १८ ॥

पूर्णमासीके पूर्ण चंद्र मंडलकी कलाओंके समान शुभ्र और कोमल छाती पर रक्खे गये शीतल कमलिनीके पत्रोंको वह कामकी व्यथासे व्यथित होनेके कारण हृदयमें घुसकर प्राणोंको खाते हुये तीक्ष्ण यमराज के भयंकर दाढ समझने-लगा-उनसे उसे वडी भारी पीडा होने लगी ॥ १८ ॥

आंदोलितोपांतसरस्तरंगो विनर्तकश्चंदनवल्लरीणां ।
विदाहकारी श्वसनोऽपि तस्य को वा प्रियो धर्मपथच्युतस्य ॥

समीपके तालाबों की तरंगों को उत्पन्न करनेवाला, चन्द-नवृक्षों की लताओं का नर्तक शीतल मंद सुगंधित भी पवन उसके शरीरको शत्रु बन भयंकर दाह देने लगा सो ठीक-ही है धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषों का कौन मित्र होसक्ता है १९

सुगंधिनीलोत्पलतल्पशायी मुहुर्द्विरेफैरुपरि भ्रमद्भिः ।
धूमायमानस्स इवाभवत् प्रागभिज्वलिष्यन् झषकेतनेन ॥२०॥

उस कमठके सोने की शय्या सुगंधित और कोमल नील कमलों की बनाई गई थी इसलिये उसकी सुगंधिसे ऊपर काले काले भौंर उडरहे थे सो उनसे ऐसा जान पडता था

मानो कामाग्निसे भविष्यत्में जल कर भस्म हो जाने वाले कमठका यह काला काला धूआंही उडरहा है ॥ २० ॥

आसादिताः पल्लवरागभंगं तच्छ्वासतापेन तदीयदुःखं ।
सामीप्ययोगादिव बालचूताः स्वयं विभागागतमन्वभूवन् ॥

तीव्र संतापको शीघ्रही दूर करनेकेलिये उसके समीपमें जो नवीन नवीन आम्रकी कोंपल (पल्लव) रक्खी गई थीं वे उसकी गरम गरम श्वांससे मुरझा कर फीकी पडजानेके कारण पासमें रहनेसे अपने विभागमें आये हुये उसके दुःखं का ही अनुभव कररहीं हों ऐसा जतलाती थीं ॥ २१ ॥

व्यापारयन् दिक्षु दृशौ स कामतीव्राभिषंगेण यथा वितर्कं ।
पुरो निषण्णामिव तामपश्यत् कामो हि कामं भ्रममातनोति२२

उस कमठकी वह वसुंधरा संबंधिनी दुराशा कामके वश इतनी बढी चढी होगई थी कि दिशा विदिशाओंमें सर्वत्र ही अपनी कल्पनाके अनुसार उसेही उसे सामने बैठी हुई देखता था। सो ठीक ही है काम एक ऐसा प्रबल पदार्थ है कि वह बुद्धि-को भ्रमा देता है ॥ २२ ॥

कृतोपरोधं कलहंसकेन पृष्टस्स तस्मै हृदयोपमाय ।
निमित्तमाख्यन्नयनाभिकातामभात्यकानां मदनज्वरस्य ॥ २३ ॥

इस प्रकार नाना उपचारोंसे उपचरित होने परभी जब कमठका तीव्र संताप कुछभी शांत न हुआ बालक उत्तरोत्तर

बढ़ता ही चलागया तो उसके सच्चे मित्र कलहंसको गहरी चिन्ता होगई वह उस संतापका सच्चा कारण जाननेका उद्योग करने लगा। अंतमें बहुत कुछ पूछापांछी और मिन्नत करनेके बाद उसे उसकमठके द्वाराही इस बातका पतालगा कि आपके मंत्री मरुभूतिकी रूपवती स्त्री ही उसके उस संतापकी कारण है ॥ २३ ॥

स सत्वरं तामुपसृत्य तन्वीमवोचदित्थं कलहंसनामा।
प्रियाग्रजस्ते सुदति! ज्वरार्तो न बुध्यते स्वं च समीपमन्यं॥२४
प्रतिक्रिया च क्रमते न तस्मिन् विकल्पिता कर्मविशेषविद्भिः।
स संकटप्राणदशावलंबी त्वां द्रष्टुमन्विच्छति सानुरागः॥ २५॥

कलहंस बडाही चतुर और चालाक था उसने अपने मनमें विचारा कि यदि मैं वसुंधराको योंही सीधा साधा स्पष्ट वृत्तांत जाकर कहे देताहूं तबतो वह कभी भी न आयेगी और उसके अभावमें मेरे मित्रके प्राण चले जायेंगे। और कुछ बनावटी वात, कहदेनेसे तो वह शीघ्रही आजायगी जिससे कि संपूर्ण नहीं कुछ न कुछ तो मेरे मित्रका संताप अवश्य ही दूर होजायगा। इसलिये वह दुष्ट उस भोली भाली अबलाके पास जाकर पहुंचा और कहने लगा "कि हे देवी! आपके स्वामी मंत्रिमहोदय मरुभूतिके बडे भाई तुम्हारे ज्येष्ठ कमठ आज बहुतही ज्वर पीडित होगये हैं--उन्हें ज्वरने आज इसतरह दवाया है कि वे समीपस्थ और दूरवर्ती

किसीभी अपने और पराये पुरुषको नहीं पहचान पाते हैं उनकी यह भयंकर दशा देख हमने बहुतसे वैद्योंका इलाज कराया है परन्तु उनकी औषधिसे किसीभी प्रकारका कैसा भी उन्हें आराम नहीं पहुंचा है इसलिये वे अपने जीवनकी एक प्रकार विलकुल ही आशा छोड बैठे हैं और अब अंत-समय में वे आपको देखना चाहते हैं।" ॥२५॥

निशम्य वाचं कलहंसकस्य यानं समारुह्य सखीसमेता।
अयादनालोचनया नतभ्रूः तस्यांतिकं केतुनिपीडितस्य ॥ २६ ॥
कृतोपचारा विनयेन तन्वी ततस्तदाकारविशेषदृष्ट्या।
अबुद्ध तस्यांगमनंगदग्धं स्त्रियो हि तस्मिन् विषये विदग्धाः ॥ २७
अवोचदेवं तमजानतीव ज्वरस्य ते किं तु निमित्तमस्य।
कियंति वा संति दिनानि वैद्याः प्रतिक्रियां कीदृशमादिशंति ॥ २८

धूर्त कलहंसकी इसप्रकार वनावटी और चिकनी चुपरी वातोंको सुनकर वसुंधराको पूरा पूरा विश्वास हो गया। उसने उसकी समस्त वातोंको सच्ची समझकर शीघ्र ही पालकी मंगवाई और उसमें अपनी सखीके साथ सवार हो कामपीडित कमठ के पास चलदी कमठके पास पहुंच कर उसने उसकी जब वैसी दशा देखी तो स्त्रियोंकी प्रकृतिके अनुसार उसे उसके आकार प्रकारोंसे सच्चे वृत्तांतका ज्ञान हो गया उसने उसकी चेष्टाओंसे जान लिया कि मुझे धोखा दिया गया है। वास्तवमें यह कमठ शारीरिक ज्वर पीडित न

हो कर मानसिक कामज्वरं पीडित है इसलिये उसने अपने अज्ञात भोलापनके साथ उस कमठसे पूछा ॥ २६-२७ ॥

कहिये ! आपको कितने दिनसे यह दुष्ट ज्वर आता है इसका क्या कारण और प्रतीकार वैद्योंने बतलाया है २८ ॥

स उच्छ्वसन् किंचिदकुंचिदागा आकर्ण्य वाचं मृगलोचनायाः ।
ह्रिया ह्रियेव प्रविमुच्यमानो भ्रातृप्रियां कष्टमवोचादृष्टिम् ॥ २९

वसुंधराका यह प्रश्न सुन पहिले तो कमठने एक लंबी स्वास ली और फिर लज्जासे कुछ संकुचित हो कष्ट पूर्वक अपने छोटे भाईकी स्त्रीसे इस प्रकार कहा ॥ २९ ॥

मनोभवस्तन्वि निमित्तमस्य द्वित्राण्यहानि ज्वरविभ्रमस्य ।
चिकित्सितं चेह ममांतरात्मा शंकायुतस्तत् सुलभं न वेत्ति ॥ ३०

'प्यारी ! तुम्हारा पूंछना ठीक है। मेरे इसज्वर का कारण काम है और इसने मुझे आज दोतीन दिनसे दबा रक्खा है परन्तु इसका प्रतिकार होना कष्टसाध्य है मेरी अतंरात्मा इसबात की साक्षी नहीं देती कि उसका पूरा पूरा प्रतीकार होसकेगा इसलिये मेरे प्राण संदिग्धावस्थामें पडे हुये हैं ॥ ३० ॥

भेतव्यमादौ परलोकभंगादबंध्यकोपश्च जने मनोजः ।
तेनोभयास्तस्पृगियं मतिर्मे प्रियाधिरूढेव विभार्ति लौल्यम् ॥ ३१

मेरी बुद्धि इससमय एक साथ दो कोटिका आश्रय

कर रही है कभी तो वह परलोकके विगडने के भयसे घबडा कर यथार्थ मार्गपर आ लगती है और कभी काम की तीव्र मारसे विचलित हो अपने हृदयस्थ व्यक्तिके पास पहुंच जाती है परन्तु उन दोनोमें अंतिम कोटिका ही अधिक आश्रय करती है और उसीकेलिये बार २ बार तडफ रही है ॥ ३१ ॥

मृगी मृगेणेव वनं जनानां लज्जाभिमानेन मनोऽधिशेते।
तावत् समाक्रामति तीव्रपाती यावन्न शार्दूल इवांगजन्मा ॥३२॥

जंगल में जिस प्रकार हरिण हरिणी का जभी तक आश्रय कर सकता है जब तक कि उसके ऊपर प्राण नाशक भयकारी सिंहका आक्रमण नहीं होता उसीप्रकार इस-संसार में यह जीव लज्जा और अभिमान का तभीतक आश्रय करसक्ता है जबतक कि इसके ऊपर तीव्र संताप प्रदान करने वाले कामदेव का प्रहार नहीं होता और उसके आ-क्रमण करनेपर तो मनुष्यके वे लज्जा और अभिमान दूर भागजाते हैं ॥ ३२ ॥

धुनोति नूनं जनने द्वितीये धर्मस्तदाज्ञामतिलंघयंतं।
मृगेक्षणे! न क्षमते मनोभूः क्षणेऽपि भंगं निजशासनस्य ॥ ३३ ॥

धर्म की आज्ञा भंगकरने पर—पापाचारी होनेसे तो भंगहुआ धर्म दूसरे जन्ममें दुःख देता है वह कोई जबरदस्ती नहीं करता कि-तुम हमको करोही करो। हां अपना आश्रय न करने वाले को दूसरे जन्ममें दुःख देता है परंतु

कामदेवकी आज्ञाका उल्लंघन करना बडे ही साहसका काम है यह जबरदस्ती अपनी आज्ञा का लोगोंसे पालन कराता है और उसका पालन न करनेवाले को दूसरे जन्मकी तो क्या बात इसीजन्म में और उसी क्षण में महान दुःख देता है वह अपनी आज्ञा का भंग एक क्षणकेलिये भी नहीं सहन करसक्ता ॥ ३३ ॥

अकारणोद्वेगकरो नराणां त्वया स सौहार्दमिव प्रपन्नः।
उदासिता तन्वि! तवांतिकस्थं यत् सांप्रतं मां प्रति पुष्पधन्वा ॥३४॥

इस प्रकार विनाही कारण के उद्वेग उत्पन्न कराने वाला दुष्ट प्रबल काम, प्रिये!, तुम्हारे साथ मित्र सरीखा वर्त्ताव करने के लिये तयार हुआ है जोकि तुम्हारे पासमें होने मात्र से ही मुझे अबतक महादुःख देने वाला वह अब एकदम उदास होगया है। भावार्थ–मुझे उसने तुम्हारे पासमें यह सोच कर ही मानो 'अपने मित्रके मित्रको दुःख देना बुरा है' आने मात्र से दुःखदेता बंद करदिया है ॥ ३४॥

भावोद्गतं भावगभीरमित्थं निवेद्य तस्मिन् विरते नतभ्रूः।
अभाषतैवं भयकोपमिश्रं रसांतरं किंचिदिव प्रपन्ना ॥ ३५ ॥

इसप्रकार अपने गंभीर अभिप्रायको निवेदन कर जब कमठ चुप होगया तो भय और क्रोधसे मिश्रित एक भिन्न ही प्रकारके रसका आश्रय करती हुई वसुंधरा इसप्रकार कहने लगी ॥ ३५ ॥

गुणैर्गुणी योजयिता जनस्य दोषानदोषी च निराकरिष्णुः।
यदि त्वमुन्मार्गमुपाजिहीथाश्चिरंतनो नश्यति हंत पंथाः ॥ २६ ॥

हे सदसद्विवेकी सत्पुरुष! गुणी पुरुषोंको गुणोंसे संयुक्त करनेवाले और दोषियोंके दोषोंको जड मूलसे उखाड डालनेवाले ही यदि आप उन्मार्ग–पापसे दूषित पथका आश्रय करेंगे–उसमें अपने मनको लगायेंगे तो खेद है कि हाय! चिर कालसे चला आया प्राचीन निर्दोष मार्ग भ्रष्ट हो जायगा ॥ २६ ॥

विवेकवीतं विरसक्रियांतं संकल्परम्यं चरितं स्मरस्य।
न तेन कुर्वंति यशो मलिष्ठं लोकद्वयश्लाघ्यगुणं गुणाढ्याः ॥ २७ ॥

यह बात आपको विदित ही है कि कामके कार्य विवेक रहित होते हैं, उनके सेवन करनेसे अंतमें अवश्य ही दुःख उठाना पडता है, और वे संकल्प भी पहिले अपने मनकी तर्कणासे ही रम्य-मनोहर मालूम होते हैं विचार करनेसे एक दम विरस दुःखदायी दीखने लगते हैं। इसलिये जो गुणोंसे मंडित हैं–अपनेको गुणी बनाना चाहते हैं वे कभी भी दुखदायी पश्चात् तापकारक कामके फंदमें पडकर अपना चिर कालसे परिश्रम पूर्वक कमाया गया इस लोक परलोक दोनोंमें प्रशंसाका दायक शुभ्र यश मलिन नहीं करते ॥ २७ ॥

मनःप्रसंगोऽपि परांगनायां क्षिणोति पुण्यं प्रथमं जनस्य।
स पुण्यरिक्तस्तनुवाक्प्रसंगं कृत्वापि सौख्यं लभते किमाख्यं ॥ २८ ॥

पर स्त्रीके सेवन करनेकी वांछा होनेसे ही जब पूर्व उपार्जित पुण्य नष्ट हो जाता है लोग पापी हो जाते हैं तब उसके वचन और काय द्वारा सेवन करनेसे उन्हे कौनसा सुख मिल सक्ता है? ॥ ३८ ॥

गुणानुलेपात् सुभंगभविष्णोर्लक्ष्मीर्वशे तिष्ठति मानवस्य।
सैषा परस्त्रीषु कृताभिलाषमीर्ष्यावतीवोज्झति निर्विषंगा ॥ ३९ ॥

जो लोग गुणी होते हैं और गुणोमें प्रेम करनेवाले होते हैं उनके वशमें लक्ष्मी सर्वदा रहती है-वह उन्हें छोड कहीं भी नहीं जाती परन्तु जो लोग गुणोंमें द्वेष करनेवाले होते हैं परस्त्रीके सेवन की वांछा कर अपने गुणोंमें धब्बा लगा बैठते हैं उन्हें वह लक्ष्मी शीघ्रही ईर्षावती स्त्रीके समान छोडकर चली जाती है वे निर्धनक-दरिद्र हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

हितं यदीच्छेरिदमीदृशं मे पुनर्वचो मा चकथः कथंचित्।
इति स्फुटोक्तिं प्रतिषिद्धय तन्वीं विभक्तमेवं कमठोऽभ्यधत्त ॥ ४० ॥

इसलिये यदि आप अपनी आत्माका हित चाहते हैं वास्तविक सुखी होने की आपके इच्छा है तो मेरे वचनोंको हृदयमें स्थानदान दीजिये और अपनी प्रबल दुरिच्छाको दूर हटा फिर वैसी बात कहनेका प्रयत्न न कीजिये इसप्रकार वसुंधरा उपदेशके वचनोंको कह कर उस कमठके समझानेकी कोशिश कर ही रही थी कि उसको बीचमें ही रोककर कमठ बोला ॥ ४० ॥

विशृंखलो रागगजो ममायमुपेयिवांस्तन्वि ! नितंबशैलं।
न शिक्षया ते विनिवर्ततेऽसौ रसानभिज्ञोऽधरपल्लवस्य ॥ ४१ ॥

'प्रिये ! बस तुम्हारा उपदेश बहुत हो चुका अब उसके अधिक कहनेकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। मेरा उच्छृंखल मनोराग रूपी मत्त हाथी तुम्हारे नितंब रूपी पर्वतपर पहुंच चुका है अब वह किसी प्रकार भी तुम्हारे उपदेशरूपी अंकुशके बलसे अधर पल्लवका स्वाद लिये विना वापिस नहीं आसक्ता ॥ ४१ ॥

वपुर्मनोज्ञं नवयौवनाढ्यं कला च शिक्षा विपुला च लक्ष्मीः।
अचूषतः सर्वमिदं निरर्थं मनोरमाणामधरोष्ठबिंबम् ॥ ४२ ॥

जो लोग मनोहर हृष्ट पुष्ट शरीरके धारक हैं, नवीन यौवनसे भूषित कला, शिक्षा और विपुल लक्ष्मीके मालिक हैं परंतु मनोहारिणी स्त्रियोंके अधर पल्लवके रससे अनभिज्ञ हैं तो उनके वे सुंदर शरीर आदि समस्त पदार्थ व्यर्थ हैं उनसे उनके कोई लाभ नहीं, यदि वे उनके न होते तो ही अच्छा होता ॥ ४२ ॥

किंचापरं कांचनमेखले ! त्वां न भोगमीप्सन्नुपशांत्वयामि।
स्मरस्तु मां तन्वि निहंत्यकांडे निवार्यतामेष खलस्त्वयेति ॥ ४३ ॥

'इसलिये हे तन्वि ! अब मैं इससे अधिक कुछ नहीं कह सक्ता कि मेरा मन और शरीर जब तक कि तुम्हारे साथ संभोग न कर लेगा—अपने अभीष्टकी पूर्ति न करेगा

तब तक शांत नहीं हो सक्ता-वह किसी प्रकार भी सुखका अनुभव नहीं कर सक्ता इसलिये हे प्यारी ! मेरी तुमसे यही प्रार्थना है कि इस दुष्ट काम के प्रहारसे मेरे असमय में ही जो प्राण पखेरू उडे जा रहे हैं तुम उनको किसी प्रकार बचाओ। काम तुम्हारा मित्र है इसलिये उसे ऐसा करनेसे रोको ॥ ४३ ॥

इति प्रयुक्तानुनयस्य तस्य प्रियासु संख्यामगमन्मृगाक्षी।
स्वभाववश्यं मकरध्वजस्य स्त्रीणां मनः किंतु कृतोपजापम् ॥४४॥

बस ! कमठका इतना कहना ही था-वह प्रार्थना कर ही रहा था कि वह वसुंधरा उस दुष्टके फंदेमें पड गई उसकी चिकनी चुपरी बातोंमें आकर अपने श्रद्धान-सतीत्वसे डिग गई और उस की प्रियाओंमें गिनी जाने की पात्र हो गई। सो सच है स्त्रियों का मन तो स्वभावसे ही कामके अधीन होता है-उसकी उस कामके साथ मित्रता होती है और उसके ऋजु करने पर तो बात ही क्या है अवश्य ही उसके साथ और अपनी गाढ़ी मित्रता कर उसकी आज्ञामें चलने लगता है ॥ ४४ ॥

अपि स्वयं सिंहपराक्रमस्य पुंसोऽभिगुप्ता भुजपंजरेण।
न कामिनी कंपयति स्मराज्ञां लब्धावकाशा तु न किं करोति ॥४५॥

सिंहके समान पराक्रमी पुरुषके भुजारूपी पींजरेमें कड़ी रीतिसे जिकड़ी हुई भी-सब प्रकारके प्रबंधमें फंसी हुई भी

स्त्री जब कामकी आज्ञाका उल्लंघन नही करती अपने सती-त्वसे भ्रष्ट होनेकेलिये नही डरती तब अवकाश मिलने पर तो बात ही क्या है अवश्यही वह अपना पातिव्रत्य खो बैठती है ॥ ४५ ॥

रूपं कुलं यौवनमाभिजात्यं नतअवस्तन्न विचारयंति ।
काचिन्निकृष्टेऽपि रसान्निविष्टाः कंदर्पदेवं परितर्पयंति ॥ ४६ ॥
उद्यत्प्रभावस्य रवेर्दिनादौ करावरुद्धापि नवाऽऽतपश्रीः ।
सरागमाश्लिष्यति सानुरागा पद्मं न हि स्त्रीप्रकृतिर्गुणज्ञा ॥ ४७ ॥

नवीन यौवनके मदसे मत्त स्त्रियां अपने सौंदर्यकी तरफ ख्याल नहीं करतीं, अपने कुलकी मान मर्यादा का ध्यान नहीं रखती, और अपने यौवन तथा आभिजात्य [उच्चपन] के नाशसे भी नहीं डरतीं। वे कामकी आज्ञा पालनेमें इतनी तत्परता दिखलाती हैं कि नीच से नीच, और कुरूपसे कुरूप भी मनुष्यको सेवनेमें किसी प्रकारकी आना कानी नहीं करतीं। स्त्रियोंकी प्रकृति महा नीच होती है उसे गुण अवगुणका कुछ भी ख्याल नहीं होता—वह यह नहीं सोचती कि मुझे गुणीका ही आश्रय करना चाहिये अगुणी—दोषी का नहीं। देखिये! दिनके प्रारंभमें प्रभावशाली सूरजकी कर—किरणोंसे रोकी हुई भी नवीन आतपश्री अनुरागवती हो कर दीन प्रभावहीन कमलका आश्रय कर लेती है ४६-४७

स्थिरं प्रकृत्या फलदं समूलं छायोपपन्नं समुपाश्रयंति ।
द्रुमं लता पुष्पवती तु काले स्वैरोपभोगं मधुपाय दत्ते ॥ ४८ ॥

और भी-इसके सिवाय दूसरा दृष्टांत यह भी है कि लता, स्वभावसे ही स्थितिशील, फलको देनेवाले, छायासे युक्त मूल सहित वृक्षका शुरू से ही आश्रय् करती रहती है परन्तु समय आनेपर-पुष्प सहित होनेसे वह अपना भोग मधुप--भ्रमरोंको दे देती है इसी तरह स्त्रियां भी स्थिर-विवाहित होनेसे सर्वकाल रहनेवाले फलद-भोजन आच्छादन से पुष्टिदायक, छायोपपन्न-रक्षा करनेवाले, पुरुषका बहुत दिनोंसे तो आश्रय करती आती है परंतु पुष्पवती-रजस्वला होने पर अपना भोग-मद्यपायी या अन्य किसी पुरुष को दे बैठती है ॥ ४८ ॥

आस्तामयं स्त्रीप्रकृतिप्रवादो व्यावृत्तिहेतुर्विषयान् मुमुक्षोः ।
ब्रुवे परं तस्य दुराचरित्रं निशम्यतां देव ! तदप्यशेषम् ॥ ४९ ॥

अस्तु इसप्रकारसे निंदनीय, मुमुक्षु लोगोंको विषयोंसे विरक्त करानेमें हेतु स्वरूप स्त्रीप्रकृतिके वर्णन करने की यहां विशेष आवश्यक्ता नहीं। मैं इस समय उस दुश्चरित्र का वृत्तांत कह रहा हूं। कृपाकर उस सबके सुननेके लिये थोडी देर तक और भी अपनी कृपादृष्टि बनाये रहिये ॥ ४९ ॥

स यौवेनाप्माणमभीतचेतास्त्वदेकवाह्यं गणिकाजनस्य ।
वक्षस्थलेनोदजहाद् रहस्ये सलीढहारं कुचकुंभभारम् ॥ ५० ॥

वह दुश्चरित्र शठ कमठ विचारी वसुंधराका ही केवल सतीत्व नष्टकर तृप्त न हुआ बल्कि उसने अपनी विषय

वासनाओंको और भी अधिक तृप्त करनेकेलिये निर्भय होकर यौवन की उष्णता से उष्ण, हारसे मनोहर, कुच रूपी कुंभके भारसे भरित गणिकाओंके हृदयहारी वक्ष स्थलोंका एकांतमें खूब ही आलिंगन किया ॥ ५० ॥

स राजगेहाद् दिवसेषु निर्यन् मातंगमारुह्यत मार्गपीतात् ।
तवाप्यसंभाव्य नमन्मनुष्यानसह्यपीडानकरोद् दुरात्मा ॥ ५१ ॥

अपश्यदापूरितरंध्रभागं तवानुकुर्वन् नृप ! राजवीथौ ।
इभेंद्रयायी पुरसुंदरीणां नेत्रोत्पलैः सौधगवाक्षजालम् ॥ ५२ ॥

वह राजमंदिरसे विशाल हाथी पर चढकर निकलता था तो मार्गमें नमते हुये भी तुम्हारे पुरुषोंको वह दुरात्मा असह्य पीडा दिये विना नहीं मानता था। महाराज ! और भी आपकी नकल करनेवाला वह पापी जिस समय उन्नत गजेंद्रपर सवार हो कर गलियोंसे निकलता था तो उसके देखनेकेलिये आई हुई नगरकी सुंदर सुंदर स्त्रियोंके नेत्र कमलों से भरे हुये मोखुओं [गवाक्षों] को ही देखा करता था ॥ ५१-५२ ॥

इतीदृशं गर्हितमन्यदन्यत् नरेंद्र ! तस्यास्ति बहुप्रकारम् ।
अनिर्जितात्मा कुरुते हि नो यत् तत्सर्वमुर्व्यामथवा प्रदुष्टम् ॥ ५३ ॥

इसप्रकार और और भी निंदनीय दुश्चरित्रता को पुष्ट करनेवाली उस दुश्चरित्र नीच की सैकडों बातें हैं उन सबके कहने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि अपनी इंद्रियोंको वशमें न

रखनेवाला बल्कि उनहीके वशमें होजानेवाला पुरुष जो कुछभी निंदनीय कार्य कर पाडे वह सब थोडा है उससे जितने भी कार्य होते हैं वे सब पृथ्वी को कलंकित करनेवाले ही होते हैं।" ॥ ५३ ॥

इत्थं यथावत् प्रणिगद्य तस्मिन्निच्छाधिकप्राप्तनृपप्रसादे ।
चरे गते तं मरुभूतिरेवं प्रजार्यमार्यां गिरमाबभाषे ॥ ५४ ॥

इसप्रकार जब कमठसंबंधी समस्त वृत्तांत वह दूत कह चुका तो उसे इच्छासे भी अधिक राजाने पारितोषक दे विदा किया। मंत्री मरुभूतिको अपना बडा भाई बहुत प्यारा था और उससे भी अधिक उसे न्याय प्रिय था इसलिये उस दूतके चले जानेपर वह राजाको इसप्रकार कहकर समझाने लगा— ॥ ५४ ॥

असत्यवद्यं न वदंति दंडादसह्यदुःखादनुजीविनस्ते ।
संवाद्यतां देव ! तथापि वाक्यं चरस्य तज्ज्ञैर्दृढनिर्णयाय ॥ ५५ ॥
विचार्य कुर्वँल्लभतेऽनुरागं जनस्य लक्ष्मीः खलु तन्निमित्तात् ।
बुद्धौ विशुद्धिं च परां निधत्ते द्वाराणि पापस्य हि सा पिधत्ते ॥ ५६

महाराज ! आपके भृत्य यद्यपि दुःसह दंडके डरसे कभी भी आपके पास आकर झूठ वचन नहीं बोलते हैं तब भी एक आदमी की बात पर ही विश्वास करना उचित नहीं उस वृत्तांत को जाननेवाले अन्य अन्य पुरुषोंसे भी वही बात पूछना चाहिये और उससे जो निश्चय हो वह ही बात सत्य और निश्चित समझी जानेके योग्य है क्यों कि अच्छी तरह

पूर्वापर विचार करके जो काम किया जाता है उससे एक तो संपूर्ण लोग प्रसन्न होते हैं, और लोगों की प्रसन्नतासे लक्ष्मी आती है दूसरे वैसा करनेसे अपने मनमें भी विशुद्धि प्राप्त होती है और मनकी विशुद्धि-शुद्धता होनेसे पापके द्वार रुकते हैं-पाप कर्मोंका आत्मासे संबंध नहीं होता ॥ ५५-५६ ॥

अधिष्ठितस्सन्नपि संनिकृष्टे करोति चेदिंद्रियबंधुवर्गः ।
भ्रमं प्रवर्तुर्विषमाभिसंधिः किमंग ! भृत्यो विषये परोक्षे ॥ ५७ ॥

अतः स्वयं तस्य विविच्य दोषं यतस्व नीत्या नृप ! निगृहीतुं ।
जनस्य मन्युज्वलनावलीढा तवाऽन्यथा म्लायति कीर्तिवल्ली ॥५८

जब नेत्र श्रोत्र आदिक इंद्रियां संनिकृष्ट-समीपस्थ प्रत्यक्ष पदार्थों के जनाने में भी लोगोंको बडा भारी भ्रम करादेती हैं- कुछ का कुछ ज्ञान करादेती हैं तब परोक्ष पदार्थज्ञानके विषयमें तो उनकी प्रामाणिकता कैसे स्वीकार की जा सक्ती है-कमठ और वसुधराका अत्याचार एकांतका है संभव है दूतने किसी कमठके वैरीसे वैसी वात सुनकर कहदी हो अथवा वह ही देखने में भूलगया हो इसलिये मेरी आपसे सविनय प्रार्थना है कि स्वयं आप इस वातके जाननेकी कोशिश कीजिये और तब जो कुछ भी सत्य निकले उसीके अनुसार खूब सोचसमझकर दंड विधान कीजिये अन्यथा-विना विचारे दंड विधान करनेसे लोग आपके विरुद्ध होजायेगे और उनकी विरुद्धता रूपी अग्निकी प्रज्वलित ज्वालासे आपकी इतने

दिनोंकी वर्द्धित कीर्तिरूपी लता मुरझा जायगी-सर्वत्र निंदा ही निंदा फैलजायगी।" ॥ ५७-५८ ॥

तदेति राज्ञा जनतासमक्षं विचिन्वताऽज्ञायि तथा स कूर्मः।
वसुंधरासंवहनाद्यकृत्ये यथा व्यवर्तिष्ट वचो जनस्य ॥ ५९ ॥

जनस्ततो राजसमीपवर्ती खराधिरूढं कमठं नगर्याः।
निर्वासयामास सलोष्ठघातं सूर्यातपत्रं परिभूय पापम् ॥ ६० ॥

मंत्री मरुभूतिकी यह न्याय्य प्रार्थना महाराज अरविंदने स्वीकार करली और कमठके वृत्तांतकी खोज करना प्रारंभ करदी। कमठ वास्तव में वैसाही था उसने वसुंधराके साथ अवश्य अत्याचार किया था इसलिये लोगोंमें अच्छी तरह तलाश करनेपर भी वह बात सत्य ही निकली इसलिये राजा ने नीतिके अनुसार दोषानुकूल दंड दे गदहे पर चढ़ाकर ढेलों की मार पूर्वक नगरसे तिरस्कार कर निकलवा दिया ॥ ५९-६० ॥

असत्प्रवृत्तेरपि विप्रयोगस्तस्याधिकं बंधुजनप्रियस्य।
चकार दुःखं सचिवस्य दोषात् भनक्ति न प्रेम महानुभावः ॥ ६१ ॥

कमठ यद्यपि दुश्चरित्र अत्याचारी था और उसने अपने छोटे भाई (मरुभूति) की स्त्रीके ही साथ विशेष अत्याचार किया था परन्तु मरुभूतिको वह बड़ा ही प्यारा था इसलिये उसके वियोगसे उसे महान दुःख हुआ। सो सच है-जो महानुभाव-बड़े पुरुष होते हैं वे जिसपर प्रेम करते हैं उससे

दोष-अपराध बनजानेपर भी कभी द्वेष नहीं करते—उनसें अपना प्रेम नहीं हटा लेते ॥ ६१ ॥

चित्ते गते ज्येष्ठवियोगदुःखभाराक्षमत्वादिव विप्रमोषं ।
चिराय तस्य प्रतिसुप्रबुद्धेन भोगवांच्छां दधुरिंद्रियार्थाः ॥ ६२ ॥

अपने वडेभाईके वियोग के असह्य दुःख को न सहार सकनेके ही कारण मानो उस मरुभूतिका चित्त एकदम कुछ समयके लिये असक्त हिताहित विवेक शून्य हो गया उसे किसी प्रकार की भी सुधि बुधि न रही जिससे कि बहुत देरतक उसकी इंद्रियां क्रिया शून्य बनी रहीं और भोग वांछा उत्पन्न न हुई ॥ ६२ ॥

कुर्वन् प्रयत्नेन स पांथदर्शी वियोगदुखी कमठानुयोगं ।
अकथ्यतैवं वचनप्रसंगे देवेन नीतेन वनेचरेण ॥ ६३ ॥

इसके वाद भाईके वियोग जन्य दुःख से दुःखित मरुभूति बडे ही प्रयत्नसे कमठ के वृत्तांतको जाननेवाले पथिकों की खोज करने लगा और एक दिन भाग्यवश एक भील मरुभूतिके पास आया और उससे वात चीत करते हुये मरुभूतिने अपने स्वभावानुसार कमठका समाचार पूछा। भील कमठके समस्त वृत्तांतको जाननेवाला था इसलिये वह इसप्रकार उसका समाचार सुनाने लगा ॥ ६३ ॥

अमात्य ! जानामि तवाग्रजस्य वृत्तांतमुद्वृत्ततया गतस्य ।
यद्यस्ति ते कौतुकमत्र सर्वं सविस्तरं वच्मि तथाऽववेहि ॥ ६४॥

दिनोंकी वर्द्धित कीर्तिरूपी लता मुरझा जायगी-सर्वत्र निंदा ही निंदा फैलजायगी।" ॥ ५७-५८ ॥

तदेति राज्ञा जनतासमक्षं विचिन्वताऽज्ञायि तथा स कूर्मः ।
वसुंधरासंवहनाद्यकृत्ये यथा व्यवर्तिष्ट वचो जनस्य ॥ ५९ ॥

जनस्ततो राजसमीपवर्ती खराधिरूढं कमठं नगर्याः ।
निर्वासयामास सलोष्टघातं सूर्यातपत्रं परिभूय पापम् ॥ ६० ॥

मंत्री मरुभूतिकी यह न्याय्य प्रार्थना महाराज अरविंदने स्वीकार करली और कमठके वृत्तांतकी खोज करना प्रारंभ करदी। कमठ वास्तव में वैसाही था उसने वसुंधराके साथ अवश्य अत्याचार किया था इसलिये लोगोंमें अच्छी तरह तलाश करनेपर भी वह बात सत्य ही निकली इसलिये राजाने नीतिके अनुसार दोषानुकूल दंड दे गदहे पर चढाकर ढेलोंकी मार पूर्वक नगरसे तिरस्कार कर निकलवा दिया ॥ ५९-६० ॥

असत्प्रवृत्तेरपि विप्रयोगस्तस्याधिकं बंधुजनप्रियस्य ।
चकार दुःखं सचिवस्य दोषात् भनक्ति न प्रेम महानुभावः ॥६१॥

कमठ यद्यपि दुश्चरित्र अत्याचारी था और उसने अपने छोटे भाई (मरुभूति) की स्त्रीके ही साथ विशेष अत्याचार किया था परन्तु मरुभूतिको वह बडा ही प्यारा था इसलिये उसके वियोगसे उसे महान दुःख हुआ। सो सच है—जो महानुभाव—बडे पुरुष होते हैं वे जिसपर प्रेम करते हैं उससे

दोष-अपराध बनजानेपर भी कभी द्वेष नहीं करते—उनसे अपना प्रेम नहीं हटा लेते ॥ ६१ ॥

चित्ते गते ज्येष्ठवियोगदुःखभाराक्षमत्वादिव विप्रमोषं ।
चिराय तस्य प्रतिसुप्तबुद्धेन भोगवांच्छां दधुरिंद्रियार्थाः ॥ ६२ ॥

अपने बडेभाईके वियोग के असह्य दुःख को न सहार सकनेके ही कारण मानो उस मरुभूतिका चित्त एकदम कुछ समयके लिये असक्त हिताहित विवेक शून्य हो गया उसे किसी प्रकार की भी सुधि बुधि न रही जिससे कि बहुत देरतक उसकी इंद्रियां क्रिया शून्य बनी रहीं और भोग वांछा उत्पन्न न हुई ॥ ६२ ॥

कुर्वन् प्रयत्नेन स पांथवर्गं वियोगदुखी कमठानुयोगं ।
अकथ्यतैवं वचनप्रसंगे देवेन नीतेन वनेचरेण ॥ ६३ ॥

इसके बाद भाईके वियोग जन्य दुःख से दुःखित मरुभूति बडे ही प्रयत्नसे कमठ के वृत्तांतको जाननेवाले पथिकों की खोज करने लगा और एक दिन भाग्यवश एक भील मरुभूतिके पास आया और उससे बात चीत करते हुये मरुभूतिने अपने स्वभावानुसार कमठका समाचार पूछा। भील कमठके समस्त वृत्तांतको जाननेवाला था इसलिये वह इसप्रकार उसका समाचार सुनाने लगा ॥ ६३ ॥

अमात्य ! जानामि तवाग्रजस्य वृत्तांतमुद्वृत्ततया गतस्य ।
यद्यस्ति ते कौतुकमत्र सर्वं सविस्तरं वच्मि तथाऽवधेहि ॥ ६४॥

मंत्रिन् ! आपके बडे भाई कमठ जो कि दुश्चरित्रताके कारण यहांसे निकाल दिये थे उनका यथार्थ वृत्तांत जानताहूं । यदि आपकी इच्छा हो तो सुनिये । मैं उसे विस्तार पूर्वक कहताहूं ॥ ६४ ॥

इतोऽस्ति देशे दशयोजनांते भूभृत् स भूताचलनामधेयः ।
अत्युत्थितं यस्य सहस्रधामा कृच्छ्रादतिक्रामति शृंगकूटम् ॥ ६५॥

यहांसे [पौदनपुर) कोई दशयोजन [चालीसकोश] की दूरीपर एक बडा भारी भूताचल नामक पर्वत है वह इतना लंबा चौडा और ऊंचा है कि उसकी शिखर के अग्र भागको औरकी तो क्या बात अत्युच्च प्रतापी सूर्य भी कठिनता से उल्लंघन कर पाता है ॥ ६५ ॥

आमुक्तनिष्यन्दमनोज्ञहारा भुजालताग्रस्थितनागमुद्राः ।
बृहन्नितंबाः सविलासमारा मनोरमा यश्च बिभर्ति भित्तीः ॥६६॥

वनद्रुमान्निर्झरशुभ्रतोयैर्घर्मेऽपि यो वर्धयति प्रकामम् ।
पादाश्रितानामभिरक्षणं यत् तदेव कृत्यं नु महोन्नतीनाम् ॥६७॥

वह पर्वत देखने में ठीक एक ऋद्धिशाली राजा की तुलना करता है क्योंकि राजा जिसप्रकार मुक्तामणियोंके मनोज्ञ मनोज्ञ हारों को धारण करनेवाली नागमुद्रासे भूषित भुजालताओं की धारिकायें वृहन्नितंबवाली, मनोहर विलासिनी अनेक स्त्रियोंको धारण करता है—उनके साथ विवाह करता है उसीप्रकार यह भी उच्चप्रदेशसे झरते हुये

झरनेरूपी मनोहर हार को धारण करनेवाली, अग्रभागपर स्थित नागमुद्रासे चिन्हित लतारूपी भुजाओंकी धारिकाएं वृहत् विशाल नितंब--समीपवर्ती छोटे छोटे पर्वतों को वहन करनेवाली, वि--पक्षियों के लास हर्षनृत्य से शोभित मनको लुभानेवाली भित्तियों को धारता है। राजा जिसप्रकार अपने पाद शरणमें आये हुओंकी सर्वप्रकारसे रक्षाकरता है उसीप्रकार वहभी पादसमीपवर्ती तलहटीके छोटे छोटे पर्वतों के आश्रित-उनपर रहनेवाले वन वृक्षोंको शिखरोंसे झरते हुये अपने झरनोंके जलसे ग्रीष्म ऋतुमें भी रक्षा करता है सो ठीक है--जो महोन्नत महा बडे भारी ऊंचे (शरीरमें या बुद्धिमें) होते हैं उनका शरणागतोंको शरण देनाही कार्य होता है ॥ ६६--६७ ॥

यः पार्श्वभागप्रविलंबितेन विचित्रजीमूतकुथेन रात्रौ।
नक्षत्रमालापरिवीतमूर्ध्ना सन्नद्धमन्वेति गजाधिराजम् ॥ ६८ ॥

उस [भूता चल] पर्वतके दोनों पसवाडोंमें विचित्र २ मेघ लटकते रहते हैं और उसके ऊपरकी पृथ्वीपर ज्योतिर्मयी विशेष लताएं चमका करती हैं इसलिये रात्रिमें चित्र विचित्र आस्तरण को डाले हुये नक्षत्रमालासे आवृत मस्तकवाले सजे हुये ऐरावत हाथीकी वह तुलना करता है ॥ ६८ ॥

भीमो भृशं भानुकराभिमर्शात् यः सूर्यकांतैर्ज्वलितैर्मनोज्ञः।
चंद्रांशुपातद्रवदिंदुकांतैः संसर्गजा दोषगुणा भवंति ॥ ६९ ॥

उस पर्वतपर सूर्यकांत और चंद्रकांत दोनों प्रकारकी

मणियां लगी हुई हैं इसलिये दिनमें तो सूर्य के उदय होने-से प्रज्वलित हुई सूर्यकांत मणियोंके संबंधसे वह भयंकर हो जाता है और रात्रिमें चंद्रमा के उदित होनेसे मनोज्ञ चंद्र-कांत मणियोंके द्रवीभूत होनेसे वह मनोज्ञ हो जाता है जिस-से कि अच्छी बुरी संगतिसे अच्छे बुरे गुण उत्पन्न होते हैं यह नीति वहां स्पष्टतया चरितार्थ होती है ॥ ६९ ॥

विलोचनानीव सरांसि यस्मिन् विवृत्तपाठीनमनोहराणि ।
नीलोत्पलश्रीरमणीयतारासारोदराण्यायतिमंति संति ॥ ७० ॥

उस पर्वतके ऊपर बडे बडे विशाल, जिनमें कि सैक-डों और हजारों मछलियां क्रीडा करती हैं और सुंदर सुंदर मनको लुभानेवाले नील कमल खिले रहते हैं ऐसे बहुतसे सरोवर हैं जिनसे कि चंचलता को धारण करनेवाले नील वर्णके रमणीय ताराओंके धारक नेत्रोंको धारण किये हुए सरीखा मालूम पडता है ॥ ७० ॥

क्रीडंति वप्रेषु सह प्रियाभिर्नभश्चरा यस्य गुरुप्रमोदाः ।
भृंगीगणक्षोदगलत्प्रसूनपर्याप्ततल्पेषु लतागृहेषु ॥ ७१ ॥

उस पर्वतका प्राकृतिक सौंदर्य इतना बढा चढा है कि उस पर सब प्रकारसे मुग्ध हो विद्याधर लोग वहां आते हैं और उसके लता गृहोंमें भ्रमरियों के द्वारा गिराये गये पुष्पों की शय्या पर अपनी रमणियोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करते हैं ॥ ७१ ॥

गुहामुखैर्गह्वरगर्भगूढं कंठीरवध्वानसुभीमशब्दैः ।
यः पावने वर्त्मनि वर्तमानो मातंगयूथं कुरुते दविष्ठम् ॥ ७२ ॥

वहां इधर उधर बहुत से सिंह अपनी भयंकर गर्जना करते फिरते हैं और उनका वह शब्द गुहाओं के पास तक भी पहुंचता है जिससे कि उनके प्रतिध्वनित होने के कारण गुफाओंमें छिपे हुये मातंग—हस्तिगण पवित्रता का ध्यान रखनेवाले पुरुष द्वारा मातंग—भंगी महतर आदि के समान दूर भगाए जाते हैं ॥ ७२ ॥

निहन्यवन्येभविषाणभाजा निर्मूलितानेकवनद्रुमेण ।
मार्गेण यस्मिन् शवरैः शयूनां निबुध्यते कायमहत्वयोगः ॥ ७३

भील लोग जिस समय जंगली, हस्तियोंके मारनेके लिये उस पर्वतके वनमें निकलते हैं--तो उस मार्गमें हाथियों के दांतोंसे घिसे गये और तोडे गये अनेक वृक्षोंके संबंधसे वहां के हाथियों के शरीर की उचाई का अनुमान करते हैं ॥ ७३ ॥

तस्योपकंठे वनराजिरम्या तपोभृतामाश्रमभूमिरस्ति ।
या प्रत्यहं व्योमनि होमधूमैर्नवांबुवाहश्रियमातनोति ॥ ७४ ॥

इसप्रकारकी नाना शोभाओंसे शोभित उस पर्वतकी उपत्यका भूमिमें प्रति दिन होम क्रियायोंके धूमसे आकाशमें मेघका भ्रम करानेवाला तपस्वियोंका आश्रम स्थान है ॥ ७४ ॥

कुचोपमेयैः कलशैस्त्रिसंध्यं पयः क्षरंत्यो यतिमुग्धकन्याः ।

स्वमध्यसादृश्यगुणेन वश्या लताद्रुमं यत्र विवर्धयन्ति ॥ ७५ ॥

उसमें सांझ, सवेरे और दुपहरको अपने कुचोंके समान स्थूल आकारके धारक जलके भरे कलशों से यतियों की मुग्ध बालिकायें, अपनी कटिके समान सूक्ष्मता गुण धारण करने वाली लताओंको वशीभूत हुइयोंके समान सींचती रहती हैं॥ ७५ ॥

शाखामृगा यत्र गृहीतशिक्षा नैसर्गिकं चापलमुत्सृजंतः।
कर्षंति मार्गाय नियोगदृष्ट्या तपोभृतामंधकहस्तयष्टीः ॥ ७६ ॥

वहां के वंदरों की तो विचित्र ही बात है वे शिक्षितों के समान स्वाभाविक चांचल्यको छोड कर अंधे तपस्वियों को उनके हाथ की यष्टि पकड कर सीधे योग्य मार्ग पर जहां वे प्रतिदिन जाया करते हैं लेजाते हैं ॥ ७६ ॥

द्विजैरहस्याध्ययनस्य पश्चादनंतरं पंजरवासितानाम्।
यत्रानुवादः शुकशारिकाणामाकर्ण्यते कर्णरसायनश्रीः ॥ ७७ ॥

ब्राह्मण लोग जिस समय अपने वेदोंका अध्ययन समाप्त करचुकते हैं तो उन्हें वहांके पिंजरोंमें बैठे हुये तोता और मैना पक्षी उनकी बोलीका कर्ण प्रिय मिष्ट भाषामें अनुवाद करते सुनाई पडते हैं ॥ ७७ ॥

जटाधरं जीर्णमुपेत्य तस्यां तपस्विनं तस्य किलोपदेशात्।
पराभवाक्रांतविरक्तचेता भ्राता तपस्यामरमग्रहीत्वे ॥ ७८ ॥

उसी आश्रयस्थानमें यहांसे तिरस्कारके दुःखसे दुःखी

को आपके बड़े भाई कमठ पहुंचे और किसी वृद्ध जटाधारी तपस्वी के पास जा उसकी शिष्यता स्वीकार करली ॥ ७८ ॥

नेत्रे समुन्मील्य रवौ नितांतमुत्तम्य बाहू स हि वासरे॰ ।
तपश्चरन् दुश्चरमद्रिशृंगेष्वेकांघ्रिणा तिष्ठति मानभंगी ॥ ७९ ॥

वे आजकल वहां सूर्यकी प्रचंड किरणों की तीक्ष्ण ज्वालाके सामने आंखोंकी टकटकी लगाकर और बाहुओंको ऊंची कर एक पैरसे खडे हो पर्वतकी शिखर पर दुश्चर तप तपरहे हैं ॥ ७९ ॥

निवेद्य वार्ता कमठस्य तस्मिन् गृहीतसत्कारमिते किराते ।
अकथ्यतैवं सचिवेन गत्वा दुर्मोहपाशस्खलितेन राजा ॥ ८० ॥

जब इस प्रकार वह भील कमठका समस्त वृत्तांत कह चुका तो उसका मंत्री मरुभूतिने बडाही आदर सत्कार किया और उसके चले जाने पर स्वयं महाराज अरविंदके पास जाकर मोहके वशीभूत हो इस प्रकार निवेदन किया ॥ ८० ॥

प्रेमानुबंधः स्वजने जनानां कचित् प्रभो ! दैवबलात् कुतोऽपि ।
परं प्रकृष्येत गुणप्रकर्षाद् दोषात्तु न प्रच्यवते कदाऽपि ॥ ८१ ॥

"महाराज ! मोहनीय कर्म बडा बलवान है उसके संबंधसे किसी किसी कुटुंबी में किसी किसीका अत्यन्त प्रेम होजाता है और वह प्रेम प्रेमी पुरुष में गुणोंकी वृद्धि होनेसे बढतो जाता है परन्तु दोष होनेसे घटता कभी नहीं ॥ ८१ ॥

अतो वियोगं न सहे दुरंतं कृतागसोऽपि स्वयमग्रजस्य ।

पुनः करिष्यामि तवांतिके तं प्रसाद्यतां देव ! तवैष भृत्यः ॥ ८२
भूताद्रिशृंगे स तपोवियोगो भूयान्निकारश्च स पौदनेऽस्मिन्।
बुद्धिं गुणेषु प्राहिणोति तस्य प्रमार्ष्टि दोषं च पुरानिविष्टः ॥ ८३ ।

इसलिये मैं अपराधी भी अपने बडे भाई का वियोग नही सहसक्ता उसके वियोगसे मेरा हृदय बहुत ही दुःखी रहता है इसलिये अपने इस सेवक पर प्रसन्न हो आज्ञा दीजिये कि उसे पुनः आपकी सेवामें प्रविष्ट करा दिया जाय"। उस (कमठ) ने जो इस पोदनपुरमें तिरस्कृत होनेके कारण विरक्त हो भूताचल पर्वतपर कुतप तपना प्रारंभ किया है उससे यह मालूम पडता है कि उसकी बुद्धि गुणों की तरफ ऋजु हुई है और पुरमें पुनः प्रविष्ट होने पर वह अवश्य दोषों को छोड देगा ॥ ८२—८३ ॥

इति ब्रुवंतं तमुवाच राजा शुचिस्मितोल्लासितदंतकांत्या।
कुर्वन् पुरस्ताद् गगनप्रदेशं चंद्रातपेनेव दिवाऽपि लिप्तम् ॥ ८४ ॥

मंत्रीके उसप्रकारके प्रेमभरे वचन सुनकर अपने शुभ दांतोंकी चमकली किरणों से चांदनीसे दिनमें भी आकाश को लिप्त करते हुये के समान उस राजाने उत्तर दिया ॥ ८४ ॥

अवश्यकर्तव्यमिदं हि पुंसि यत् सर्वथा साधुजनप्रसंगः।
विवेकसिद्धेः स भवत्युपायः श्रेयस्करी सा च भवद्वयेऽपि ॥ ८५ ॥

मंत्रिन् ! मनुष्योंको सज्जन लोगोंकी संगति करना ही

श्रेष्ठ है जहांतक बने उन्हें उसीके प्राप्त करने की कोशिश करना चाहिये। उसीके प्राप्त करनेसे सच्चे ज्ञानकी-हिताहित विचारकी प्राप्ति होती है और उसी ज्ञानसे इस भव और परभव में भी सुख मिलता है॥ ८५ ॥

अहंतयाऽपि प्रतिवेदनीये कायेऽपि दोषे सति निर्विषंगः।
विवेकनिष्णातमना मनीषी किंमग! बाह्येषु करोति तृष्णाम्॥ ८६॥

जो विवेकशील हैं जिनकी कि बुद्धि हिताहित के विचार करने में कुशल है वे लोग दोषयुक्त होनेपर सर्वथा आत्मासे अभिन्न सरीखी मालूम होनेवाली इस देहमें भी ममता छोड बैठते हैं उसको भी हेय समझने लगते हैं तब फिर जो सर्वथा भिन्न ही भिन्न मालूम होने वाले हैं जिनकी कि एकता किसीभी प्रकार सिद्ध नहीं होती ऐसे दोषोंकी खानि स्वरूप स्त्री पुत्र भाई बहन की तो वातही क्या है? उन्हें तो वे अवश्यही निःशंक हो छोड देते हैं॥ ८६॥

कुलेन कुर्वन्नपि खेदमात्रं शक्यो नियोगस्तव निस्तरीतुम्।
भ्रात्रा निकारप्रतिकोपितेन प्राणक्षयायैव पुनः प्रयोगः॥ ८७॥

इसलिये हे श्रेष्ठ मंत्रिन्! तुम अपने उस दुष्ट ज्येष्ठ भ्राता के साथ मिलने के विचारको सर्वथा छोडदो। यदि तुम्हारा यह कहना हो कि मैं और मेरा कुटुंब उस कमठ के वियोगसे अति दुःखित हैं और उस दुःख को दूर करना मेरा परम कर्त्तव्य है तो भाई! उस दुःख को तो तुम और तुम्हा-

रे कुटुंब के लोग किसी न किसी प्रकार सहन करसक्ते हैं परंतु यदि तिरस्कारसे क्रुद्ध हुए तुम्हारे भाईने कुछ तुम्हारे ऊपर आक्रमण किया तो तुम यह अवश्य समझो कि तुम्हारे प्राणपखेरू शीघ्रही इस कलेवरको छोड उड जायेंगे ॥ ८७ ॥

अनर्थमन्विच्छसि यद्युपेयास्तमुल्बणक्रोधहुताशदग्धम् ।
स्वयंकरास्फालितमस्तकं वा कुरुष्व कंठाभरणं भुजंगम् ॥ ८८ ॥

तीव्र क्रोधाग्निसे धधकते हुये उस दुष्ट कमठके पास जानेसे तो यही अच्छा है कि तुम अपने हाथसेही अपना शिर फोड डालो अथवा यह न होसके तो फुंकारते हुये भुजंग को अपने गलेमें डाललो ॥ ८८ ॥

अप्राप्य कामं नृपतेरमात्यः प्रत्यागतस्तं गृहमर्धरात्रे ।
ज्यायांसमुद्दिश्य स निर्जगाम क्रोधादशांतं यदि वा कृतांतम् ॥ ८९ ॥

जब मंत्री मरुभूतिने अपने विद्वान् स्वामी की अपने बडे भाई के पास जानेकेलिये सम्मति न पाई तो वह चुप चाप सीधा अपने घर चला आया और कुपित यमराजके समान क्रूर अपने बडेभाई से मिलने की इच्छासे आधी रात्रिके समय विना किसीसे कहे सुने चल दिया ॥

महीपतिस्तां मरुभूतियात्रां विचारयंश्चेतसि निर्विचारम् ।
प्रासादशृंगे महिषीद्वितीयः स्थित्वैकमालोक्यत शुभ्रमभ्रम् ॥ ९० ॥

जब राना को इस बातका पता लगा कि मरुभूति अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये यथादिष्ट स्थानपर

चलागया है तो उसे बडा ही दुःख हुआ । वह उसके इस अविचारित गमनके विषयमें अपने महलकी छतपर बैठा अपनी रानी के साथ विचार ही कर रहा था कि उसे आकाश में एक शुभ्र मेघ दिखलाई पडा । मेघकी अदृष्ट पूर्व सुंदरताके विषयमें महाराज अपनी रानीसे योंविचार प्रकट करने लगे ॥ ९० ॥

विडंबयंस्तुंगतुषारशैलं बलाहकोऽनेकसहस्रकूटः ।
विनिद्रकुंदस्तवकावदातस्तन्वंगि ! नन्वेष नभः पिधत्ते ॥ ९१ ॥

सुंदरी ! देखो हिमालय पर्वत की उच्चताकी अपनी विशालतासे विडं बना करता हुआ और प्रफुल्लित कुंद पुष्प की शुभ्रता को धारण करने वाला यह हजारों कूटोंसे सुशोभित मेघ किस तरह आकाश मंडल को आच्छादित कररहाहै यह इसकी सुंदरता बडीही हृदयहारणी है ॥ ९१ ॥

जिनेंद्रचैत्यालयमस्य तुल्यं कल्याणि ! कालेन समापयामः ।
चिराय दैवेन निरूपितोऽस्मि नेत्राभिरम्यो रचनाविशेषः ॥ ९२ ॥

अहा! इस मेघको देखकर मेरे मनमें एक बडा ही शुभ विचार उत्पन्न हुआ है वह यह कि मैं इसीके तुल्य श्री जिनेंद्र भगवानका एक पवित्र चैत्यालय स्थापन करूं बहुत दिनोंके बाद आज मेरे भाग्यने शुभ समय मेरे सामने ला उपस्थित किया है जो कि नेत्रोंको परम रमणीक अतिशय अद्भुत यह रचना दिखलाई पडी है " ॥ ९२ ॥

इति प्रियामालपतैव राज्ञा परं मुहूर्ताद् ददृशे न मेघः।
प्रचंडवातोद्धुरदंडपातव्यापादिताऽखंडशरीरपिंडः ॥ ९३ ॥

महाराज अरविंद इस तरहका शुभ और पवित्र परामर्श अपनी प्रियाके साथ कर ही रहे थे कि इतनेमें एक बड़ा भारी पवनका झोंका आया और वह अपने प्रचंड वेगसे उस मेघके अनुपम सौंदर्यको नष्ट भ्रष्ट करता हुआ एक ओरको चलता बना ॥ ६३ ॥

तथाऽम्बुदस्य प्रकृतिं स पश्यंश्चेतीचकारेति विरक्तचेताः ।
अनेन बुद्धं विषयेंद्रियाणामशाश्वतत्वं त्रुटता घनेन ॥ ९४ ॥

बस ! फिर क्या था इस प्रकारके कुतूहलको देख महाराजकी निगाह पलट गई । वे मेघकी उस क्षणविनाशीकताको देख इंद्रियोंके समस्त विषयों को ही विनाशीक समझने लगे उनके हृदयमंदिरमें सर्वं नश्वरं की अविकल ध्वनि होने लगी ॥ ६४ ॥

वपुः स्वभावाशुचि भंगशीलं निदानमेकं खलु दुष्टसृष्टेः ।
तदर्थमात्मानवबोधमूढा अनात्मनीनं दृढयंति यत्नम् ॥ ६५ ॥

वे विचारने लगे कि हाय ! यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है, क्षण भरमें नष्ट होजाने वाला है पाप क्रियायों का वीज भूत है परंतु ये अज्ञानके प्रवल अन्धकारसे आवृत संसारी जीव उसके असली तत्वको नही समझते वे इस आत्माके अनिष्ट करने वाले शरीरके निमित्त ही–उसीको पुष्ट करनेके लिये नाना यत्न किया करते हैं ॥ ६५ ॥

द्वित्राहसंबंधिनि तावदस्मिन् देहे दृढप्रेम जनो निबध्नन् ।
गृहीतनिर्मुक्तचिरंतनानां तेषां पुनर्विस्मरतीति चित्रम् ॥ ९६ ॥

जीव मात्रका तात्कालिक शरीर दो तीन दिन मात्र (अल्पकाल) ही रहने वाला है परंतु यह उसीमें अपना गाढ अनुराग करने लग जाता है और उसीके फंदमें पडकर अपने पुराने—भूतकालके नाना शरीरोंको भूल जाता है यह कैसी विचित्रता है अर्थात् जिसमें किसी समय अगाढ प्रेम रखता था उसीको कुछ दिनके वाद्—उसके विलीन हो जाने पर सर्वथा भूल जाता है यह कैसा आश्चर्य है ॥ ९६ ॥

स्रवन्नवद्वारमशौचपात्रं क्षेत्रं वपुर्व्याधिसरीसृपाणाम् ।
मूर्खः परं तत्र निबद्धतृष्णो नाम्नापि तस्योद्विजते विवेकी ॥ ९७ ॥

यह शरीर अपवित्रताका घर है इससे नव द्वारोंके द्वारा सर्वदा घृणित अशुचि पदार्थ निकला करते हैं और इसमें नाना आधि व्याधि रूप सांप रहा करते हैं इस लिये जो अज्ञानी पुरुष हैं जिनको अपनी आत्माकी अनंत शक्ति ज्ञात नही है वे ही इसमें तृष्णा करते हैं--वे ही इसके पुष्ट करनेकी कोशिशमें रात दिन लगे रहते हैं परंतु जो विवेकी हैं आत्मा और शरीरको पृथक् पृथक् लक्षणोंसे अच्छी तरह पहिचानते हैं वे तो इसमें अनुराग करनेकी तो क्या वात ! इस कायके नामसे भी डरते हैं ॥ ९७ ॥

प्रौढानुरागेण बिभर्ति लक्ष्मीं नरो गुरूनप्यातिसंदधानः ।

सा वारनारीव नवप्रिया तं विमुंचती वांछति कंचिदन्यम् ॥९८॥

ये संसारी जीव ऐसे मूर्ख हैं कि अपने पूज्य हितैषि-योंको भी ठग कर बड़े भारी अनुरागसे लक्ष्मीको पैदा क-रते हैं परंतु वह लक्ष्मी वेश्याके समान चंचल स्वभाव वाली और नवीन नवीनोंमें अनुराग करने वाली होनेके कारण उस अनुरागी पुरुषको छोड किसी दूसरेको ही पसंद कर लेती है—कमाने वाले पुरुषको छोड दूसरेके पास चली जाती है ॥ ९८ ॥

भोज्यं हि भुक्तोज्झितमेव सर्वं जीवेन पूर्वं भवबंधभाजा ।
तत्रैव तृप्यन्नविशेषदर्शी कथं न जिह्रेति जनोऽभिमानी ॥ ९९ ॥

यह जीव अनादि कालसे इस संसार में जन्म मरण करता चला आता है इससे संसारका ऐसा कोई भी भोज्य पदार्थ बाकी नहीं रहा है जिसका कि इसने अनेकों वार भोग न किया हो तब भी यह इतना तृष्णाशील है कि उनके भोग से इसे कभी तृप्ति ही नहीं होती और न अपने इस लोलुपी स्वभावके लिये उसे तनिक लज्जा ही मालूम पडती है ॥९९॥

तनूभृतां कर्मविपाकशक्तेरवश्यभाव्ये सुखदुःखयोगे ।
कः कस्य बंधुर्यदि वा विरोधी रागापरागौ यदुपप्लवेते ॥ १०० ॥
यदि प्रयत्नादुभयोपपत्तिः स शाश्वते वस्तुनि संविधेयः ।
अन्यत्र लग्नस्तु फलावशायी धुनोति तस्यापगमे पुमांसम् ॥१०१॥

प्राणियोंको पूर्व अपने अपनेकर्मानुसार अवश्य ही

सुख दुःख भोगने पडते हैं इसलिये न तो कोई किसीका सुख देनेवाला बंधु ही है और न कोई दुःख देनेवाला किसीका शत्रु ही है। जिसके वास्ते राग और द्वेष किये जांय अर्थात् यदि कोई शत्रु मित्र है तो वह अपनी आत्मा ही है क्योंकि वही सुख दुःखदायक शुभ अशुभ सब कर्म किया करती है इस प्रकार जब अपनी आत्माके द्वारा किये गये प्रयत्नसे ही सुख दुःख की प्राप्ति होती है तो वह प्रयत्न विनाशीक सुख दुःख के लाभमें न लगाकर नित्य अवि-नाशी पदार्थ–मोक्षकी प्राप्तिमें ही लगाना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे जीवको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है और नहीं तो दूसरे अनित्य पदार्थ–सांसारिक सुख दुःखकी प्राप्ति में लगाने से उस प्रयत्नका वास्तविक फल नहीं मिलता जि-ससे कि इसे बडाही पश्चात्ताप और दुःख होता है ॥

विभावयंतं भवविभ्रमस्य स्वभावमेवं नृपतिं प्रपद्य।
निवेदयामास वनस्य गोप्ता स्वयंप्रभस्यागमनं महर्षेः ॥ १०२ ॥

महाराज अरविंद इस प्रकार सांसारिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपका विचार कर ही रहे थे कि इतनेमें ही वनके रक्षकने आकर श्रीस्वयंप्रभ नामक महर्षिके आगमनकी सूचना दी और इस प्रकार निवेदन किया—॥ १०२ ॥

देवव्रती देवपतिर्यतीनामुद्यानमद्याभिगतोऽस्मदीयम्।
अभूदपूर्वामधिगम्य शोभामन्येव तस्यागमनाद् वनश्रीः ॥ १०३ ॥

किंचिन्मरुत्संगचलांगलेखाः सपुष्पभारा मधुपप्रणादैः ।
लताः स्वयं दर्शितलास्यलीलास्तस्यैव गायंति तपःप्रभावम् ।१०४।

हे देव ! आज हमारे बगीचे में एक बडे भारी तपस्वी मुनियों के स्वामी मुनि महाराज पधारे हैं । उनके आगमनमात्रसे ही वन लक्ष्मी की एक अपूर्व शोभा होगई है –वह उनके प्रभावसे विलक्षण ही मालूम पडती है । उस वनकी जो लतायें हैं वे समस्त ही फूलों के भारसे अवनत हो गई हैं मधुप उनपर गुंजार कर रहे हैं और पवन के झकोरेसे वे इधर उधर चंचल हो रहीं है सो ऐसी मालूम पडती हैं मानों उन मुनि महाराजके तप प्रभाव को ही वे नांच नांच कर गारही हैं ॥ १०३–१०४ ॥

मुनेरशोकस्य वनप्रवेशे निर्वहितावद्यमशोकवृक्षाः ।
ध्रुवं समस्कंधदृशैव हर्षाद् व्यंजान्ति रागं नवपल्लवेषु ॥ १०५ ॥

शोकरहित उन मुनि महाराज के वनमें प्रवेश करने से जितने वहांके अशोक वृक्ष हैं समस्त ही प्रफुल्लित होगये हैं और अपने समान अशोक मुनिराज को देख कर नवीन नवीन पल्लवों द्वारा हर्षसे मानों उनमें अपना राग (प्रेम-लालिमा) ही प्रगट कररहे हैं ॥ १०५ ॥

तात्कालिकश्रीप्रभवं मुनींद्रोर्गुणं प्रशंसंत इव द्रुमाणाम् ।
आम्रांकुरस्वादविवृद्धदर्पाः क्वणंति लीलाकलमन्यपुष्टाः ॥ १०६ ॥

महाराज ! उन मुनि महाराजके चरण प्रसादसे आम्र

वृक्षोंमें अंकुर फूट आये हैं सो उनके उन अंकूरेके स्वादसे मत्तहुई कोयलें जो अपने मीठे मीठे सुरस शब्द करती हैं उनसे ऐसा जान पडता है मानों उस समयकी शोभाको उत्पन्न करनेवाले मुनिराजके उस अद्भुत गुणको ही गारही हैं ॥ १०६ ॥

अतिप्रभावोपनतेन चूता वसंतलक्ष्मीनवसंगमेन ।
सरोमहर्षा इव देव ! सर्वे शाखोल्लसत्कुड्मलभारखिन्नाः ॥१०७॥

मुनि महाराजके प्रभावसे असमयमें आई हुई वसंत लक्ष्मीके नवीन संगमसे उस उद्यानके आम्र वृक्ष कलिकाओं से व्याप्त हो गये हैं सो ऐसे मालूम पडते हैं मानों हर्षसे उनमें रोमांचही फूट आए हैं ॥ १०७ ॥

तमोमुचस्तस्य गुणप्रकाशात् महीश ! विस्तारवतो भियेव ।
अन्वेति नन्वागतमेकराश्यं तमस्तमालद्रुमसांनिवेशम् ॥ १०८ ॥

अज्ञानांधकारको दूर करनेवाले मुनि महाराजके फैलते हुये गुणोंके प्रकाशके भयसे ही मानों एकत्र हुआ उस उद्यानका अंधकार तमाल वृक्षोंकी झाडियोंमें जा छिपा है ॥ १०८ ॥

नयन् सलीलं सरसोऽम्बुबिंदून् पायान्निवाद्येभकटात्तगंधः ।
वदान्य ! वन्यद्रुमपुष्पवृंदो मंदो मरुत् तं गुरुमभ्युदेति ॥ १०९॥

मत्त हस्तियोंके उत्कट मदकी सुगंधिका वाहक जंगली वृक्षोंके पुष्पोंका धारक, मंद मंद प्रवाहसे वहनेवाला पवन

तालाबकी बिंदुओंको अपने साथले ले कर उन मुनि महाराजके पास आता है सो उससे ऐसा जान पडता है मानो उन मुनिके लिये पाद्य अर्घ ही लिये जाता हो ॥ १०९ ॥

विपाकमाधुर्यभृतो मनोज्ञक्रमाऽस्समासातिशयावरुद्धाः ।
तपोभृतो बिभ्रति सौकुमार्यं जनार्य ! वाचो नववल्लयश्च ॥११०॥

हे जन श्रेष्ठ ! जिस प्रकार मुनिके प्रभावसे उस उद्यान की लतायें मधुर फलको धारण करनेवाली, मनोहर रचनासे संयुक्त, न अति लघु न अति दीर्घ, और सुकुमारताको धारण करने वाली हैं उसी प्रकार उन मुनिकी वाणी भी अंतमें हितकर मनोज्ञ शैलीवाली, संक्षिप्त, अतिशयसे अवरुद्ध और कोमल मधुर है ॥ ११० ॥

नवोद्गमाः स्थावरजंगमानां प्रमोदपात्रा यतिसंगमेन ।
रजस्सुगंधि भ्रमरावलीढं क्षरंति नागा यदि वा मदांभः ॥ १११ ॥

उन यतिराजके संगमसे स्थावर और जंगम जीवोंके हर्ष स्थानको प्राप्तहुये नवीन अंकुरोंसे व्याप्त वृक्ष, मद जलको हस्तियोंके समान भ्रमरोंसे संयुत सुगंधित रज कण को छोडते हैं ॥ १११ ॥

क्षमोपपन्ना व्रततीरनूढा दृढं वहंतस्सुमनस्समृद्धाः ।
मधुव्रतानां प्रियमुन्नयंति वनद्रुमा देव ! यतेर्गुणाश्च ॥ ११२ ॥

हे देव ! जिस प्रकार क्षमा-पृथ्वीसे उत्पन्न-सहित अनूढा-नवीन व्रतती—लताओंको धारण करनेवाले, सुमन पुष्पोंसे-

व्याप्त वन वृक्ष मधुव्रतों—भ्रमरोंको सुखी बनाते हैं उसीप्रकार उन मुनि महाराजके क्षमासे सहित, वद्रतीको धारण करने वाले श्रेष्ठ समृद्ध गुण भी मधुव्रत—श्रावकोंको सुखी बनाते हैं ॥ ११२ ॥

पिशंगितांगी परितो रजोभिः पुन्नागनव्यप्रसवाभिवांतैः ।
विभाति साधुपणयोत्सवेन मही महीनाथ ! हिरण्मयीव ॥ ११३॥

पुंनाग वृक्षोंके नवीन पुष्पोंसे झरते हुये रजकणसे व्याप्त होनेके कारण सर्वत्र पीली हुई पृथ्वी मुनि महाराजके आगमनोत्सवसे सुवर्णमयी हुईके समान मालूम पडती है ॥ ११३ ॥

तपोनियोगाद् यमिनो वनांते पूगद्रुमान् दर्शयतः फलानि ।
श्लिष्यंति वेश्या इव नागवल्ल्यो नखक्षतावर्जितपत्रभंगाः ॥ ११४

नखक्षतसे आवर्जित है पत्र भंग जिन्होंका ऐसी नागवल्लियां उन मुनि महाराजके तप प्रभावसे फलोंको दिखलाते हुये पूग वृक्षोंको वेश्याओंके समान आलिंगन करती हैं ॥ ११४ ॥

यतेरहिंसाव्रतपारगस्य हिंस्राः समीपे नृप ! वैरमुक्ताः ।
वसंति संभूय वनद्रुमाणां छायासु नव्योद्गमवासितासु ॥ ११५ ॥

इसप्रकार अहिंसा व्रतके पारको पहुंचे हुये उन मुनि महाराजके तपके प्रभावको कहां तक कहा जाय इतना कहना ही बस है कि उनके प्रभावसे परस्परके स्वभावद्वेषी भी हिंसक पशु नवीन नवीन पल्लवोंसे व्याप्त वृक्षोंकी छाया

रीखे थे । दयाके मूर्त्त प्रयोग थे और आगमों—सत् शास्त्रोंके समूह सरीखे जान पडते थे। सो ऐसे मुनि महाराजको जब उस राजाने हाथी परसे दूरसेही देखा तो उसका हर्षरूपी समुद्र एक दम उद्वेलित होगया, वह उसी समय हाथीसे उतर मुनिराजके पास पहुंचा और चरणोंमें मस्तक नमा कर वार वार प्रणाम करने लगा ॥ १२०—१२२ ॥

आनीतं स्वनियोगवर्तनपरैः कर्मांतिकैस्तत्क्षणा--
दाक्षिण्यामलतेजसा यमवतामाज्ञानमप्यासनम् ।
प्रौढाकृत्रिमभाक्तिनिर्भरतया पृष्ठे भुवस्तिष्ठता
पप्रच्छे मुनिरुच्चकैः क्षितिभुजा स्वाकूतमुद्धश्रिया ॥ १२३ ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते
महाकाव्ये स्वयंप्रभागमनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

जब वह राजा अरविंद मुनिराज की वंदना करचुका तो बैठने के लिये नौकरों द्वारा लायेगये और उन मुनिराज द्वारा अनुज्ञातभी आसन को उसने अपनी अकृत्रिम गाढ भक्तिके कारण दूर हटा दिया एवं पृथ्वीपर बैठ उन मुनिराजसे अपना इस प्रकार अभिप्राय निवेदन करने लगा। ॥ १२३ ॥

इसप्रकार श्रीवादिराजसूरिविरचित श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरितकी भाषा वचनिकामें स्वयं प्रभ मुनिराजके आगमनका सूचक दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग।

भवतापनिदाघपीडितं भवता नाथ मनश्चिराय नः।
अमृतद्युतिनेव नेत्रयोः परिलब्धेन भृशं प्रमोदते॥ १॥

हे मुनिराज! हमारा यह मन सांसारिक दुःखरूपी ग्रीष्म ऋतुकी प्रचंड उष्णतासे बहुत काल का संतप्त होरहा है परंतु वह आज नेत्रों को चंद्रमाके समान प्रिय लगने वाले आपको पाकर अतिशय आनंदितहो फूला नहीं समाता॥१॥

धुतसंतमसं रजो वमत् सविकाशद्युति सत्पथोन्मुखम्।
तव संनिधिनाऽभवन्नृणां हृदयं पद्ममिवाहिमद्युतेः॥ २॥

जिसप्रकार सूर्य के उदय होनेसे अंधकार दूर भाग जाता है, पुष्परज निकलने लगती है, पद्म खिल जाते हैं और उनका मुख आकाशकी तरफ हो जाता है उसीप्रकार आपके शुभ आगमनसे मनुष्यों का हृदय अज्ञानांधकार से रहित हो गया है, पापों को धीरे धीरे छोडने की कोशिश कररहा है, और प्रफुल्लित हो श्रेष्ठमार्ग की ओर उन्मुख होता जा रहा है॥ २॥

विषयव्यतिषंगनिस्पृहं चरितं ते दुरितप्रमार्जनम्।
अवयन्नवसानपेशलं सहृदाह्लादमुपैति मानवः॥ ३॥

हे मुनींद्र! आपका सुचरित विषय वासनाओं से सर्वथा

असवंद्ध है—पापों का नाश करने वाला है, और अभी कठोर होनेपर भी अन्त में कोमल—सुन्दर फल देनेवाला है इसलिये जो सहृदय मनुष्य हैं वे इस के वास्तविक अभिप्राय को और रहस्य को जान कर बडे ही प्रसन्न होते हैं ॥३॥

स्वपराघनिवर्हणं बलादसिधाराक्रमणोपमक्रमम् ।
विरलाः खलु ते भवादृशा नियमं निर्मलमुद्वहंति ये ॥ ४ ॥
मलिनानवलोकते जनो जगदुद्योतकृतो भवद्गुणान् ।
अविवेकतमा मलीमसान् रविरश्मीनिव तामसद्विजः ॥ ५ ॥

भगवन्! जो लोग अपने और पराये पापों के नाश करनेमें समर्थ, असिधारा पर चलनेके समान कठिन निर्दोष तप को करते हैं वे आपसरीखे श्रेष्ठ मनुष्य इस दुनियां में बहुतही थोडे हैं। परन्तु जिसप्रकार मलिन राहु संसार को प्रकाशित करनेवाले सूरजकी किरणों को मलिन ही देखता है उसीप्रकार जो लोग अज्ञानी हैं अविवेक रूपी अधंकार से आवृत हैं वे आपके जगत् को प्रकाशित करने वाले गुणों को भी मलिन ही देखते हैं ॥ ४-५ ॥

मतिसिंधुरिय तनूभृतां श्रुतिनिम्नस्थलपातिता ।
अनुधावति केवलार्णव गुरुरत्नैरखिलैरलंकृतं ॥ ६ ॥

भगवन्! आपका माहात्म्य अपार है आपने संसारके प्राणियों की बुद्धिरूपी नदी सत्शास्त्ररूपी निम्नस्थलकी ओर बहाई है और अंतमें उसे श्रेष्ठ श्रेष्ठ अनंतवीर्यता आदि गुण

रूपी रत्नों से अलंकृत केवल ज्ञानरूपी समुद्रतक पहुंचाया है ॥ ६ ॥

तव दृष्टिरभव्यदुर्लभा भगवन्नद्य पुनर्मया श्रिता।
अधिकं मम वक्ति भव्यतां सुलभा भव्यतया हि निर्वृतिः ॥ ७ ॥

दयानिधे! आपके दर्शन भव्यों को ही मिलते हैं अभव्यों को नहीं इसलिये मुझे अपने भव्य होनेका पूर्ण निश्चय है इसलिये मेरा किसी न किसी जन्म में अवश्य ही इससंसार से छुटकारा होगा ॥ ७ ॥

तदहं स्वहितोऽपि सांप्रतं सचिवप्रश्नविदिच्छलोद्यतः।
श्रवणामृतशीकरोद्गिरं गिरमाकर्णयितुं यते! यते ॥ ८ ॥

कमठस्य गवेषणे गतो मरुभूतिः स विलंबते कुतः।
क्रमते खलु दिव्यमव्ययं तव चक्षुर्विषयेऽप्यतींद्रिये ॥ ९

मुने! मैं श्रवणामृत के कण स्वरूप वचनोंको वर्षानेवाली आपकी वाणी को सुनने की इच्छासे आपकी सेवामें अपने मंत्री मरुभूतिके गमन का प्रश्न करता हूं। महाराज! मेरा वह बुद्धिमान मंत्री अपने बडे भाई कमठ को ढूंढनेके लिये बहुत दिन हुये तब गया था परन्तु अभीतक वह वापिस लौट कर नहीं आया। कहिये, इसका क्या कारण है आप इसविषयमें सर्वज्ञ हैं—आप का दिव्य ज्ञान अतींद्रिय पदार्थोंतक को भी जान सक्ता है इसकी तो वात ही क्या है ॥ ८-९ ॥

मितमित्यभिधाय भूपतौ विरते स्थंडलशायिनां पतिः ।
अवधिप्रतिपत्तिगोचरं तमुवाचार्थमनर्थपीडनम् ॥ १० ॥
दशनप्रभया तपोभृतः प्रतिविद्धा शरदभ्रशुभ्रया ।
नृपलोचनयोरभूदिव स्वविशुद्ध्या विषया सरस्वती ॥ ११ ॥

इसप्रकार नम्र निवेदन कर जब वह नरपति चुप हो गया तो मुनियोंके शिरताज मुनि स्वयंप्रभ अपने अवधिज्ञानसे समस्त पदार्थोंको यथार्थ देखकर अनर्थ की नाशक वाणी बोले और वह अपनी विशुद्धि (स्पष्टता) से शरदकालीन मेघके समान शुभ्र मुनिके दांतोंकी प्रभासे मिश्रित होनेकें कारण राजाको नेत्रोंके द्वारा दीखती हुईके समान मालूम होने लगी ॥ १०–११ ॥

इदमात्महिताय बोधितं तव दैवेन नरेंद्र ! धीमताम् ।
कथमप्ययथेयवस्तुनि प्रतिपित्सां कुरुते हि भव्यता ॥ १२ ॥

हे नरेंद्र ! तेरे दैवने जो यह तुझै प्रश्न करनेकी बुद्धि दी है वह तेरे हितकेलिये ही है क्योंकि जैसा मनुष्यके भाग्यमें शुभ अशुभ होना होता है वैसेही ज्ञेय पदार्थोंके विषयमें जिज्ञासा भी हुआ करती है ॥ १२ ॥

सचिवस्तव निर्विचारतः सहजप्रेमनियोगतो गतः ।
शिखरे नृप ! भूतभूभृतस्तपसि व्यग्रमपश्यदग्रजम् ॥ १३ ॥

राजन् ! तेरा मंत्री मरुभूति अपने बडे भाईके स्वाभाविक प्रेममें फंस विना विचारे ही अपने घरसे भूताचल

पर्वत की ओर चला गया और वहां जाकर उसने उसे पाखंड तपको तपते हुये देखा ॥ १३ ॥

कृतशोकरवः स पादयोर्निपतन् बाष्पानिरुद्धलोचनः ।
अशृणोदतिरोषभीषणं मुनिखेटस्य वचोऽग्रजन्मनः ॥ १४ ॥

भवता निगृहीतगौरवा ः कथमप्युद्धारिता ममासवः ।
अधुना पुनरंग ! तानपि स्वयमुच्छेत्तुमिहागतो भवान् ॥ १५ ॥

इति निष्ठुरमुच्चरद्वचाः कमठो वैरनिबद्धपातया ।
शिलया सचिवस्य मस्तकं प्रणतस्यैव चकार जर्जरम् ॥ १६ ॥

प्रविमुच्य कलेवरं बृहच्छिलया तस्य विभिन्नमस्तकम् ।
सहसा सममंतरात्मना प्रपलायंत भयादिवासवः ॥ १७ ॥

उसे देखते ही मरुभूति का प्रेम प्रवाह और भी बढ गया जिससे उसके नेत्र आंसुओं की अविरल धारासे पूरित हो गये वह एकदम शोक के वचन कहता हुआ उसके पैरोंमें पड गया। परन्तु उसके इसप्रकारके वर्त्तावने दुष्ट कमठके हृदयमें जरा भी परिवर्तन न होने दिया। बल्कि उलटा कठोर हो अति कटुक हृदयभेदी शब्दोंसे उसे भेदने लगा। वह बोला "रे दुष्ट ! तेने मुझे नगर से असह्य तिरस्कारपूर्वक निकाल कर जिस किसी तरह जीता छोड दिया था पर मैं अब देखता हूं कि तू उन प्राणों को भी लेना चाहता है इसी वास्ते यहां तू स्वयं अपने हाथसे मुझे मारने आया है अच्छा ले इसका अभी तुझे मजा चखाता

हूं,, इस प्रकार कहते कहते ही उस दुष्टने तुम्हारे सचिव मरुभूतिके ऊपर वैर वश एक शिला पटक दी जिससे कि वह विचारा उसके पैरों परसे उठने भी न पाया कि उसका मस्तक चकना चूर हो गया और सहसा अंतरात्मा के साथ साथ भयके वशीभूत हुयेके समान उसके प्राण पखेरू उडगये ॥ १४–१७ ॥

अथ कुंजरशैलनिर्झरोच्चलदच्छांबुविवर्द्धितद्रुमम् ।
मलये नृवर ! प्रतीयतामनुवेगावति सल्लकीवनम् ॥ १८ ॥

जटिला परिवीतवल्कलाः स्थिरशाखाश्चलदंतपंक्तयः ।
तरवः सवयोविवृद्धयो विदिता यत्र तपोभृतोऽथवा ॥ १९ ॥

नरेंद्र ! इसी जंबू द्वीपमें एक मलय नामका पर्वत है उसपर एक वेगवती नामकी नदी वहती है और उसी के पास एक सल्लकी वन है । उस वनका सौंदर्य वडाही विलक्षण है । वहांके जो वृक्ष हैं वे मलय पर्वत के झरनोंसे झरते हुये जलसे ही वढा करते हैं वडी २ जटाओं वाले हैं, वल्कलों (छाल) से वेष्टित हैं, शाखाओं के हलन चलनसे रहित हैं, मध्यकी चंचल पंक्तियों वाले हैं, और पक्षियों की वृद्धिसे सहित हैं इसलिये लंबी लंबी जटाओं वाले, वल्कलों (पेडोंकी छाल) को पहिने हुये. वाहुओंकी चंचलता रहित और हिलते हुये दांतोंकी पंक्तिसे सहित बूढे तपस्वियों की समानता करते मालूम पडते हैं ॥ १८–१९ ॥

निजचापलतारनिस्वना नवजीवापसरच्छिलीमुखाः ।
कुसुमस्तबकध्वजोद्वहा रणधुर्या इव यत्र शाखिनः ॥ २० ॥

वे वृक्ष अपनी चपलता–हलन चलन क्रिया से उन्नत शब्द करते हैं, ध्वजाके समान पुष्पों के गुच्छों को धारण करनेवाले हैं और उडते हुये भ्रमरों से सहित हैं इसलिये अपनी चंचलतासे अधिक शब्दकरनेवाले ध्वजाओंके धारक, बाणों को छोडनेवाले रणपटु सुभटोंकी तुलना करते हैं ॥ २० ॥

अतिसर्गनिसर्गसौरभं करिभग्नं खलु यत्र चंदनम् ।
अनुशोचति निश्वसन्नली न रसज्ञस्य गुणो न तादृशः ॥ २१ ॥

उस सल्लकी वन में जहां तहां हाथिओं के द्वारा तोडे गये अतिशय सुगंधिसे सुगंधित चंदन के वृक्ष पडे हुये हैं और भौंरे उनपर गुंजार करते हैं सो उससे ऐसा जान पडता है मानों उन चंदन वृक्षों के दुःख से दुःखित हुये शोक ही कर रहे हैं सो ठीकही है–जो रसज्ञ होते हैं उनमें दूसरे के दुःखसे दुःखी होनेका गुण होताही है ॥ २१ ॥

शुषिरस्थशकुंतसंततध्वनिभिर्यत्रवशाल्मलीकुजैः ।
व्यथया क्रियते मरुच्चलशाखाशितकंटकाहतैः ॥ २२ ॥

... के शाल्मलि वृक्षों के कोटरों में नाना प्रकार के ... निवास करते हैं और वे हमेशा शब्द किया करते हैं

उससे ऐसा जानपड़ता है मानों पवन के द्वारा कपाई ग
शाखाओं के कंटकों से आहत होनेके कारण वे (शाल्मलि
वृक्ष) रुदन ही कररहे हैं ॥ २२ ॥

वनदंतिमदांबुवासिता वितता यद्विषमच्छदाश्चिरम् ।
कुसुमेषु तदीयसौरभं द्विगुणं बिभ्रति भृंगपेशलम् ॥ २३ ॥

वहां के विषमच्छद् वृक्षोंकी तो बात ही निराली है वे वन्य गजों के मदजलसे वासित होनेके कारण पुष्पोंकी दूनी सुगंधि धारण करते हैं ॥ २३ ॥

यदनेकविधैरनोकुहैर्निविडं भूरिजरल्लतावृतैः ।
श्रुतिरम्यरवाश्शिलीमुखा निविशंते न परे गुणच्युताः ॥ २४ ॥

बहुतसी पुरानी पुरानी लताओं से आवृत नाना प्रकार के वृक्षोंसे निविड उस बनमें कर्णप्रिय शब्द बोलनेवाले भ्रमर ही प्रवेश करसक्ते हैं अन्य नहीं सो ठीकही है गुणवानका सब जगह ही प्रवेश होता है ॥ २४ ॥

सुरभिर्नवपल्लवास्तरा सवया यद्वनचंदनावलिः ।
परिरभ्यतयेव भोगिभिर्नवनागैः समदैस्तु भज्यते ॥ २५ ॥

वहां सुगंधित; नवीन नवीन पल्लवों के आस्तरण वाली, पक्षियोंके समूहसे सेवित बडी बडी चंदन वृक्षों की पंक्तियांहैं परन्तु अतिशय रमणीय होनेके कारण भोगियोंके समान मत्त हाथियों से वे तोडदी जाती हैं सो ठीकही है जो भोगी हैं —विषयभोगोंमें मत्त हैं उन्हें अच्छे बुरेका ज्ञान नहीं होता ॥२५ ॥

नववाणयुताः कुजातयो विकटाक्षा विकलाः पलाशिनः।
प्रतिबिभ्रति सत्पथोन्नतिं तरवो यत्र न वन्यमानवाः॥ २६॥

उस वनमें नववाणयुताः--नवीन बाण वृक्षों से सहित, कुजातयः--कु-पृथ्वी में उत्पन्न, विकटाक्ष टेढे स्कंधवाले, विकलाः--वि--पक्षियोंके कल--शब्दोंसे व्याप्त, पलाशि--पत्तेवाले वृक्षही सत्पथोन्नति--सत्पथ--आकाशमें उन्नति--लंबाई धारण करते हैं और नवीन नवीन बाणों से युक्त, नीच जातिवाले दुर्दर्शनीय शरीरके धारक, विकल-आकुलतासहित मांसभक्षण करनेवाले जंगली मनुष्य श्रेष्ठपथकी उन्नति नहीं करते--वे सर्वदा नीच कार्य ही किया करते हैं॥ २६ ॥

वितनोति षडंघ्रये भृशं प्रमदं यस्य सदा नता लता।
सुरभिप्रसवाऽथ दंतिनामपि भूनाथ! सदानतालता।

वहांकी सर्वदा पुष्पों के भारसे नम्रीभूत हुई लतायें ही केवल अपने पुष्पों के रससे भ्रमरोंको सुखी नहीं बनातीं बल्कि सर्वदा सुगंधित मदको चुआनेवाले हस्ती भी अपनी दानशीलतासे उन (भ्रमरों) को सुखी बनाते हैं॥ २७॥

तिलकांकितगंडाभक्तया नखरन्यासखरप्रहारिणा।
हरिणाऽपसरंत्यधिष्ठिताः पृथुशैला इव यत्र कुंजराः॥ २८॥

वहां जिससमय तीक्ष्ण नखोंके प्रहारको करनेवाले सिंह अपना आक्रमण करते हैं तो तिलकसे चिन्हित गंडस्थल

वाले हाथी उनसे दूर भग जाते हैं जिससे कि उनमें विशाल चलते फिरते पर्वतोंकी शंका होती है ॥ २८ ॥

समदैर्द्विरदैर्निपातितास्तरवो यस्य निरुंधते पथः।
सरला ननु मार्गविप्लवः स्थितिभग्नैरुचितं विधीयते ॥ २९ ॥

मदोन्मत्त हाथियों द्वारा उखाडे गये सरल वृक्ष वहां मार्ग रोकते हैं सो ठीक ही है जिनकी स्थिति भग्न करदी जाय उनको मार्ग विप्लव करना ही चाहिये ॥ २९ ॥

निशि यत्र भुजंगमः स्फुरन् मणये तत्किरणोपदर्शितः।
शबरैर्विचरन्निपुध्यते धनिता हि क्वचिदंग ! मृत्यवे ॥ ३० ॥

वहां रात्रियोंमें अपनी मणिकी किरणोंसे दीखे गये इधर उधर घूमने वाले सर्प मणिकी तलाशमें निकले हुये व्याधोंसे मार दिये जाते हैं सो राजन्! ठीक ही है धनीपना भी कहीं कहीं मृत्युका कारण हो जाता है ॥ ३० ॥

ज्वलितेषु वनांतशायिभिर्निशि यस्मिन् दहनेषु चंदनैः।
प्रविमुच्य ससौरभं तरुं तमथोद्देशमटंति षट्पदाः ॥ ३१ ॥

विवृताजगरास्यगह्वरं प्रविशन्नद्रिगुहाधिया द्विपः।
ध्रुवमंचति यत्र पंचतां ननु मिथ्यात्वमनर्थकारणम् ॥ ३२ ॥

वनवर्त्ती चंदन वृक्षोंकी आग जलने पर सुगंधिवाले भी पेडोंको छोड २ कर भ्रमर वहां आने लगते हैं और फटे हुये मुहवाले अजगरको गुहा समझ कर उसमें घुमने वाला

हाथी शीघ्र ही प्राण छोड देता है सो ठीक ही है मिथ्यात्व विपरीतज्ञान महा अनर्थोंका कारण होता है ॥३१-३२॥

शवराः स्वयमुत्खनंति यद् वसुधायां लवलीरनुत्तमाः।
लघुकोद्रवसस्यवृद्धये न हि वन्येषु गुणज्ञतागुणः ॥ ३३ ॥

वहांके मूर्ख भील लोग तुच्छ कोद्रवधान्यकी वृद्धिके लिये अतिशय श्रेष्ठ लवली वृक्षोंको उखाड डालते हैं सो ठीक ही है जो जंगली मनुष्य हैं उनमें गुणोंके पहिचाननेकी बुद्धि कहांसे हो सकती है ॥ ३३ ॥

बहुमूलघनं पिधायकं पृथुरोधोजघनस्य बिभ्रती।
विमलांबुदुकूलमायतं सुतरंगावलिहंसलांछनम् ॥ ३४ ॥
परिपुष्पपयोभिरुर्जितं जननीवाखिलबालशाखिनः।
ऋजुवृत्तनया क्रमोन्नतौ घटयंती तटतल्पशायिनः ॥ ३५ ॥

सुतरंगोंकी पंक्तिरूप हंसोंके चिन्ह वाले, विशालतट रूपी जघनके आच्छादक, निर्मलजल रूपी विशाल अधोवस्त्र (दूकूल)को धारण करनेवाली वहांकी वेगवती नदी अपने तटरूपी खाट पर सोने वाले समस्त छोटे २ वृक्षोंको अपने जलसे बढाती है इसलिये उनकी माता सरीखी जान पडती है ॥ ३४--३५ ॥

त्वरयेव सवेगनिस्वना चलितुं भर्तृसमीपमुद्यता।
तरलांगतरंगपाणिभिः कृषती तीरलताः सखीरिव ॥ ३६ ॥

वेगसे शब्दोंको करने वाली वह चंचल तरंगोंसे तीरकी

लताओंको अपनेमें मिला वहा लेजाती है सो उससे ऐसा जान पडता है कि पतिके पास जानेके लिये समुत्सुक सखियोंको ही मानो वह अपने हाथसे खींचले जाती हैं ॥ ३६ ॥

अभितस्तटमंबु सल्लकीतरुनिर्य्यासकषायितोदरम्।
प्रतिपूर्य वहत्यनारतं विषमा वेगवती च यन्नदी ॥ ३७ ॥

उस वेगवतीके दोनों तटों पर सल्लकी वृक्ष हैं जिससे कि उसका जल उनके पत्तोंसे सर्वदा कषैला ही बना रहता है और वह दोनों तटों तक लबालब भर कर बहती है ३७

शुभलक्ष्मसमूहसंभृतः समभूत् तत्र महागजोऽगजः ।
प्रथितः पृथिवीतले भृशं पृथिवीघोष इति प्रभाषितः ॥ ३८ ॥

अविभागशरीरभागपि प्रबलप्रेमतयैकतां गता ।
सदृशी सुरभर्तुरभ्रमोरभवत्तस्य वशाऽपि वर्वरी ॥ ३९ ॥

राजेंद्र ! इसी सल्लकी वनमें एक शुभलक्षणों का धारक पृथ्वी तलमें प्रसिद्ध, पृथ्वीघोष नामका विशाल गज था और उसके केवल शरीर से भिन्न प्रेमकी प्रबलता से सर्वदा साथ रहने के कारण एकता को प्राप्त ऐरावतके तुल्य वर्वरी नामकी हस्तिनी थी ॥ ३८–३९ ॥

मरुभूतिरपास्य जीवितं मनमार्त्तेन विवेकमूढधीः ।
उदिते स तयोर्वनांतरे पविघोषाह्वयनंदनोऽजनि ॥ ४० ॥

मरुभूतिका जीव अपनी उस पर्याय को समाप्तकर आर्त्त

स्थानके कारण इन्ही दोनों पृथ्वीघोष और बर्वरी नामके हाथी हाथिनियों के यहां वज्रघोष नामका विवेकरहित मूढ बुद्धि हाथी हुआ ॥ ४० ॥

चटुपाटलपुष्करोदरः स विरिंखन्निजाचिकळीलया।
पितरौ सुतरामसूमुदत् सजलस्निग्धघनाघनाच्छविः ॥ ४१ ॥

जल सहित मेघके छविका धारक वह जिस समय अपनी नासिका (सूंड) से पाटल वृक्षोंको उखाडकर क्रीडा करता था तो उससमय अपने माता पिताओं को अतिशय आनंदि करदेता था ॥ ४१ ॥

वपुषा किमपि प्रपुष्यता स पितुः पीतवयास्समीपगः।
गिरिराजसमीपवर्तिनीमहरद् गंडशिलोच्चयश्रियम् ॥ ४२ ॥

अपने पिताके पास रहकर दिन पर दिन बढते हुये शरीर वाला वह वज्रघोष गंडस्थलकी मुटाई से गिरिराज हिमालय पर्वत के पासकी शिलाओंके ढेरकी शोभाको हरण करता था ॥ ४२ ॥

कलभेन मदोल्लसत्कटाः स्वयमुद्भिन्नविषाणकोटिना।
अभवन् प्रतियोद्धुमक्षमाः करिणस्तेन करालतेजसा ॥ ४३ ॥

अधुनाजवने प्रवर्तिते वयसि प्राप्य स यूथनाथताम्।
वपुषा विपिनं विभूषयन् गिरिणेव स्थिरतामुपेयुषा ॥ ४४ ॥

छोटे छोटे दांतोंवाला वह यद्यपि छोटी उम्रका थ

तो भी उसके बलके सामने गंडस्थलोंसे मद जलको चुश्रानेवाले बडे बडे हाथियों के भी छके छूट जाते थे-वे भी उससे लडनेमें पार नहीं पाते थे इसलिये युवावस्थाके प्राप्त होने पर यूथनाथताको प्राप्त हाथियोंके समूहका राजा होकर वह वनकी शोभाको वढानेवाला चलता फिरता पहाड सरीखा मालूम पडता था ॥ ४३–४४ ॥

वनविभ्रमणोद्भवश्रमः स्फुटमध्यंदिनसंधिवेलया ।

करिणीभिरमाऽवगाहते स हि ताल्दृयसं सरिज्जलम् ॥ ४५ ॥

वनमें घूमने से जिस समय वह थक जाता और मध्यान्ह के सूरज की तेज गर्मी उसे सताती तो वह हथिनियों के साथ साथ विशाल वेगवती के गहरे जलमें घुस अवगाहन करता ॥ ४५ ॥

करकर्णिमुदस्य भूतलाद् घनकर्पूरपरागमुद्वहन् ।

अवतारमिवेंद्रदंतिनः प्रथयत्येष वनाधिवासिनाम् ॥ ४६ ॥

जिस समय पृथ्वी तलसे अपनी सूंढ द्वारा कर्पूर परागको उठा वह धारण करता तो वनमें रहनेके लिये आये हुये एरावतके तुल्य जान पडता था ॥ ४६ ॥

स्वयमभ्यवहारशेषितं तरुषंडादवकृष्य पल्लवम् ।

अनुरागमिव स्वयेनवे स भृशं यच्छति पाटलच्छविम् ॥ ४७ ॥

वह जिस समय अपना आहार पूरा कर चुकता तो

मूर्तिधारी अनुरागके समान अपने शुंडादंड द्वारा वृक्षोंसे लोहित पल्लवोंको तोड तोडकर हथिनियोंके लिये देता था ॥४७॥

प्रतिवाति वनांतवल्लरीकुसुमामोदिनि मंदमारुते ।
स नदीपुलिनाभिसंश्रयो निशि निद्रासुखसिद्धिमृच्छति ॥ ४८ ॥

रात्रियोंमें वनवर्त्तिनी लताओंके पुष्पोंसे सुगंधित ठंडी ठंडी हवाके वहने पर नदीके पुलिनमें वह जा सोता और सुखसे खूब नींद लिया करता था ॥ ४८ ॥

अनुजस्य वधेन तापसैः कुपितैराश्रमतो बहिः कृतः ।
कमठोऽपि किरातगृह्यतां निजचेष्टासदृशीमपद्यत ॥ ४९ ॥

जिस समय अन्य तपस्वियोंको यह बात मालूम हुई कि दुष्ट कमठने अपने छोटे भाई मरुभूतिको शिला पटक मार डाला है तो उन्होंने उसे अपने आश्रममें रखना अनुचित समझा और उसे वहांसे निकाल बाहिर किया। कमठ तपस्वियोंके इस व्यवहारसे बहुत दुःखित हुआ और अन्य कुछ मार्ग न देख किरातोंमें जा अपने स्वभावके अनुसार कार्य करने लगा ॥ ४९ ॥

नगरे क्वचनारिसायकैर्निहतो गोग्रहणे स लुब्धकैः ।
असुभिर्निरमुच्यत प्रियैरपि दुष्कर्मकृतो न बंधवः ॥ ५० ॥

एक दिनकी बात है कि कमठ किसी नगरमें किरानों के साथ धावा करने गया। वहां उसका अपने साथियोंके

साथ एक गाय लेनेके विषयमें विवाद ठन गया। विवाद यहां तक बढा कि उनकी आपसमें मारा मारी हो पडी बाणोंके द्वारा कमठके प्राण पखेरू किनारा कर गये सो ठीक ही है दुष्कर्मा–पापी लोग किसीके मित्र नहीं होते ॥ ५० ॥

अजनिष्ट स पापचेष्टितोऽसूनुन्मुच्य राजप्रियावने (?)।
कुकुवाकुफणी पुराकृतं ननु काले नियमेन पच्यते ॥ ५१ ॥

पापी कमठ मनुष्य पर्याय छोड उसी सल्लकी वनमें कुकवाकु जातिका सर्प हुआ सो ठीक ही है पूर्व कृत शुभ अशुभ कर्म अवश्यही अपना फल देते हैं वह विना फल दिये कभी नही रहते। अर्थात् पापी कमठने वडे वडे पाप किये थे तदनुसार ही उसे तिर्यंच गतिमें जाना पडा ॥ ५१ ॥

पतिपुत्रवियोगदु:खिता परिहृत्यैवमसूननुधरी।
खलकर्मविपाकदोषतो विपिने तत्र बभूव मर्कटी ॥ ५२ ॥

पति और पुत्रके वियोगसे मरुभूति की माताको वेहद दु:ख हुआ। वह रात दिन उनके मोहमें दु:खित रहने लगी इस वास्ते अशुभ कर्मके उदय आने पर आयुके अंतमें मर कर वह उसी वनमें वानरी हुई ॥ ५२ ॥

नृप ! तत्र कषायरंजितं प्रविधेयं विदुषा निजं मन:।
रिपुरस्ति कषायसंनिभो न परस्ततदु:खलंभन: ॥ ५३ ॥

राजेंद्र ! इसवास्ते विद्वानोंको चाहिये कि अपना मन

कभी भी क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिसे दूषित न करें क्योंकि संसारमें इस जीवके ये कषाय ही सर्वदा दुःख देनेवाले प्रबल शत्रु हैं इनसे बढकर दुःख और अहित करनेवाला कोई भी नहीं है ॥ ५३ ॥

अविरम्य यथेष्टमाचरन्नुपचित्याशुभकर्मपुद्गलान् ।
परिपक्वरसानुपालिहन्ननु शेते भृशदुःखितो जनः ॥ ५४ ॥

विनियम्य मनो जिनेश्वरे विदधत् साधुसमाधिभावनाम् ।
कृशतां नय पंच कर्मणः परिणामान्नृप ! बंधवाहिनः ॥ ५५ ॥

पहिले तो ये प्राणी ऐसे मत्त और विषयोंमें लिप्त हो जाते हैं कि इन्हें कुछ भला बुरा सूझता ही नहीं। जो कुछ मनमें आया वैसाही करने लग जाते हैं और अशुभ कार्मण वर्गणाओं का खूब ही संग्रह कर डालते हैं परंतु पीछे जब उनका फल भोगना पड़ता है तो अत्यंत दुःखित होते हैं और पश्चात्ताप करते फिरते हैं। इसलिये हे नृप ! तू सर्वदर्शी, हितंकर जिनेश्वरके चरणोंमें अपने मनको लगा श्रेष्ठ समाधिकी ओर ध्यान दे और मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग इन पांच कर्म बंधनके हेतुओंको कृश कर अर्थात् इनसे जो तेरी आत्मामें कर्म आते हैं उन्हें न्यून कर ॥ ५४-५५ ॥

इति तस्य निशम्य शंसितव्रतमुख्यस्य मुखोद्गतं वचः ।
प्रभुरभ्यमनायत क्षितेस्तपसे भीतमना भवभ्रमात् ॥ ५६ ॥

जिससमय अरविंद नरेशने उन स्वयंप्रभ मुनि महाराजके मुखसे मरुभूति और कमठके वृत्तांत को सुनकर उनकी वास्तविक दशाको जाना और संसारकी विचित्रता समझी तो वह सांसारिक दुःखोंसे भयभीत हो घवडाने लगा और उस दुःखसे निवृत्त होने के लिये तप करनेका विचार करने लगा ॥ ५६ ॥

अविनश्वरसौख्यकारणं प्रतिबोधं तमबाधया धिया ।
विषयोपनिपातसंभवाः प्रतिबद्धुं प्रभवो न भुक्तयः ॥ ५७ ॥

अभिषिच्य नरेंद्रमात्मनस्तनयं राज्यधुरे नराधिपः ।
स तपोधुरमग्रहीद् यथाविधि तस्यैव मुनेरनुज्ञया ॥ ५८ ॥

अविनश्वर–मोक्षसुखके कारण भूत उसके उस वैराग्य ज्ञानको इंद्रिय विषयोंके भोगसे उत्पन्न होनेवाले क्षणस्थायी सुखकी इच्छायें न रोकसकीं–उनसे उसके वैराग्यमें कोई भी बाधा न आई इसलिये वह अपने नरेंद्र नामक पुत्रको राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर मुनिकी आज्ञा से यथा विधि दीक्षाले तपस्वी हो गया ॥ ५७–५८ ॥

परिहृत्य वाहिर्विभूषणं मणिहारांगदकुंडलादिकं ।
अन्तरलमयं पुनर्दधे स वरं मुक्तिवधूविलोचनम् ॥ ५९ ॥

अधिगम्य पुनर्विनिर्णयं स्वयमंगेषु स तीव्रसंयमः ।
गुणगौरवमूलमुच्चकैरवधिज्ञानमवापदद्भुतम् ॥ ६० ॥

मुनि अरविंदने बाह्य भूषण अंगद कुंडल आदिक तो

सर्वथा छोड दिये परन्तु मुक्तिरूपी ललनाको दिखलानेकी सामर्थ्य वाले महाव्रत रूपी रत्नोंसे जटित आंतरंगिक भूषण पहिन लिये। वे महा घोर तप तपने लगे, उन्हें अंगोंका ज्ञान हो गया और समस्त गुणोंके मूलभूत आश्चर्य कारक अवधिज्ञानके भी वे स्वामी हो गये ॥ ५९-६०॥

चिरमुग्रतया तपश्चरन्नवधिज्ञानमयेन चक्षुषा।
अवशेषमपश्यदायुषः स निजं द्वादशवर्षसंश्रितम् ॥ ६१ ॥
परिहृत्य गुणी गणान्वयं विदधानः पुनरात्मसंस्क्रियां।
जिनचैत्यगृहान् विवंदिषुः सह सार्थेन ययौ दयानिधिः॥ ६२॥

इसप्रकार उत्कृष्ट और उग्रतपको तपते हुये जब उन्हें बहुत वर्षं वीत चुकीं तो इन्होंने एकदिन अपने अवधिज्ञानसे अपनी आयुको विचारा और जब उससे उसे केवल बारह वर्ष शेष पाया तो इन्हें अपने आत्म संस्कारको विशेष रीतिसे करनेकी चिंता हुई। वे अपना गण और अन्वय छोड एकाकी विहार करनेमें तत्पर हुये। किसी समय वैश्योंके संघके साथ ये जिनेंद्र भगवान्के तीर्थोंकी वंदना के लिये निकले ॥ ६१-६२ ॥

शिबिरे वणिजां निवासिते सति तास्मिन्नवसल्लकीवनम्।
समया समयातिभीतिमान् क्वचिदाश्लिष्ट शिलातले यमी ॥ ६३ ॥

मार्गमें जाते जाते इन्हें वही सल्लकी वन पडा जहां कि मरुभूतिके जीवने गजकी पर्याय पायी थी। संघ वहां

पडाव डालनेकेलिये ठहर गया, मुनि महाराज अपनी चर्या करनेमें पूर्ण सावधान थे, वे समयोल्लंघनसे बहुत डरते थे इसलिये किसी शिला पर जा विराजे ॥ ६३ ॥

विनयावनताननतामसः शशिगुप्तप्रमुखान् वणिग्वरान्।
मलकर्द्दमभर्द्दनक्षमामशिषद् धर्मकथां यथागमम् ॥ ६४ ॥

उनके चारो तरफ धर्म कथा सुनने के प्रेमी विनयसे नम्रीभूत, शास्त्र चर्चा करनेमें निपुण शशिगुप्त प्रभृति श्रावक लोग बैठे। मुनि महाराज उन्हें पाप रूपी कीचडको धोने वाले धर्मका विशेष रूपसे आगमानुसार व्याख्यान देने लगे ६४

मरुभूतिचरः करी तदा पविघोषो मदभेदभीषणः।
जनघोषनिपीडितश्रवाः कृतकोपः शिबिरांतकं ययौ ॥ ६५ ॥
त्वरया गिरिराजसंनिभः स निवेशे वणिजां समभ्रमत्।
क्षुभितार्णवतोयदुःस्थतां कृतभीतिर्जनसंहतिर्दधौ ॥ ६६ ॥
भयतुन्नतया समुच्चरन् ककुबंतं जनताध्वनिर्ययौ।
वसुधोद्वहनाय दीक्षितान् स्वयमाक्रष्टुमिवाष्टदिग्गजान् ॥ ६७ ॥

मरुभूतिके जीव वज्र घोष नामक हस्तीने जब मनुष्योंका कोलाहल सुना तो उसे बडा ही क्रोध आया। वह अपने मद से मत्त हो उस संघ–शिविर की तरफ दौड़ा और जंगम गिरि राजके समान उस पडाव में चारो तरफ घूमने लगा जिससे क्षोभित समुद्रके समान लोगोंमें खलबली मच गई हा हा शब्द होने लगे, कोई किधर को कोई किधरको

भागने लगा। अपने दीर्घ चीत्कारसे लोग पृथ्वीको वहन करने वाले आठो दिग्गजोंको पुकारते हुए मालूम होने लगे ॥ ६५—६७ ॥

अशमी समवार्तिनो वपुः कुपितस्य प्रथयन्निव द्विपः ।
शिबिरं निजघान घस्मरः करदंतप्रमुखैर्निजायुधैः ॥ ६८ ॥

हाथी अपनी भयंकरता से कुपित यमराजके समान मालूम पडने लगा। उसने अपनी सूंड और दांतों आदिके घर्षणसे अनेकोंकी जान ले डाली ॥ ६८ ॥

मनुजं मनुजेन गां गवा हयमश्वेन लुठन् स निष्ठुरम् ।
अवधीदवधौ निजायुषां ननु तत्तस्य वधाय साधनम् ॥ ६९ ॥

मनुष्यों को मनुष्यों में घोडों को घोडोंमें और बैलोंको बैलों में फैंक फैंक वह मारने लगा। सो ठीक ही है जिसकी आयुके पूर्ण होनेमें जो कारण होता है उसीसे उसकी मृत्यु होती है ॥ ६९ ॥

सुभटस्य समुत्क्षिपन् वपुर्निहतस्य स्वकरेण सत्पथे ।
इयतीति पराक्रमोन्नतिर्गुणवश्यः स्वयमब्रूवीदिव ॥ ७० ॥

वह किसी किसी पुरुषको अपनी सूंडसे आकाशमें उछाल ने लगा सो मानो अपने पराक्रम की उन्नति- ऊंचाई ही वह अपने आप बतलाता था ॥ ७० ॥

नभसि महिता नरावली द्विरदंतस्य करेण सक्षता ।
रुधिरेण सिषेच भूयसा निजमन्युप्रचयोपमामृता ॥ ७१ ॥

जो लोग उसने आकाश में फेंके उनके खून से पृथ्वी सिंच गई सो ऐसा मालूम होने लगा मानो उसके क्रोधका समुदाय ही चारो तरफ बह रहा है॥ ७१ ॥

अवलंब्य करेण पादयोः क्षितिपृष्ठे रदिना निपीडितम्।
शतधा विभिदे नृणां शिरो न निकारार्तिसहोत्तमांगता ॥ ७२

पैर पकड कर जिन लोगोंको उस हाथी ने पृथ्वीपर मारा उन के शिरोंके खील खील उड गये सो ठीकही है जो उत्तम हैं वे तिरस्कार सहन नहीं कर सक्ते ॥ ७२ ॥

अभजन् गजदंतकीलितास्तुरगाः शोणितशोणमूर्तयः।
शशिकोटिविदारितोरसो नवसंध्याजलदस्य विभ्रमम् ॥ ७३ ॥

हाथी के दांतोंकी नोंकों से चीडे जाने के कारण रुधिरसे घोडों के शरीर लाल हो गये सो उस से चन्द्र किरणों के तेज द्वारा विदारित नवीन संध्या कालीन मेघका सा भ्रम होने लगा ॥ ७३ ॥

विनिकृत्य रुषा तनूभृतां प्रविकीर्णेषु शिरस्सु दंतिना।
बहुदिग्मुखता स्वयं दधे सभियेव मपलायितुं भुवा ॥ ७४ ॥

हाथी द्वारा क्रोधमें आ समस्त दिशाओंमें फेंके गये मृत मनुष्यों के मस्तकों से ऐसा जान पडने लगा कि हाथीके भयसे पृथ्वी ही बहुत मुंह धारण करके दिशाओंमें भागी जा रही है ॥ ७४ ॥

इति भूमिविहायसोर्वधं द्विरदे तन्वति सार्थवासिनाम् ।
रुधिरप्रवहा तरंगिणी वनभूमावुदपादि भूयसी ॥ ७५ ॥

इस प्रकार उस दुष्ट हाथीने जब बहुतसे मनुष्योंका संहार किया तो उस वनमें खूनकी नदी बह निकली ॥७५॥

मदसौरभलोभविभ्रमद्भ्रमरालीकलदीर्घझंकृतम् ।
निजविक्रमकीर्त्तनोपमं स विशृण्वन् विपरीतवेदकः ॥७६॥

स हि तांत्रकरालनिर्गमे नृकबंधं परिवार्त्तिताकृतिम् ।
प्रविधूत्य करेण विभ्रमन्नुपतस्थौ यतिपुंगवं द्विपः ॥ ७७ ॥

मदकी सुगन्धिके लोभ से आये हुए पराक्रम की पराकाष्टा को गाते हुए के समान भ्रमरों के झंकार से सहित वह अज्ञानी हाथी जब संघका बहुतसा नाश कर चुका तो मनुष्यों के रुंडों को सुंड से पकड पकड कर घुमाने लगा और क्रमसे वह उन मुनि महराज के पास भी आया ॥

मुनिराजविलोकनक्षणप्रतिबुद्धेतरजन्मसंस्क्रियः ।
समबुद्ध स पौदनाधिपं मरुभूतिं स्वमपि द्विपाधिपः ॥ ७८ ॥
प्रतिबुद्धमना भवस्थितौ स विनिंदान्निजकर्म निर्मदः ।
प्रणनाम मुनींद्रपादयोर्गुरुशोकोद्गतबाष्पलोचनः ॥ ७९ ॥

ज्यों ही उस ने उन मुनि महाराज को देखा त्यों ही उसे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। उसने अपने जाति स्मरणके बल से पोदनपुर के स्वामी अरविंद नरेश को पहचान लिया और साथही अपने को भी मरुभूति

का जीव जान उसे बहुत दुःख हुआ उसने अपने इस दुष्कृत की बार बार निंदा की उसका हृदय दुःख के उद्गारों से भर गया। नेत्रोंसे अश्रुधारा वहचली और नम्र हो मुनिमहाराज के चरणों में गिर पडा ॥ ७८-७९ ॥

भुशुभीतिपलायिता जनाः पुनरभ्येत्य सवालयोषितः ।
अरविंदमुनींद्रसंनिधौ सुचिरं तस्थुरवेक्ष्य विस्मयम् ॥ ८० ॥

हाथी की मुनि दर्शनसे यह दशा देख लोग आश्चर्य करने लगे। जो पहिले उससे डर कर भागे थे वे अपने २ स्त्रियों और बाल बच्चों सहित आ आ कर मुनि के चरणों के समीप इकट्ठे होने लगे और बहुत देर तक ठहरे ॥ ८० ॥

अवधिं प्रणिधाय संयमी मरुभूतिं प्रतिपद्य तं गजम् ।
कृपया द्विपकर्मलाघवप्रहितो वाचमवोचदीदृशीम् ॥ ८१ ॥

मुनिमहाराजने जब हाथो की यह दशा देखी तो उन्होंने अपने अवधिज्ञान की तरफ ध्यान दिया और उसे मरुभूति का जीव जान इस प्रकार वचन कहना प्रारंभ किया ॥ ८१ ॥

कुशलं तव भद्र ! किं पुनः स्मरसि व्यक्तमिभेंद्र ! पौदने ।
सचिवस्त्वमहं च भूपतिर्ननु वत्स्याव इमौ मिथः प्रियौ ॥ ८२ ॥
अनुरागवशीकृतो भवान् मतमस्माकमुदास्य यद्गतः ।
फलितं तव तेन कर्मणा मृगजन्मेदमथोचितं रुषा ॥ ८३ ॥

" गजेंद्र ! कुशलसे हो ! क्या मुझे तुम पहचानते हो? में पोदनपुर का स्वामी अरविंद हूं क्या तुम्हें अपनी याद है

कि तुम मेरे मंत्री मरुभूति रहे थे। और क्या तुम्हें यह भी स्मरण आता है कि हम और तुम किस तरह वहां एकसाथ प्रेमसे रहा करते थे? तुमने जिस समय मुझसे अपने बडे भाई के साथ मिलने की इच्छा प्रकट की थी तो मैंने तुम्हें हदसे जादा रोका था परन्तु तुमने मेरी एक न चलने दी और अपने मनही की बात की। उसी का यह फल है कि तुम्हें आज इस नीच तिर्यंच योनिमें जन्म लेना पडा ॥ ८२--८३ ॥

हृतवार्त्तिपथायि मानसं तिमिरं तत्परिमार्जनं वचः।
गुरुबंधुजनोपदर्शितं कथमुल्लंघ्यमतो हितैषिणां ॥ ८४ ॥

मानसिक अंधकार-अज्ञान (मोह) बडा ही प्रबल होता है वह अच्छे बुरे का विचार नहीं करने देता। उसको दूर करने में तैल और बत्तीका दीपक काम नही देता। उसको दूर करने वाले तो गुरु और बंधुओं के हितकारी वचन ही होते हैं इस लिये जो अपने हित को चाहने वाले हैं--सुखसे रहना चाहते हैं उन्हें अपने बडे लोगोंके वचन कभी न टालने चाहिये उनका कभी भी उल्लंघन करना उचित नहीं ॥ ८४ ॥

मदमुग्धमिदं क जन्म ते क पुनर्मन्त्रिपदं महोदयम्।
सुघटीकुरुते हि दुर्घटं ननु कर्मानवबोधबृंहितम् ॥ ८५ ॥

अरे भाई! देखो! कहां तो यह मदसे मुग्धताको उपजाने वाला हाथी का नीच जन्म। और कहां अच्छे २ विचारों

को प्रकट करने वाले महान उदय की खानीस्वरूप मंत्री का पद, यह सब अज्ञानता का ही फल है। इसी अज्ञानता के सबबसे उपार्जन किया गया अशुभ कर्म ही इस जीव को दुर्घट वातों का भी सामना करादेता है—अशुभकर्मसे जिन दुःखों का हम ख्याल भी नहीं कर सक्ते वे आ हमें उपस्थित हो जाते हैं॥ ८५ ॥

अवधेयमिदं ततस्त्वया जिनधर्मादपरं न जन्मिनाम्।
भवदुःखनिबर्हणक्षमं सुखयत्नोपनतं निरूप्यते॥ ८६ ॥

इसलिये अबसे तुम्हें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि संसार में जन्म मरण के दुःखों से छुड़ानेवाला एक जिनधर्म ही है उसी के सेवन करने से नाना कल्याणों की प्राप्ति होसक्ती है इसके सिवाय–जिनधर्म के विना ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जो वास्तविक सच्चे सुखको प्राप्त करासके॥ ८६ ॥

सुखमिच्छुरुपावहे रुचिं जिनतद्वागभिधेयवस्तुषु।
भवसि त्वमनेन कर्मणा गज! सम्यक्त्वसमृद्धमानसः॥ ८७ ॥

मलपंचकवर्जितद्युतिं दृढसम्यक्त्वमयं महागुणम्।
गजरत्न! जगत्रयीशिखामणिता ते दधतो भविष्यति॥ ८८ ॥

यदि तुम सुख चाहते हो, वास्तवमें दुःख भोगनेसे डरते हो तो जिनेंद्र भगवान के प्रतिपादित शास्त्रोंमें श्रद्धान करो, उनके बतलाये हुये पदार्थों को उसी रूपसे मानो और उन

जिनेंद्रनाथमें भी अविचल भक्ति रक्खो । यदि तुम इन बातों को कार्यमें परिणत करोगे—करने लग जाओगे तो तुम्हारे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जायगी और सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जाने से—उसे अतिचार रहित निर्दोष पालतेरहने से तुम्हें क्रमशः सबसे उत्तम तीन लोकके अग्रभागमें स्थित पद—मोक्षस्थान प्राप्त हो जायगा ॥ ८७-८८ ॥

जिनपुंगवपादपद्मयोस्तनु भक्तिं शतमन्युमान्ययोः ।
दुरितद्रुमपंक्तिपाटने भवतः सैव परश्वधायते ॥ ८९ ॥

इसलिये तुम्हें सबसे प्रथम यह उचित है कि इन्द्र धरणेंद्र आदि द्वारा पूज्य भगवान जिनेंद्रके चरणों में गाढ भक्ति करो-उन्हें अपने हृदयमें स्थान दो । तुम्हारे पापरूपी वृक्षोंके काटने में वे ही कुठारी का काम देंगे । भावार्थ—जिस प्रकार कुठारी वृक्षों की पंक्ति को काट निर्मूल कर डालती है उसीप्रकार भगवान जिनेंद्र के चरण कमलोंमें की गई भक्ति भी तुम्हारे पापों को समूल नष्ट करदेगी ॥ ८९ ॥

कुरु कुंजर ! मानसे रतिं दृढसम्यक्त्वमरालराजिते ।
त्वमणुव्रतपद्मसद्मनि प्रियपुण्यांबु निगाह्य पीयताम् ॥ ९० ॥

हे गज श्रेष्ठ ! तुम दृढ सम्यग्दर्शनरूपी हंस से शोभित पंच अणु व्रत रूपी पद्मोंसे भरे हुये अपने मनरूपी मानस सरोवरमें प्रवेश करो और मिष्ट पुण्य रूपी जलका स्वादले तृप्त होओ । भावार्थ—सम्यग्दर्शन को धारणकर अहिंसा आदि

स्थूल पंच पापों के न करने की भी प्रतिज्ञा लेओ और पुण्य उपार्जन कर सुखी वनो ॥ ९० ॥

जहि कोपमपायकारणं जहि प्रौढांगदमं मदोद्धतिम् ।
गजराज ! जहीहि मत्सरं त्वममैत्रीं च जहाहि देहिभिः ॥९१॥

इसके सिवाय तुम्हें यह भी उचित है कि जीवका सर्वथा नाश-अहित करने वाले कोप को छोडो, प्रौढ अंगों की दमन करने वाली मदोन्मत्तता को तिलांजलि देदो, दूसरों से ईर्ष्या करना छोडदो और समस्त प्राणियों के साथ शत्रुता करने से भी वाज आजाओ--सबके साथ मित्रता का व्यवहार करना प्रारंभ करदो ॥" ९१ ॥

इति तत्त्वविदो वचोऽमृतं प्रतिजग्राह पुरो महागजः ।
विकसत्करपुष्करेण तं पुनरानर्च निपत्य पादयोः ॥ ९२ ॥

मुनि अरविंदके जिससमय ये ओजस्वी वाक्य उस हाथीने सुने तो उसका हृदय गद्गद् हो गया । वह उनके स्वीकार करने में दृढ प्रतिज्ञ हुआ और भक्ति में आ पैरों में पड उनकी पूजा करने लगा ॥ ९२ ॥

अभिनंद्य गते मुनीश्वरे प्रति संमेदमसंगया गिरा ।
तमुदीक्ष्य करी स तस्थिवान् सुचिरं तद्विरहाभिदुःखितः ॥ ९३ ॥
अविगृह्य मुनिक्रमांबुजं भ्रमरीभूय गते स्वमानसे ।
अमनाक इव न्यवर्तत स वने वन्यकरेणुवल्लभः ॥ ९४ ॥

चेष्टासे मुनि महाराज उसके हृदयस्थ अभिप्रायको सम-

भ्र गये उन्होंने उसके इस कार्यका बहुतही अभिनंदन किया।
अपनी इच्छानुसार मुनि महाराज जब संमेदाचलकी ओर वंदना करनेकेलिये विहार करगये तो उनके विरहसे पविघोष को महान दुःख हुआ उसका मनरूपी भ्रमर मुनि महाराज के चरण कमलों में लीन होगया-उस को वारवार उन्हीं की याद आती रही इसलिये जंगली हथिनियों का प्यारा वह अमनस्क (उदास मनरहित-शोकाकुल) के समान वन में रहने लगा ॥ ९३-९४ ॥

वनकुंजरयूथवाहिते पथि निर्जंतुतया स पावने।
विजहार विलोक्य वासरेष्वचलः सन्नचलोपमो निशि ॥ ९५ ॥

मुनिराज के वचनानुसार हाथी अपने व्रतके पालने में तत्पर हो अधिक सावधानी रखने लगा। वह प्रातः काल होनेपर जिस मार्ग से अनेक हाथी निकल जाते थे जो जंतुओं से रहित हो जानेके कारण पवित्र हो जाता था उसी से देख देख कर गमन करता था और रात्रियोंमें वह जीवों के घातके डरसे कभी कहीं न जाता था। बल्कि अचल—पर्वत के समान वह एक जगह ही खड़ा रहता था ॥ ९५ ॥

उपवासपरंपरावधेरनसूयन् वनदंतिजातये।
करणाद्विपदर्पशातनं विदधे साधु स भव्यकुंजरः ॥ ९६ ॥

उसने अब वनगजों के साथ ईर्ष्या करना सर्वथा छोड़

दिया-वह उनके साथ कभी भी क्रोध का वर्ताव न करने लगा परन्तु उनके वदले में उसने अपनी इंद्रियरूपी हस्तियों के मान मर्दन की ठानली, वह उपवासोंकी परंपरासे—लगातार अनेक उपवासों से इंद्रियों के बल को कम करने लगा॥ ९६॥

क्षुधितोऽपि कृपागुणान्वयात् स्वयमच्छिन्नवनद्रुमांकुरः।
दुरघांकुरसंघमक्षिणोन्नियमायामिकरेण वारणः॥९७॥

यद्यपि वह भूखा रहता था उसे क्षुधाकी वाधा होती थी तोभी अपनी दयाकी रक्षाके लिये हरे हरे वृक्षों के अंकूरे नहीं तोडता था इसलिये उसके नियम रूपी विशाल शुंडादंडकी प्रवलतासे पापरूपी वृक्षोंके समूहके समूह टूट पडते थे अर्थात् अहिंसा व्रतको निरतिचार पालने से उसका पाप शीघ्रही नष्ट होता जारहा था॥ ९७॥

महनद्विपखंडितोज्झितैर्मितवृत्तेर्गुणपुष्टिमिच्छतः।
व्रत तस्य करीरपल्लवैस्तनुरीर्ष्याभृदिवाभवत्तनुः॥ ९८॥

वह अपने शरीर की पुष्टि न चहा गुणों की पुष्टि चाहता था, उसकी वृत्ति परिमित थी वह स्वयं वृक्षोंको न छेद जंगली हाथियों द्वारा छेदकर छोडे गये करीर के वृक्षके पल्लवों से ही अपना पेट भरता था इस लिये गुणों की पुष्टिसे ईर्ष्या युक्त हुई के समान उसकी देह धीरे२ कृश हो गई॥ ९८॥

रुचिरांजनसुप्रतीकतां दधदाध्यायदनुज्झितादरः ।
जिनराजमरालभूषणं गुणहैम्याचलगं स मानसम् ॥ ९९ ॥

सुंदर श्वेत रंगका धारक वह आदर सहित हो गुण-रूपी हिमाचल को प्राप्त जिनराजरूपी हंससे भूषित अपने मन रूपी मानस सरोवर को करता हुआ रहने लगा। अर्थात् उसने अपने मनको जिनराजकी भक्ति में लगाया और गुणों की तरफ ध्यान रक्खा ॥ ९९ ॥

गजयूथगृहीतशेषितं जलमच्छं स निपातुमिच्छया।
उपशल्यसमृद्धकर्दमं विजगाहे गहने जलाशय ॥ १०० ॥
नियमैः कृशतांगमक्षमं चलितुं गाढमुदस्य कर्दमम् ।
तनुखंडगतः स दृष्टवान् गजराजं कुकवाकुपन्नगः ॥ १०१ ॥
अभिपत्य स पूर्वया रुषा नयनाभ्यां विषवह्निमुद्वहन् ।
विददंश गजस्य मस्तकं न नृशंसस्य दयास्ति साधुषु ॥ १०२ ॥

एक दिन वह हाथी गज समूहके द्वारा पीनेसे बचेहुये स्वच्छ जलको पान करनेकी इच्छासे किसी पासके काई कीचड वाले तालाबमें गया था कि वहां वह उस में फंसगया और तप नियम द्वारा अग कृश हो जानेके कारण निकलने में असमर्थ हुआ। कमठ का जीव जो कुककाकु जातिका सर्प हुआ था वह इस सब वृत्तांत को वहां किसी काठ के टुकडे पर बैठा बैठा देखरहा था। गजराज को देखते ही उसे पूर्व भवके वैरके कारण क्रोध आगया, उसकी आंखोंसे

विषाग्निके कण झरने लगे उसने तत्कालही हाथीके मस्तकमें अपने दांत गढा दिये। सो ठीकही है जो क्रूर होते हैं—जिनमें राक्षसता ही वास करती है उनमें दयाका लेश भी कहांसे होसकता है—वे साधु--सज्जनों में भी कहांसे दया करसक्ते हैं ॥ १००—१०२ ॥

असहिष्णुरवेक्ष्य मर्कटी मरणं पुत्रचरस्य पन्नगम्।
निजघान निपात्य दुस्तरं दुरितं तद्भव एव पच्यते ॥ १०३ ॥

मरूभूतिकी माता, जोकि मोहवश मरकर वानरी हुई थी वह अपने पूर्वजन्मके पुत्र मरुभूतिके जीव गजका मरण न देखसकी। उसने पूर्वजन्मके प्रेमसे प्रेरित हो उस कुकवाकुके ऊपर एक पत्थर पटक दिया जिससेकि उस सांपके भी प्राण पखेरू उसीदम वहांसे उड गये। सो ठीक ही है—जो प्रबल पाप होता है उसका उसीभवमें फल मिलजाता है ॥ १०३ ॥

उपपत्य फणी स पंचमे नरके षोडशसागरोपमम्
अशुभोदयजातवेदनाफलमश्नन्नशयिष्ट दुष्टधीः ॥ १०४ ॥

पत्थरके पटक देनेसे मरकर सांप पांचवें नरक गया और वहां सोलह सागर प्रमाण अशुभ कर्मके उदयसे जायमान वेदनाओंका भोग करता हुआ वह दुष्टबुद्धि अपनी करनी का फलपाने लगा ॥ १०४ ॥

विषवेदनयाऽनुधाविता मतिभृंगी सहसा विषाणिनः।

जगदेकशरण्यमर्हतश्चरणाब्जं शरणं भयाद् ययौ ॥ १०५ ॥

कृकवाकुके काटनेसे पविघोषको बडी पीडा हुई। वह उसकी वेदनासे व्यथित हो संसारके प्राणियोंको शरण देनेमें साधु अर्हंत भगवानके चरणोंका स्मरण करने लगा—उसकी बुद्धिरूपी भ्रमरी भयसे भगवानके चरण कमलोंमें जा लीन हो गई ॥ १०५ ॥

अवमर्षसुधानिषेकतः स्वपरध्वंसिशरीरनिःस्पृहः।
स समाधिमभव्यदुर्लभं विषवेदादवतिस्म सिंधुरः ॥ १०६ ॥
प्रणिधाय पुरः स शंफलीरिव पंचापि गुरुस्तवाक्रियाः।
दिविजश्रियमुद्धिरन्पुनर्विषविद्धां विजहौ जरत्तनुम् ॥ १०७ ॥

निश्चयसे विनष्ट हो जानेवाले शरीरमें निःस्पृहा रखने वाले उस हाथीने अपने ज्ञानरूपी सुधाके सेकसे अभव्योंको सर्वथा प्राप्त न होनेवाली अपनी समाधि उस विषकी वेद-नासे बाल बाल बचाली। पांचों परमेष्ठियोंकी स्तुतिमें अपने मनको लगाते हुये उस हाथीने विष-विद्ध अपने पुराने जीर्ण शीर्ण शरीरको छोड स्वर्ग लक्ष्मीको पाया ॥ १०६-१०७ ॥

कृतपुण्यतया न शुद्धदृक् न महाशुक्रमुपेयिवान् दिवम्।
अभवत् स पतिः स्वयंप्रभप्रथिताख्यानविमानसंपदाम् ॥ १०८ ॥

गजने अपनी सामर्थ्यानुसार तपकर महान पुण्य कमाया था इसलिये वह महाशुक्र नामकस्वर्गमें जा उत्पन्न हुआ और प्रसिद्ध स्वयंप्रभ नामके विमानकी समस्त संपत्तियों-का स्वामी हो गया ॥ १०८ ॥

स मुहूर्त्तसमग्रयौवनां तनुमिद्धां शयनोपपादिताम् ।
अवहन्नवदीप्यषोडशाभरणाभिद्युतिपिंडगर्भिताम् ॥ १०९ ॥

वह पहिले उपपाद (देवोंके जन्मस्थानका नाम है) शय्यामें जा उत्पन्न हुआ और पीछे मुहूर्त्त मात्रमें शरीरकी यौवन लक्ष्मीसे मंडित हो गया । उसका देदीप्यमान शरीर सोलहो प्रकारके चम चमाते हुये नवीन आभरणोंकी कांति के समूहसे चम चमाने लगा ॥ १०९ ॥

नवरत्नमरीचिमेचके शयनीये स निषेदिवान् क्षणम् ।
प्रचुराब्धितरंगसंगिनस्तपनस्यानुचकार भास्वरः ॥ ११० ॥

नवीन नवीन रत्नोंकी किरणोंसे कर्बुरित उपपाद शय्या पर बैठा हुआ वह, समुद्रकी प्रचुर तरंगोंके संगसे संयुक्त सूर्यकी नकल करने लगा ॥ ११० ॥

स विमानगृहाद् विनिस्सरन्नमरैर्दुंदुभिनादबोधितैः ।
जयकारनिरुद्धदिङ्मुखैर्ददृशे सांजलिबंधमस्तकैः ॥ १११ ॥

जिस समय वह मरुभूतिका जीव देव विमान गृहसे निकला तो दुंदुभियोंके प्रचुर नादसे बोधित बहुतसे देव उसके पास आये और हाथ जोड नमस्कार पूर्वक अपने जय जयशब्दोंसे दशों दिशाओंके मुखोंको गुंजायमान करने लगे ॥ १११ ॥

अधिरोप्य स रत्नपीठिकां स्नपितस्मन् सुधया सुधाशनैः ।
त्रिदशाद्रितटस्य संदधे श्रियमिंदुद्युतिमध्यवर्तिनः ॥ ११२ ॥

देवोंने अपने स्वामी उस स्वयंप्रभ विमानके पति देव का अमृत धारासे अभिषेक किया जिससे कि वह चंद्रकांतिके मध्यवर्ति सुमेरु पर्वतके तटकी अनुपम शोभाको धारण करने लगा ॥ ११२ ॥

निपतत्कुसुमावलिच्छलात् स्वयमेनं प्रति नूतनाश्रिया।
सविलासमुदास्यत ध्रुवं धवलस्निग्धकटाक्षपद्धतिः ॥ ११३ ॥

देवोंने जो उसके ऊपर पुष्पोंकी वर्षाकी उससे ऐसा मालूम होने लगा मानो नवीन लक्ष्मी रूपी स्त्रीही उसके ऊपर अपने स्निग्ध, विलास सहित कटाक्ष छोड रही है ११३

वनितामुखचन्द्रमंडलक्षरदालोकरवच्छदामृतैः।
परिषेकवती बभूवतुः श्रवसी तस्य चिराय सार्थके ॥ ११४ ॥

देवांगनाओंके मुखरूपी चंद्र मंडलसे निकलते हुये जय जय शब्द रूपी अमृत धारासे अभिषिक्त होनेके कारण उसके कर्ण सार्थक होगये ॥ ११४ ॥

विवृतात्मविभूतयोऽमराः प्रभुसेवासमवायिनोऽम्बरे।
अमृतोदधिवीचिविभ्रमं न विबभ्रुर्न विधूतचामरैः ॥ ११५ ॥

अपनी अपनी विभूतिको दिखलानेवाले देव एकत्र हो आकाशमें उसके ऊपर चमर ढोलनेलगे जिससे क्षीरसमुद्रकी तरंगोंका भ्रम होने लगा ॥ ११५ ॥

परिवृत्य तमीश्वरं मुदा मधुरं गायति किंनरीगणे।
अपरोपनतानभिज्ञया सुमनस्यप्यमनस्कताऽभवत् ॥ ११६ ॥

उस अपने स्वामी देवको चारो तरफसे वेष्टित कर जब किंनरियां गाने लगीं तो उस प्रदेशकी अज्ञानताके कारण सुमनस (अच्छे मनवाला, देव) होने पर भी वह अमनस्क सरीखा (मन रहित-बावडा, आश्चर्यान्वित) हो गया ॥ ११६ ॥

मददिग्धकपोलसौरभागतकल्पद्रुमपुष्पषट्पदाः।
गजरूपतया विकृत्य तं प्रभुमेके दिविजाः सिषेविरे ॥ ११७ ॥

जिनका हाथी हो सेवा करनेका नियोग था वे देव मदकी प्रबल सुगंधिके कारण कल्पद्रुमों के पुष्पों परसे आये हुये भ्रमरोंसे शोभित गंडस्थलोंके धारक हाथी बन उसकी सेवा करने लगे ॥ ११७ ॥

अनुबंधिनमन्यजन्मनो नियमक्लेशमिवास्य मुष्णता।
चमरीरुहभारभामिनीनिकरेण प्रभुरभ्यवीज्यते ॥ ११८ ॥

बहुत सी चमर ढोलने वाली देवांगनायें पूर्व जन्ममें किये हुये तपसे आई हुई खिन्नताको दूर करनेकेलिये ही मानो उस उत्तम देव पर चमर ढोलने लगीं ॥ ११८ ॥

कनकांबुरुहेषु भृंगनिध्वनिताम्रेडितकिंकिणीरवाः।
ननृतू रसभावपेशलं प्रियमस्योपनिनीषव स्त्रियः ॥ ११९ ॥

व्योमध्वजैरनवशेषमभूत् पिनद्धं
नानाविमानशिखरोच्छ्रितकर्दंडैः।
दिग्भित्तयः सुकृतिनो जननं समंतात्
गंभीरदुंदुभिरवैः स्फुटिता इवासन् ॥ १२० ॥

बहुतसी इस देवको प्रसन्न करनेकी इच्छासे स्वर्ण कमलोंपर आये हुये भ्रमरोंके शब्दोंको किंकिणियोंके शब्दसे दूनी करती हुई देवांगनाएं हाव भावसे पेशल नाच नाचने लगीं और वहुत कहां तक कहा जाय! जिस समय इस देवकी उत्पत्ति हुई तो समस्त आकाश नाना विमानों की शिखरों पर लगे हुये उच्च रत्न दंडोंकी ध्वजाओंसे व्याप्त होगया। दिशायें दुंदुभियोंके गंभीर नादसे विदीर्ण हो गईं॥ ११९-१२० ॥

पश्यन् स वैभवमिदं सविचारचेताः
प्राप्यावधिं भवनिमित्तमुपेत्य धात्रीम्।
हेमारविंदनिवहैररविंदमुच्चै--
रानर्च तच्चरणपातितरत्नमौलिः ॥ १२१ ॥

विविधकुसुमवर्गैः प्राच्यमभ्यर्च्य देहं
सपदि सुकृतवेदी स्वर्गमभ्युज्जगाम।
मुकुटमणिमयूखैरुल्लिखन्नाभ्रकूटे--
ष्वभिविलसदखंडामर्त्यकोदण्डलक्ष्मीः ॥ १२२ ॥

जब हाथीके जीवने यह सब कौतुकावह दृश्य देखा तो वह विचार सागरमें गोते खाने लगा। भवके निमित्तसे उत्पन्न हो जाने वाले अवधिज्ञानकी तरफ ध्यान लगा उसने अपना समस्त पूर्ववृत्तांत जान लिया जिससे कि वह शीघ्र ही पृथ्वी (मध्य लोक) पर आया और सबसे पहि-

ले अपने वास्तविक हितू अरविंद मुनिकी सुवर्ण कमलों से पूजाकर उनके पैरोंको नमस्कार किया पश्चात् अपनी पुरानी (गजकी) देहको नवीन नवीन फूलोंसे सत्कृत कर देवोंकी उत्कृष्ट लक्ष्मी का धारक वह अपने मुकुट की किरणोंसे आम्रकूट पर्वत की शिखरों का घर्षण करता हुआ स्वर्गको चला गया ॥ १२१-१२२ ॥

आख्यां शशिप्रभ इति प्रथितां दधानो
देवः स शोणशतपत्रपलाशलेश्यः ।
मासाष्टके सुरभिनिश्वसितैकवृत्तिः
स्वर्गे बभौ चतुररत्निवपुःप्रमाणः ॥ २३ ॥

उस मरुभूतिके जीव देवका ' शशिप्रभ ' यह प्रसिद्ध नाम पड़ा । उसके पद्म व शुक्ल लेश्या (परिणाम) हुई । वह आठ महीनेमें एकवार श्वास लेता था । उसका चार अरत्नि प्रमाण वास्तविक शरीर था ॥ १२३ ॥

भोक्ता वर्षसहस्रषोडशतया दिव्यामृतस्याप्सर—
स्स्तोमालिंगनलब्धरम्यपरमप्रीत्युद्गमश्रीनिधिः ।
तस्थौ दिव्यवधूकटाक्षनिपतन्नेत्रद्विरेफावली—
नित्यासेव्यमनोज्ञमूर्तिसुमनाः स्वर्गे द्विरष्टार्णवान् ॥ १२४ ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते
महाकाव्ये वज्रघोषस्वर्गगमनं नाम
तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

वह सोलह हजार वर्षमें एकवार दिव्यामृतका आहार करता था और उसकी समस्त आयु सोलह सागर प्रमाण थी इसलिये देवांगनाओंके समूह के आलिंगन मात्रसे परम प्रीतिको प्राप्त होनेवाला और उनके [देवांगनाओं के] सकटाक्ष गिरते हुये नेत्ररूपी भ्रमरोंसे सर्वदा सेवनीक मनोज्ञ मूर्तिका धारक वह वहां आनंदसे रहने लगा ॥ १२४ ॥

इसप्रकार श्रीवादिराजसूरिविरचित श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरित
महाकाव्यकी भाषा वचनिकामें वज्रघोषके स्वर्ग
गमनको कहने वाला तीसरा सर्ग
समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः।

प्रवृद्धजंबूद्रुममुख्यलांछनप्रभावितद्वीपविशेषमध्यमः।
निसर्गहेमच्छविमंडलोदरः स्थिरस्वभावोऽस्ति सुमेरुपर्वतः ॥ १ ॥

उन्नत पृथ्वी जातिके जंबू वृक्षसे चिन्हित जंबूद्वीप नामी इस द्वीपके ठीक मध्यभाग में एक सुमेरु नामका पर्वत है वह स्वाभाविक—अकृत्रिम सुवर्णकी छविसे सर्वदा देदीप्यमान रहता है और सर्वथा अचल है ॥ १ ॥

समंततो यः प्रभयावगाहते नभःप्रदेशांस्तपनीयपिंगया।
जिनार्भकस्नानपयोरसाप्लुतः सदा विवार्द्धिष्णुरिवावतिष्ठते ॥ २ ॥

उसकी प्रभा सुवर्ण के समान पिंगल होने के कारण अपने चारो तरफके आकाशको पीला ही पीला किये रहती

है । उसपर हमेशा बालक जिनेन्द्रका देवोंद्वारा अभिषेक हुआ करता है इसलिये उनके अभिषेक जलसे सिक्त वह विवर्द्धिष्णुके समान मालूम पडता है ॥ २ ॥

बिभर्त्ति यः स्वर्वनिताविनर्त्तनं नवस्वभावं सुरतालसंगतम् ।
गुहागृहेष्वप्सरसामपि व्रजं प्रियांकशय्यासुरतालसंगतम् ॥ ३ ॥

बहुतसी देवांगनायें तो वहां अपने पति देवोंद्वारा बजाई गई तालोंके साथ साथ हाव भावसे पेशल नवीन नवीन नाच नाचती हैं और बहुतसी उसकी गुफाओंमें जा अपने पतियों की गोदमें रतिक्रीडा करती हैं ॥ ३ ॥

पयोधरभ्रंशितशुभ्रदंशुका विभक्तमूलागतहस्तविक्रिया ।
वधूरिव प्रेमवती दिनात्यये यदंगमालिंगति तारकावली ॥ ४ ॥

रात्रि के समय जिसप्रकार पयोधर—स्तनोंसे भ्रंशित वस्त्रवाली स्त्री अपने पति का प्रेमसे आलिंगन करती है उसी प्रकार पयोधर-मेघोंसे भ्रंशित किरणवाली तारकाओंकी पंक्ति उस सुमेरुका स्पर्श करती है ॥ ४ ॥

स्थिरप्रकृत्या जगति प्रतीयते नितांतमाक्रांतमरुत्पथोऽप्ययः ।
रसातलस्थोऽपि दिविस्पृगुच्चकैः रविस्वभावोऽपि सुवर्णसंभवः ॥५

वह पर्वत सर्वथा अचल है, आकाशको व्याप्त किये हुए है, जडसे पाताल तक नीचे गया है, चोटीसे स्वर्गको छूता है, सूर्यके समान पीत, अकृत्रिम है और सुवर्ण का है ॥ ५ ॥

सुरद्रुमच्छायसुखेषु सानुषु प्रक्लृप्तगीतं सुरसुंदरीगणम् ।
करोति यस्तन्मणिरश्मिभूषितं गुणो हि नन्वेष रसावगाहिनः ॥६॥

उसकी शिखरों पर जो कल्प वृक्षोंकी छायामें बैठ २ कर देवांगनायें गाना गाती हैं उससे प्रसन्न हुये के समान वह उन्हें मणिकी किरणों से भूषित करदेता है सो ठीक ही है जो रसावगाही होते हैं उनमें बदला देनेका गुण होता ही है ॥ ६ ॥

अनोकहा यन्मणिशृंगशेखरा नभोऽवरुंधंत्यरुणप्रभोद्गमे ।
अनारतं बिभ्रति पर्णसंहतीः प्रवालभावानतिवर्तिनीरिव ॥७॥

जिस समय सूर्यका उदय होता है तो उसकी प्रभाके प्रभाव से मणिकूटोंके वृक्षोंकी किरणें आकाश को अवरुद्ध करने लगती हैं और पत्ते सर्वदा प्रवाल भाव को अनतिक्रम किये हुये कोंपलसरीखे मालूम होने लगते हैं ॥ ७ ॥

पतत्रिणां यत्र जलाशयोद्भवं न पुंडरीकावृतिपांडुकंबलम् ।
तनोति न श्रीजिनराजमज्जनं शिलातलं बिभ्रति पांडुकं वलम् ॥८॥

वहां के जलाशयोंका, पुष्पों की परागसे पीला जल तो पक्षियों को बल प्रदान करता है और पांडुक शिला श्रीजिनेंद्रभगवानके अभिषेकको धारण करती है ॥ ८ ॥

विवेकचारी विषयेषु मध्यमः समस्तशाखाभृदवाप्तसत्पथः ।
प्रपद्य यः स्वभ्रतया तनूभृतां व्यनक्ति विद्वानिव लब्धवर्णताम् ॥९॥

जिस प्रकार विद्वान् मनुष्य विवेकचारी–विवेकसे हिता-

हित विचार पूर्वक काम करता है, विषयेषु मध्यमः-इंद्रियोंके विषयमें अधिक लवलीन नहीं होता, समस्तशास्त्रभृत्-समस्त शास्त्रोंको जाननेवाला होता है, अवाप्तसत्पथाः-श्रेष्ठ मार्गका आश्रय करता है और लोगों को अपनी लब्धवर्णता-साक्षरता प्रकट करता है उसी प्रकार जो पर्वत विवेकचारी-पक्षियोंके संचरणसे युक्त, विषयों-समस्त देशोंमें मध्यम-मध्यवर्ती है, समस्तशाखाभृद्-वृक्षोंसे अवाप्तसत्पथ-आकाश को व्याप्त किये है, और स्वभ्र सुवर्णका होनेसे लोगोंको लब्धवर्णसा मालूम पडता है ॥ ९ ॥

महीरुहोदंतदमीशुमंडलप्रकाशितव्योमगृहोदराश्रये ।
नितांतमंधंकरणं शरीरिणां न यत्र रात्रावपि जृंभते तमः ॥१० ॥

वहा सर्वदा जाज्वल्यमान वनस्पतियोंके तेजसे आकाशमंडल देदीप्यमान रहता है इसलिये रात्रियोंमें भी लोगोंको अंधकार से जायमान दुःख नहीं भोगना पडता ॥ १० ॥

चकास्ति नित्यं विषयोऽस्य भूभृतः पुरो विदेहे महनीयवैभवः ।
जिनेश्वरश्रीमुखनिर्गतं वचो यमाख्यया शंसति पुष्कलावतीम् ॥११

इसी पर्वतकी पूर्वदिशामें एक प्रसिद्ध विदेह क्षेत्र है और उसमें विशाल वैभवका धारक, पुष्कलावती नामका देश जिनेंद्र भगवानने बताया है ॥ ११ ॥

उदक्तटं मंडयति स्वभूगुणैश्चिराय सीतासरितो निवासभूः ।
नभश्चराणां कुमुदार्जुनच्छविर्विभाति तस्मिन् विजयार्द्धपर्वतः १२

यदि त्रिलोकोदरभांडसंभृतः स्थिरैकराशिर्धवलो गुणो भवेत् ।
स्वरश्मिभिः प्रोन्नमितांबराशयः स तस्य लीलां भृशमुद्वहेत् गिरेः ॥

पुष्कलावती में जो सीता नदी बहती है उसके उत्तर तटपर विद्याधरों का निवास स्थान, अर्जुनपुष्पके समान शुभ्र एक विजयार्धपर्वत है । उसकी वह शुभ्रता इतनी बढी चढी है कि यदि तीनों लोकोंका धवल शुभ्रगुण एकत्र हो जाय तो वह अपनी किरणों से आकाश को शुभ्रकरनेवाले उसपर्वत की तुलना करसके ॥ १२-१३ ॥

बभूव तस्मिन् घनवर्त्मचारिणां प्रभुस्त्रिलोकोत्तमनामबिभ्रतः ।
पुरस्य गोप्ता यमनुश्रवान्विता वदंति वेगं खलु विद्युदादिमम् १४

उस विजयार्धपर्वत के ऊपर एक त्रिलोकोत्तम नामका विद्याधरोंका नगर है और उसका स्वामी विद्युद्वेग था ॥१४॥

अमूल्यरत्नोज्ज्वलमौलिमंडनो विहारसौख्याय चरिष्णुरंबरे ।
घने निशीथेऽपि ततान पश्यतां सविस्मयं यः खरदीधितौ धियम्॥

अमूल्य रत्नों के मुकुट को धारण करने वाला वह जिससमय विहार करनेकेलिये आकाशमें गमन करता था तो आधी रात्रिके समय वह लोगों को अपनेमें (मुकुटकी तेजस्विता के कारण) सूर्यका भ्रम करादेता था ॥ १५ ॥

अनन्यसाधारणसिद्धविद्यया दुरासदः संयति वीरविद्विषाम् ।
इरंमदं वारिमुचीव पाडुरे गिरौ प्रतापं प्रथयांबभूव ॥ १६ ॥

उसे दूसरोंको सर्वथा अप्राप्य विद्यायें सिद्ध थीं इस-

लिये युद्धमें प्रबल भी वैरियोंसे वह कभी न जीता जासका था और इसी कारण वह मेघमें बिजलीके समान उसपर्वतपर तेजस्वी विख्यात होगया था ॥ १६ ॥

अनेकधा यस्य चकार संगता समुत्सवादानमहीनभोगता ।
जगत्युपापद्यत कीर्त्तिवल्लरी समुत्सवादानमहीनभोगता ॥ १७ ॥

उसे संसार के समस्त भोग-इंद्रिय सुख प्राप्त थे। वह सर्वदा अनेक उत्सव और दान किया करता था इसलिये उसकी कीर्तिरूपीलता समस्त पृथ्वी और आकाशमें व्याप्तहोगई थी ॥ १७ ॥

बहुष्वपि स्त्रीषु स हारि यौवनं न्यबुद्ध विद्युत्पदपूर्वमालया ।
अनेकवल्लीसमवायि नंदनं सुकल्पवल्ल्येव विभाति भूषितम् ॥ १८

यद्यपि उसके वहुतसी रानियां थीं तो भी वह अपने मनोहर यौवनका आनंद विद्युन्मालाके साथही लेता था. सोठीकहा है नंदन वनमें यद्यपि वहुतसी लतायें रहती हैं तो भी उसकी शोभा केवल कल्पलतासे ही होती है ॥ १८ ॥

प्रविश्य तन्मानसमंगजद्विपः कदर्थयामास बली नभश्चरः ।
निपीडय तत्कुंभधिया प्रियाकुचौ स नूनमाश्लिष्यदलक्षितांतरम् ॥

विद्युन्माला महारानीके मनमें प्रविष्ट कामदेवरूपी बलवान हस्ती बुरीतरह पीडन करता था इसलिये वह अपनी प्रियाके जो कुच थे उन्हें तो कामरूपी उस गजके उन्नत कुंभ समझ मर्दन करता था और जो हृदय था उसे उसका गुप्त स्थान समझ दृढतासे आलिंगन करता था ॥१९॥

स यौवनोत्सेकवनप्रभावुकस्मराख्यदावाग्निविदाहवेदनां ।
पिबन् प्रियामुग्धमुखेंदुमंडलस्फुटाधरोष्ठामृतसारसुज्जहौ ॥ २०

वह अपने यौवनरूपी वनमें लगी हुई कामरूपी दावाग्नि की असह्य दाह को रानीके मनोहर मुखमडंलरूपी चंद्रमाके खंडस्वरूप अधरोष्ठके पानसे निसृत अमृत द्वारा शांत करता था ॥ २० ॥

इति प्रियावल्लभयोस्सुचित्तयोर्बभूव पुत्रः शुभकर्मचित्तयोः ।
स यं समाख्यांति शशिप्रभामरं दिवश्च्युतोऽवाप्य यशः शुभामरम्
स जातमात्रो यदवापि वान्वितो जवेन विश्वान् गुणराश्मिभिर्गुणी ।
ततः समाख्यायत रश्मिवेग इत्यभिख्यया बंधुजनेन बधुरम् ॥

इसप्रकार कामजन्य नाना सुखोंको भोगते हुये और शुभ कर्ममें सदा लवलीन उन राजा रानियोंके शुभ यशको प्राप्तकर स्वर्गसे च्युत शशिप्रभनामका देव आकर पुत्र उत्पन्न हुआ और उसने शीघ्रही अपने अनेक गुणोंके तेजसे समस्त पृथ्वी मंडल को प्रकाशित करदिया इसलिये उसका रश्मिवेग नाम रक्खा गया ॥ २२ ॥

स मुग्धगुर्लोहितपाणिपंकजः स्वभावनिर्द्धूततमा नवोदयः ।
शिशू रविर्वा गिरिशृंगारिंखिनो ऽ्यधत्त नित्यं सुखचारिणः खगान्

जिसप्रकार मुग्धगु—मनोहर किरणवाले लोहितपाणिपंकज —किरणों से कमलको लोहित करनेवाले, स्वभावसे ही अंधकार के नाशक, उदयाचल पर विराजमान नवीन-

बालसूर्य को देखकर लोगों को सुखहोता है उसीप्रकार मुग्ध-शु-मनोहर-तोतली बोलीवाले, लाल लाल हस्तकमलके धारक स्वाभाविक ज्ञानसे विशिष्ट, विजयार्द्ध पर्वत के भूषण स्वरूप उस नवीन बालक को देख देख कर विद्याधरोंको सुख होनेलगा ॥ २३ ॥

पितुः प्रयत्नेन मुदे स खेलितः सुविस्मिताविर्दशनांशुनिर्गमैः ।
अतर्कितोपस्थितचंद्रिकां जनान् वियत्यविद्याविदपि व्यबोधयत् २४

जिस समय पिताके प्रमोदके लिये वह खेलता था और हंसीमें अपने दांतोंकी किरणें चारो तरफ विस्तारता था तो विना विद्याका धारक भी वह आकाशमें अचानकही आये-हुये चंद्रमाकी भ्रांतिको करादेता था ॥ २४ ॥

विनोदयंत्रे शयनीयसंश्रयं स मुग्धवृत्तिः स्थिरदृग् विलोकयन् ।
व्यधत्त धात्रीरुपकंठवर्तिनीर्मुदा युजो व्यक्तमसुक्तपूर्वया ॥ २५

शयन स्थानमें रक्खे हुये विनोदयंत्रको जिससमय वह स्थिर दृष्टि (टकटकी लगाकर) से देखता था तो पासमें बैठी हुई धात्रियोंको अननुभूत सुखसे सुखी बना देता था ॥

जुगुप्सयेवानवबोधदुर्लभं चिराय बाल्यं जहतं जनप्रिया ।
क्रमेण विद्याप्रहितेव शंफली तमार कौमारदशा गुणाश्रयम् ॥२६॥

गुणोंके स्थानभूत उस बालकने अपनी बाल्य अवस्था को अज्ञानकी उत्पन्न करनेवाली समझ करही मानो घृणा-से धीरे धीरे छोडना शुरुकिया और विद्या-ज्ञानसे मंजी

हुई के समान कल्याणकारिणी कौमार-पंचमवर्षीय अवस्था आ पहुंची। भावार्थ—कुमार रश्मिवेगने पांचवे वर्षमें पैर रक्खा और अतएव सिद्ध मातृका (वर्णमाला) पूर्वक विद्या पढनेका समय आगया ॥ २६ ॥

गुरुप्रभावं विनयावलंबिनं दृढानुरागं स्मितपूर्वभाषिणम् ।
ययौ तमुन्मुच्य निवेशि चापलं नपुंसकस्यास्ति न पुंगुणे रुचिः ॥

कुमारावस्थाके आने पर पुत्र रश्मिवेगकी हालत बदल गई। उसका प्रभाव वढगया। विनयसे नम्र हो अनुराग पूर्वक कुछ मुस्करा मुस्करा कर वह बातचीत करने लगा और पहिले जो उसमें बालकावस्थाके कारण चापल्य (चंचलता) था वह भी उससे विदा होगया। सो ठीक ही है जो नपुंसक होते हैं वे पुरुषोंके गुणोंमें प्रीति नहीं करते। चापल शब्द नपुंसक लिंग हैं इसलिये उसने पुरुषके गुण विनय, प्रभाव आदिमें प्रीति न कर अपना रास्ता पकडा—वह उसमें न रहा ॥ २७ ॥

समं वयस्यैर्विनयेन तत्परो गुरूपदेशोपनतासु बुद्धिमान् ।
विभज्य विद्यासु स लघ्वाशिक्षत स्वयं हि भव्यस्य गुणाः पुरस्सराः ॥

कुमार होनेसे चिरंजीव रश्मिवेग के पढानेका प्रबंध किया गया और वह अपने समान उम्रवाले बालकों के साथ साथ विनय पूर्वक अध्ययन कर गुरुद्वारा पढाई गई समस्त विद्या-

थोंमें शीघ्रही पारंगत होगया । सो ठीकही है जो भव्य होते हैं-जिनके अनंतज्ञान आदि गुण शीघ्रही प्रकट होने वाले होते हैं उनमें गुण अपने आप आकर प्रवेश कर लेते हैं ॥ २८ ॥

कलाभिरुच्चैः प्रसितं निसर्गतः कषायनिम्नं खलु तस्य मानसम् ।
वहन्न जह्रे नयनैर्नतभ्रुवां विवृत्तपाठीनसमानविभ्रमैः ॥ २९ ॥

यद्यपि कुमार रश्मिवेगको युवावस्था धीरे धीरे आ रही थी परन्तु उसका मन क्रोध मान माया लोभ के प्रपंचसे रहित था कषायोंका प्राबल्य उसके मनपर नहीं था और स्वाभाविक गुणोंसे वह सहित था इसलिये जलमें उछलती हुई मछलियोंके समान चंचल नेत्रवाली युवतियोंके कटाक्ष बाणों से वह न विध पाया था ॥ २९ ॥

विशुद्धवृत्तं तमवाप्तसत्पथं मनोज्ञकांतिं नयनोत्सवाकृतिम् ।
स्मरावहश्चंद्रमिवावलोकयन्नलब्ध नालिंगितुमंगनाजनः ॥ ३० ॥

जिसप्रकार विशुद्धवृत्त—सर्वप्रकार गोल, अवाप्तसत्पथ-आकाशमें स्थित, मनोज्ञ कांतिवाले, नयनोंके प्यारे, काम देव के उत्पादक चंद्रमाको कोई आलिंगन नही कर सकता उसी प्रकार विशुद्धवृत्त—शुद्ध चारित्र वाले, अवाप्तसत्पथ—श्रेष्ठमार्गमें चलनेवाले, मनोहर कांतिके धारक, नेत्रोंके प्रिय, देखनेसे कामको उत्पन्न करनेवाले उस कुमारका कोई भी

स्त्री स्पर्श न कर सकी अर्थात् उस कुमारने किसी भी स्त्रीके साथ अपना विवाह न किया ॥ ३० ॥

अमुष्य नानागुणवस्तुसंग्रहाच्चिरं जिगीषोर्विषयोपभुक्तये ।
स्वनिग्रहापत्तिभयादिव स्वतो न चित्तकोशः करणैरुपाधेः ॥ ३१

विषय भोगोंको जीतनेकी इच्छा रखने वाले इस कुमारका हृदयरूपी खजाना नाना गुणरूपी वस्तुओंके संग्रहसे भराथा इसीलिये मानो अपने नाश होजाने के भयसे ही अहंकार आदिने उसे न अपनाया, उन्होंने उसमें प्रवेश करना अभीष्ट न समझा ॥ ३१ ॥

सहारवक्षःपरिदिग्धचंदनोऽवतंसयन्मुद्रिकचाः समल्लिकाः ।
स्वचित्तशुद्धयेव बहिर्विवृद्धया व्यभूष्यतां पांडुदुकूलमंडनैः ॥ ३२

वह कुमार गलेमें सुंदर मोतियोंका हार पहिनता था, शरीरमें चंदनका लेप करता था, खिलेहुये वेलाके फूलोंका शिरोभूषण बनाता था और श्वेत धोती दुपट्टा पहिनताथा इसलिये "उसके चित्तकी भीतरी विशुद्धि ही अधिक होनेसे बाहिर निकल आई है" ऐसा मालूम पडता था ॥ ३२ ॥

अनन्यकांतागुणलब्धमानसं महानुभावं तमवाप्य वल्लभम् ।
सुदेव सर्वं सुधिये समर्पयांबभूव तस्मै हृदयं सरस्वती ॥ ३३ ॥

गुणी, श्रेष्ठ बुद्धिवाले उसकुमारके मनको अन्य किसी भी स्त्रीके गुणने नहीं अपना पाया था इसीलिये ही मानो

सरस्वतीने हर्षमें आकर अपना समस्त हृदय उसे अर्पण कर दिया था अर्थात् वह अद्वितीय विद्वान् होगया था ॥ ३३ ॥

स बद्धरागः स्थिरसौख्यलंबिनीं बबंध भक्तिं जिनदेवपादयोः ।
विवेकविद्यामयतल्पशायिनो मनःप्रिया सैव मनीषितप्रदा ॥ ३४

उस कुमारका राग अविनाशी सुख प्राप्त कराने वाली जिनेन्द्रभगवानके चरणकमलों की भक्तिमें ही था विवेक और विद्यारूपी शय्यापर शयनकरनेवाले उस भव्यकुमारको वही (जिनेंद्रमें भक्ति) सबसे अधिक प्यारी थी और उसेही अपने अभीष्ट की प्रदात्री समझता था ॥ ३४ ॥

स सत्यवादव्रतमक्षतं दधत् दधौ न चित्ते भयलोभसंनिधिम् ।
विभज्य लोकद्वयकव्यमाचरन् न तद्विघाताय कृती कृतादरः ॥

वह सत्यव्रतका इतना निर्दोष पालक था कि उसने कभी भी भय वा लोभ के फन्दमें पड मिथ्या-प्रलाप न किया था । इसलोक और परलोकके हितको करनेवाली समस्त क्रियायों को भी वह निरतीचार हो पालता था । उसने उभय लोकके विघातक किसी भी कार्यको कभी भी आश्रय न दिया था ॥ ३५ ॥

अनुस्मरन् पूर्वभवस्य कर्मणां स लाघवात् भोगवितृष्णमानसः ।
गुरू प्रतिश्राव्य कथंचिदंचितो समाधिगुप्तस्य ययावुपांतिकम् ३६

कर्मोंकी स्थिति कम रह जानेके कारण एक दिन

उस कुमारको अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और उस-का विचार करते करतेही वैराग्य होगया । वह अपने पूज्य माता पिताकी आज्ञा लेकर इंद्रिय भोगोंसे सर्वथा वितृष्ण हो समाधिगुप्त मुनिमहाराजके चरणोंमें जा पहुंचा ॥ ३६ ॥

विरज्य तत्रानवनं वनं गते नभोगकन्याः परिपक्वयौवनाः ।
निवृत्तकामानुभवं भवं तदा विरूढशोकाः स्वयमभ्यमंसत ३७ ॥

वैरागी हो सर्वथा रक्षण रहित वनमें उस कुमारके चले जाने पर परिपक्व यौवनवाली विद्याधर-कन्यायें शोकाकुल होती हुई अपने जन्मको कामानुभवरहित मानने लगीं ॥ ३७ ॥

निवेद्य तस्मै गुरवे स धीरधीर्भवार्णवावर्तनिपातभीरुताम् ।
अनुज्ञया तस्य तपस्तपोनिधेरुपादिताऽर्हत्परमेष्ठिभाषितम् ॥ ३८॥

वह रश्मिवेग अपने मनकी संसार समुद्रमें परिभ्रमण करनेके कारण जायमान भीरुताको उन मुनि महाराज की सेवामें निवेदन कर तपग्रहण करनेकी आज्ञा मांगने लगा । और उन मुनिमहाराजने भी उसकी प्रबल इच्छा देख तप-करनेकी आज्ञा देदी जिससे कि वह अर्हंत भगवानद्वारा प्रति-पादित निर्दोष तपको तपने लगा ॥ ३८ ॥

प्रभौ तदाज्ञां भुवनैकजित्वरीं बलादवज्ञाय तपोवनं गते ।
ह्रिया ध्रुवं निह्नुतविग्रहं जनास्ततः प्रभृत्याहुरनंगमंगजम् ॥ ३९॥

जब कामदेवने तीनो लोकमें समान रूपसे चलनेवाली

अपनी अप्रतिहत आज्ञा को उल्लंघन कर तप तपनेवाले कुमारको देखा तो उसे इसबातसे बडी ही लज्जा आई। उसने अपने को संसार में मुंह दिखाने लायक भी न समझा इस लियेही मानो छिपजाने के कारण उसदिनसे वह अनंग कहलाने लगा॥ ३९॥

सुधीरधीयन् परमागमं मुनिर्जितश्रमो विश्रुतसंयमाश्रयः।
निरंजनः सन्नघसंचितत्परस्तपांसि तेपे बहिरंतरप्यसौ॥ ४०॥

कुमार रश्मिवेग तपस्वी हो मुनियोंके योग्य आचरण करने लगे। आगम को पढना प्रारंभ कर दिया। परीषहों को जीतनेमें शक्ति खरचने लगे। पापों को दूर करने में तत्परता दिखाने लगे और अंतरंग तथा बहिरंग दोनो प्रकारके निर्दोष तप तपने लगे॥ ४०॥

विविक्तरम्यां स गुहामुपाश्रितो महाहिमाद्रेर्महनीयसंयमः।
अवास्थितोत्सर्गविधानकर्मणा समानयन् साधुसमाधिभावनाम् ४१

निवृत्य दुःखान्नरकात्चिरायुषा भुजंगभूयं प्रतिपद्य कर्मणा।
अरिश्च तस्मिन् निवसन् गुहागृहे दृशा तमैक्षत रोषरूक्षया ४२

एक दिन ये मुनि महाराज हिमालय पर्वतकी निर्जन गुफामें कायोत्सर्ग धारण कर विराजमान थे और साधु समाधिभावनाका चिंतवन कर रहे थे कि—इनके पूर्व वैरी कमठके जीव अजगरने जो कि अपने अशुभ कर्मकी प्रबल-

तासे नरक गया था और फिर वहांसे आकर तिर्यचायुके उदयसे इसी गुफामें सांप हुआ था-इन्हे क्रोध भरी दृष्टिसे देखा ॥ ४१-४२ ॥

वहन् वपू रासभरोमधूसरं विभक्तसारच्छविमंडलोचितम् ।
प्रकामनिश्वासहुताशनिर्गमप्रतप्तपूर्वस्थितशाड्वलद्रुमम् ॥ ४३ ॥

स दीर्घपुच्छप्रविवर्त्तनस्फुटत्बृहच्छिलाकूटकठोरशब्दितः ।
चिरंतनक्रोधविवृद्धमत्सरो विलोलजिह्वाप्रविदारिताननः ॥४४ ॥

उस अजगरका शरीर गदहेके बालोंके समान मटमैला था । प्रकृष्टतासे निकलती हुई श्वासोच्छासोंकी अग्निसे अपने सामने की घासको तपा रहा था । लंबी पूंछके पटकने से फटती हुई विशाल शिलाओंके कठोर शब्दोंको कर रहा था और चिरकालीन वैरके आवेशसे क्रोधमें आ मुंह फाड-कर अपनी जीवको बार बार लहरा रहा था ॥ ४३-४४ ॥

विरूढतालद्रुयसो महावपुः सवेगमभ्येत्य स मृत्युसंनिभः ।
करालदंष्ट्रांकुरकोटिपाटितं चकार वैराग्यधनस्य मस्तकम् ॥४५॥

मुनि महाराजको देखतेही ताल वृक्षके समान लंबा वह अजगर यमराजके समान झपटा और अपनी भयंकर दंष्ट्रा-ओंके अग्रभागसे उसने उनके मस्तकको खील खील कर डाला ॥ ४५ ॥

विदश्यमानं भुजगेन नश्वरं मुनिः प्रसंख्यानसमिद्धकंटकः ।
अभीरशोचन् विजहौ वपुर्वहन्ननेकजन्मांतरदुर्लभान् गुणान् ४६

सांपके काटने से मुनिमहाराजको असीम वेदना तो हुई परन्तु उन्होंने उसे निर्भय हो अपने आत्मध्यानमें कंटक समझ सहन करलिया और अनेक पूर्व जन्मोंमें अप्राप्त गुणों को धारण करते हुये अपने वर्तमान शरीरको विना ही किसी प्रकारके शोक किये छोड दिया ॥ ४६ ॥

उपेत्य कल्पं पुनरच्युताह्वयं स पुस्करस्याधिपतिर्व्यजायत ।
गुणा हि यत्नेन कृताभिरक्षणा भवंति पुंसां परिपाकपेशलाः ४७

मुनि रश्मिवेग अपनी तपस्या के वलसे तथा अंतिम समय शांतभाव रखनेसे अच्युत स्वर्गमें जा पुष्कर नामक विमानके अधिपति हुए । सो ठीक ही है यदि मनुष्य आपत्तिके समय अपने गुणोंकी भलीभांति रक्षाकरलें तो उन्हें अंतमें असीम सुख प्राप्त होता है । भावार्थ-मुनिमहाराजने असह्य अजगर के काटने की वेदना को सहन कर अपना क्षमागुण नष्ट न होने दिया था तो अंतमें उन्हें महान् सुखप्रदान करनेवाले अच्युत स्वर्गकी प्राप्ति हुई ॥ ४७ ॥

स रत्नमौलिं स्फुरदर्कदीधितिं प्रसन्नशीतद्युतिसंनिभाननम् ।
उदूढदिव्याभरणं च संदधे मनोज्ञमस्पंदविलोचनं वपुः ॥ ४८ ॥

अच्युतस्वर्गमें उत्पन्न हो उन मुनिके जीवने स्फुरायमान

सूर्य किरणों के समान देदीप्यमान मुकुट पहिना और शरत्कालीन पूर्ण चंद्रमाके समान मनोहर मुख से भूषित, नाना नवीन आभरणोंसे देदीप्यमान, स्पंद रहित लोचनोंसे संयुक्त शरीर धारण किया ॥ ४८ ॥

स दिव्यकांतामुखपंकजश्रियं कराभिमर्षी तनुतां तमोपहः ।
चकार चित्रं सुकृती यदप्सरोविशालनेत्रोत्पलविभ्रमश्रियम् ॥४९॥

तमोपह–सूर्य या चंद्रमा; कमल या उत्पल दो में से एक को ही विकसित करते हैं परंतु इस तमोपह–हर्षके उत्पन्न करनेवाले मुनिके जीव देवने देवांगनाओंके मुखरूपी कमल और अप्सराओंके नेत्ररूपी उत्पल दोनोंको एक साथ ही विकसितकर आश्चर्य कर दिया ॥ ४९ ॥

भुजंगदंष्ट्राविषवेदसंभवं स दुस्सहं तापमिवानुबंधिनम् ।
निराकरिष्यन्निव दिव्यसुंदरीसुधासमग्राधरमापपौ धिया ॥ ५० ॥

पूर्वजन्म संबंधी भुजंगकी दंष्ट्राओंके संसर्गसे लगेहुए विषकी तीव्र वेदनाको शांत करनेकेलिये ही मानो वह मरुभूतिका जीवदेव वहां अच्युतस्वर्गमें दिव्य सुंदरियोंके सुधासे भरित अधर पल्लवोंका मनसे पान करनेलगा ॥ ५० ॥

अजस्रमापातुकचित्तविभ्रमान् नितांतमाविश्यादितांगजन्मनः ।
स मुग्धकांताकुचपर्वतांतरं बृहन्नितंबेन मनस्याशिश्रियत् ॥ ५१ ॥

सर्वदा चित्तके विभ्रमों को करनेवाले अंगजन्मा (काम) से नितांत डरतेहुये के समान वह पुष्कराधिपति देव बृहन्नितंब (कटि या पर्वतका प्रांतभाग) से संयुक्त मुग्धकांताओंके कुचरूपी पर्वतोंका मनमें विचार करता हुआ ॥ ५१ ॥

मनो मुषित्वा मदनेन मत्सरात् स्वकं स तत्रैव तिरोहितं हितम् ।
विविच्य मार्गन्निव स्वर्णतभ्रुवां मनस्युपादत्त कटीर्यां रयी ५२

कामद्वारा चुराये गये अपने मनको देवांगनाओंकी कटि में छिपाया हुआ जान सौभाग्यवाला वह मनसे उसी (कटिभाग) का आश्रय करने लगा ॥ ५२ ॥

निपीय नेत्रांजलिसंग्रहागतं तदंगसौरूप्यरसं सतृसयः ।
सुधारसे तत्समयेऽप्युपास्थिते दिवौकसां वामदृशो विसस्मरुः॥५३॥

नेत्ररूपी अंजुलियोंमें आये हुये उसदेवके सुंदररूपको पानकर अघातीहुई देवांगनाऐं स्वर्गके समयपर उपस्थित हुयेभी अमृतको पीना भूलगईं ॥ ५३ ॥

विकाशिकल्पद्रुममाल्यवासनासमृद्धमेकादशमासि निश्वसन् ।
विनिद्रकुंदच्छविशुभ्रलेश्यया वहन्नरत्नित्रयसंमितं वपुः ॥ ५४ ॥

स वत्सराणामयुतद्वये गते पुनः सहस्रद्वितयेन संयुते ।
स्वतृप्तियोगार्थमनुस्मृतामृतो मनः प्रवीचारसुखोत्सवागमः ॥५५॥

प्रफुल्लित कल्पद्रुमोंके पुष्पों की मालाको पहिननेवाला

वह ग्यारह महिनेमें एकवार तो श्वांस लेता था। उसके परिणाम (लेश्या) फूलेहुये कुंद पुष्पके समान शुक्ल थे तीन अरत्नि[१] प्रमाण उसका शरीर था, वह बावीसहजार वर्षके बाद एकवार अपनी तृप्तिके लिये अमृतका चिंतवन करता था और कामजन्य पीडाको शांतकरनेकेलिये मनमें देवांगनाओंका स्मरण करता था॥ ५४-५५॥

अवाप्य विद्युत्प्रभनाम विंशतिं महार्णवान् द्वौ च सुखार्णवाश्रितः।
अरंस्त देवस्त्रिदिवे मृगेक्षणाघनस्तनानुस्मृतिकर्मकर्मठः॥ ५६॥

पुष्कर विमानके अधिपति उसदेव का नाम विद्युत्प्रभ था बावीससागर प्रमाण उसकी आयु थी और वह वहां नियोगानुसार स्वर्गके सुख भोगताथा॥ ५६॥

श्वदाकुपाशस्तु मुनीश्वर द्विषच्चिरंमदापातनिवृत्तजीवितः।
स देवतुल्यायुरभुंक्त वेदनास्तमःप्रभायामशुभोदयोद्भवाः॥ ५७॥

वह अजगर जिसने मुनि महाराजको वैरवश काटा था अपनें क्रोधके आवेशमें उनका अधिक अहित चिंतवनही कररहा था कि आकाशसे आकर अचानक विजली टूटी और वह उसके शरीरपर पडी जिससे कि उसके प्राणपखेरू वहांसे चलवसे और तमःप्रभानाम के छठे नरकमें जा बावीससागरकी आयु का धारक नारकी हो असीम दुःख भोगने लगा॥ ५७॥

१। अरत्नि एक हाथसे कुछ कम होती है।

इहैव पद्माह्वयदेशगोचरं गिरींद्रपाश्चात्यविदेहसंश्रयम् ।
प्रसिद्धमस्त्यश्वपुरं यशोधनैः समेधितं द्वीपवरे नरोत्तमैः ॥ ५८ ॥

इसी जंबूद्वीपके मध्यमें जो सुमेरुपर्वत है उसके पश्चिम-विदेहमें पद्मा नामका एक देश है और उसमें यशस्वी पुरुषोंसे समृद्ध अश्वपुर नामका नगर है ॥ ५८ ॥

यदीयशालोच्छ्रितभित्तिमस्तकस्फुरन्मणिव्रातशिखाभ्रचुंबिताः ।
वहंत्यवर्षासमयेऽपि वारिदा विभक्तवर्णामरचापविभ्रमम् ॥५९॥

उसका शाल (परकोट) इतना ऊंचा है कि उसके अग्रभागमें लगेहुये मणिसमूह की किरणोंसे मिश्रित मेघ, वर्षासमयके न होनेपर भी लोगों को आकाशमें नानावर्णोंके धारक इंद्रधनुषका संदेह करादेते हैं ॥ ५९ ॥

अनारतं यद्गनवत्सवत्सलं निरस्तसर्वासुमदापदापगम् ।
चकास्ति विद्याविनयालयालयं पवित्रचर्यापवमानमानवम् ॥ ६० ॥

उस नगरमें समस्त प्राणियोंके संतापको दूरकरनेवाली नदी बहती है । विद्यालय, न्यायालय मौजूद हैं और सुचारित्रसे पवित्र मनुष्य रहते हैं ॥ ६० ॥

यदीयकांताः स्फुरदंगयष्टयः सुधागृहोत्संगमलंकरिष्णवः ।
विभज्य साक्षादचिरप्रभाश्रियं जनस्य कुर्वंति बलाहकाहते ॥६१॥

देदीप्यमान शरीरवाली वहां की स्त्रियां जिस समय

हथेलियों की शिखर पर जा खडी होती हैं तो उस समय विना मेघके ही लोगोंको विजली का भ्रम करा देती हैं॥ ६१॥

नभोनिभस्फाटिकसौधकोटिषु स्थिरं पिनद्धा मणयः प्रभास्वराः।
दिवापि यस्मिञ्जनयंति देहिनामुदीर्णनक्षत्रसमूहविभ्रमम् ॥ ६२॥

आकाशके तुल्य शुभ्र स्फटिक पाषाणसे बनेहुये मकानोंके अग्रभागमें लगी हुई देदीप्यमान मणियां दिनमें भी वहांके लोगोंको चमकते हुये तारागण का संशय कराती हैं॥

हरिन्मणिस्तंभसमुद्भवा रुचः प्रदीपधामप्रतिरोधहेतवः।
गृहेषु यत्राभिनवोढयोषितां हरंति रात्रौ सुरतोत्सवह्रियम् ॥६३॥

दीपकोंके तेजको रोकने वाली हरिन्मणिके खंभोंकी कांति, वहां के घरों में रहनेवाली नवोढा नारियों को रात्रिके समय सुरतविषयक लज्जा करनेसे रोकदेती हैं॥ ६३॥

अवाग्विसर्गं जनसंनिधौ प्रियैर्नतभ्रुवां यत्र विविच्य केवलम्।
वदंति लीलावलितैर्विलोकितैः स्मरोपदिष्टं किमपि स्वहृद्गतम्॥६४॥

उस नगर में नम्र भौंहेंवाली स्त्रियां अपने पतियों से लज्जामें आ वचनों से कुछ नहीं कहतीं। वे केवल अपने लीला पूर्वक फैंकेगये कटाक्षों से ही कुछ कामोपदिष्ट मनोगत अभिप्रायको प्रकट करदेती हैं॥ ६४॥

बृहन्नितंबा मणिमेखलाभृतश्चिराय यत्र स्थितिमत्पयोधराः।

वहंति वेश्या नगरोचितस्थितिं भुजंगभोगांचितगंडभित्तयः ॥६५॥

वहां जिसप्रकार पर्वत बडे बडे नितंब-प्रत्यंतपर्वतों से युक्त हैं, मणियुक्त मेखलाओं से भूषित हैं, मेघों के निवासस्थान हैं, सर्पों के विशालशरीरसे युक्त भित्तिवाले हैं और वृक्षोंसे शोभायमान हैं उसी प्रकार वेश्यायें भी विशाल कटिभागसे संयुक्त हैं, मणियोंकी करधनी की धारक हैं, कठोर स्तनोंसे शोभायमान हैं, विटों के सेवनसे चिन्हित गंडस्थलवाली हैं और नगरकी उचित स्थिति को धारण करने वाली हैं ॥६५॥

वृषाभिरूढाः परिमृष्टभूतयो विदीप्तकामांगतया पिनाकिनः।
सदारमासीदनंतभोगकं वहंति यस्मिन् वपुरिद्धमीश्वराः ॥६६॥

उसनगरके धनाढ्यलोग शोभासे महादेव (रुद्र) की तुलना करते मालूम पडते हैं क्योंकि महादेव जिसप्रकार वृषाभिरूढ-वृष-बैलपर आरूढ रहते हैं उसीप्रकार वेभी वृष-धर्मपर सर्वदा आरूढ रहते हैं। महादेव जिस प्रकार परिमृष्ट भूति-भस्म लगाये रहते हैं वहां धनाढ्यलोग भी विभूति ऐश्वर्य धारण किये रहते हैं। महादेव जिस प्रकार विदीप्तकामांग कामदेवके अंगको जलादेने वाले हैं वहां के लोग भी विशेषरीति से दीप्त कामदेव के समान मनोहर अंग शरीर वाले हैं। महादेव जिसप्रकार सदार-सर्वदा पार्वतीको साथ लिये रहते हैं और आसीददनंतभोगक-शेषनागके शरीर को

लपेटे रहते हैं उसी प्रकार वहांके धनाढ्य भी सदा—हमेशा रम—मनोहर आसीदत्—प्राप्त होते हुये अनंत भोगों—इंद्रिय-सुखों को भोगते रहते हैं। एवं महादेव का शरीर जिसप्रकार इद्ध—देदीप्यमान है उसी प्रकार वहांके धनाढ्यों का शरीर भी कांतिमान है ॥ ६६ ॥

प्रवर्तिते यत्र गुणोदयावहे दयावहे यागसि मानवेहिता।
नवेहिताक्रांतमदोनवैभवा न वैभवार्ति प्रथयंति जंतवः ॥ ६७ ॥

विशेषवेदी विदुषां मनीषितो निरस्य दोषानशिषत् पुरोत्तमम्।
तदेष यं संसदि वज्रवीर्य इत्युदाहरंति श्रुतवर्त्मवेदिनः ॥६८॥

इसप्रकार नाना गुणोंसे शोभित उस अश्वपुर का स्वामी, विद्वानोंमें श्रेष्ठ राजा वज्रवीर्य था जिसने कि अपने शासन बलसे उस पुरके समस्त दोष दूर कर दिये थे। जिस समय गुणोंका भंडार, दयाका आगार, पुण्यशाली वह राजा राज्य कर रहा था उस समय लोगोंकी इच्छायें नवीन नवीन अभीष्ट पदार्थोंके आ जानेसे पूर्ण हो गई थीं उनका वैभव-प्रवाह बढ गया था इसलिये उसके राज्य वासियोंने वैभव की पीडा कभी भी न सही थी—'धन है और अभीष्ट पदार्थ नहीं मिलते' इस प्रकार का अवसर उन्होंने कभी न पाया था ॥ ६७–६८ ॥

अबुध्यत स्वप्नमपि प्रजाहिते प्रवृद्धरोषोऽपि ररक्ष स क्षमाम्।

न भूयसाऽभिज्वलितोऽपि तेजसा, प्रजाघनस्नेहगुणं व्यलीनयत् ॥

वह नीतिज्ञ राजा यद्यपि श्रांति दूर करनेकेलिये सोता था तो भी प्रजाके हितकेलिये वह सर्वदा जागता [सन्नद्ध] ही रहता था। यद्यपि उसके अधिक रोष था तो भी वह क्षमा [पृथ्वी] की रक्षा करता था और यद्यपि वह महान् तेजसे जाज्वल्यमान [दीप्त] था तो भी उसने प्रजाके घनस्नेह गुणको नहीं विलीयमान किया था। अर्थात् जो तेजस्वी [उष्ण) पदार्थ होते हैं वे स्नेह गुणवाले [पिघलजानेवाले] पदार्थोंको विलीयमान [पिघला देते] कर देते हैं परन्तु उस राजाने तेजस्वी (प्रतपी) हो कर भी प्रजाके स्नेह गुण (प्रेम) को नहीं विलीयमान (दूर) किया यही बडे आश्चर्य की वात है ॥ ६९ ॥

प्रभूतदानः स मदान्वयादृते बभूव नक्षत्रतया विनाऽभिजित् ।
अहीनवृत्तिर्विजहौ द्विजिह्वतां विना स्ववंशस्य विवर्द्धिता जलैः ।

यशस्यकर्मा स जहत् भुजंगतामपि स्वधात्रीं बुभुजे भुजं गताम्
प्रजासु चक्रे कृपया स बंधुतां करप्रवृद्ध्या विहितोत्सव धुताम् ॥

वह राजा यद्यपि दानवीर था तो भी उसने कभी मद न किया-उसने मदके विना ही वहुत सा दान देडाला यद्यपि वह नक्षत्र न था तो भी अभिजित् (इस नामका एक नक्षत्र है) था अर्थात् वह क्षत्रिय और कुलीन था।

अहीनवृत्ति–सांपोंके स्वामीकी वृत्तिवाला होकर भी वह द्विजिह्व (दो जीभ वाला) न था, अर्थात् उच्च कुलवालोंकी सी उसकी वृत्ति थी और चुगुल न था एवं मूर्खोंकी संगतिसे अलहदा रहकर उसने अपने वंशको उन्नत किया था। उसके समस्त कार्य प्रशंसनीय थे। उसमें विटता (दुर्जनता) बिलकुल न थी। वह भुजाओंके बीचमें आई हुई स्त्री के समान प्रेमसे पृथ्वीका पालन करता था और दयासे प्रेरित हो उसने प्रजासे अधिक कर लेना बंद कर दिया था, वह बहुत ही कम टैक्स लेता था॥ ७०–७१॥

स यावदंतं निजकीर्तिभामिनीप्रवेशदानादिव तुष्टमानसः।
यशोऽमृताप्लावनदत्ततृप्तिकाश्चकार तप्ता रविरश्मिभिर्दिशः॥७२

उसकी कीर्तिरूपी भामिनी दशो दिशाओंने अपने अंत तक चली जाने दी थी इसलिये (दिशाओंके इस सुव्यवहार से) संतुष्ट होकर ही मानो उस राजाने सूर्यकी किरणोंसे तप्तायमान दिशाओंको अपने यशरूपी अमृतके स्नान से तृप्त कर दिया था॥ ७२॥

निसर्गसेव्ये नृपतौ महागुणाः स्थितिं गतास्तत्र यदद्भुतमद्भुतम्।
जनस्य दूरे वसतोऽपि चेतसि स्थिरानुरागप्रसवस्य बीजताम् ७३॥

स्वभावसे ही सेवनीय उस राजामें अनेक महागुणोंने आकर अपनी स्थिति करली जिससे कि दूरवर्ती भी लोगोंका हृदय उसमें दृढ अनुराग करने लगा था॥ ७३॥

उपाश्रितक्षेमविधानदीक्षितो गुणैर्गुणज्ञोऽयममूल्यसृष्टिभिः ।
जले च गृध्नुमकृते जनाधिपः स्वलुप्तिसंपातमियेव शिश्रिये ७४

यदि हम किसी लुब्धक भीरु मनुष्यके पास चले जायेंगे तो हमारा नाश ही हो जायगा यह विचार कर ही मानो अमूल्य अमूल्य समस्त गुणोंने शरणागतोंके कल्याण करनेमें चतुर गुणों को पहिचाननेवाले इस राजाका आश्रय ले अपना कल्याण किया था ॥ ७४ ॥

अनन्यथाभावनियोगनिःपन्दाविवेकपूर्वं विहितेन कर्मणा ।
अवद्यशीलादपि विश्वदायतिं न बिभ्यती भूमुगसावजिघ्रपत् ७५

पापी दोषी मनुष्योंसे भी न डरनेवाली राजलक्ष्मीका यह राजा विवेकपूर्वक यथाविहित कार्य करनेसे सेवन करता था ॥ ७५ ॥

स्नातिसर्गं निजचापलादिव श्रियश्च पात्रेषु परार्थकारिणा ।
नृपेण तत्राहितमत्सरा इव व्यातिष्ठपंत श्रियमन्यदुर्वहां ॥ ७६ ॥

परापकारको करनेवाले इस नृपतिने धन धान्य आदि संपत्तियोंका चपल स्वभाव समझकर ही मानो उन्हें पात्रोंमें अर्पण कर डाला और वे संपत्तियां भी मात्सर्ययुक्त हुई के समान उन पात्रोंमें अत्युत्कृष्ट शोभाको धारण करने वाली हो गई ॥ ७६ ॥

बहुप्रलापा परुषाक्षरथवा मृषावदनी च विविच्यकारिणः ।
जगाम भीतेव भृशं प्रभावतः सरस्वती तस्य मुखे न संनिधिम् ॥ ७७

उस विवेकी महाराजके तेज प्रभावसे डरती हुईके समान ही मानो बहुत प्रलाप करानेवाली कठोर वाक्यों की जन्म दात्री, मिथ्या भाषण करनेमें चतुर सरस्वती उसके पास तक न फटकने पाई ॥ ७७ ॥

अलक्षणाः शश्वदधर्मकारिणो विदग्धगर्ह्या व्यवहारसिद्धये ।
असाधवस्तेन न केवलं नरा नृपेण शब्दा अपि न प्रचक्रिरे ॥७८॥

उस न्यायशील राजाने मनुष्यों के लक्षणोंसे रहित, सर्वदा अधर्मको करनेवाले, विद्वानोंसे गर्ह्य, दुर्जन पुरुष ही केवल न तिरस्कृत किये थे बल्कि लक्षण—शब्दशास्त्रसे विरुद्ध, पापको पैदा करनेवाले, विद्वानों से अमान्य अशुद्ध शब्द भी तिरस्कृत कर दिये थे ॥ ७८ ॥

विशुद्धवर्णाऽवनवृत्तिसंश्रया वृषानुरूपप्रसवा महौजसः ।
नृपस्य गावो वदनावनीभवा निभज्य नित्यं दुदुहुः प्रजाहितम् ७९

उस महाराजकी केवल विशुद्ध-शुक्ल वर्णोंसे शोभित वनकी घासको चरनेवाली, बैलोंके तुल्य वत्सोंकी जन्मदात्री, गायेंही प्रजाके हितार्थ दुग्ध न देती थीं बल्कि मुखरूपी पृथ्वीसे समुद्भव, विशुद्ध अक्षरोंसे निर्मित, सर्वदा रक्षण करनेमें तत्पर, धर्मानुकूल प्रवृत्तिवाली, महातेजस्वी वाणी भी सर्वदा प्रजाके हितका प्रसव किया करती थी । ७९

भुजेऽभिचर्च्ये हरिचंदनद्रवप्रभाविसौगंध्यसमृद्धिबंधुरे ।
महीभुजः संश्रयि शौर्यदैवतं तदेकभोग्यामकरोद्वसुंधराम् ॥ ८० ॥

हरिचंदनके रसकी सुगंधिसे सुगंधित भुजाओंमें रहने वाले पराक्रमरूपी देवताकी कृपासे समस्त पृथ्वी ही उस महाराज की भोग्य हो गई थी। वह अपने पराक्रमके प्रभावसे एक छत्र समस्त पृथ्वीका भोग करता था ॥ ८० ॥

द्विषो दवीयस्यपि दग्धमानसाः स्थितां जगद्व्यापितदीयतेजसा ।
प्रपेदिरे न प्रतिपत्तिधन्यतां चिराय लेपा इव संहृतेंद्रियाः ॥ ८१ ॥

यद्यपि उसके शत्रु उससे बहुत दूर रहते थे तो भी समस्त संसारमें व्याप्त रहनेवाले उसके तेजके प्रभावसे प्रतिहत मानसिक शक्तिवाले वे लोग, इंद्रियोंकी सामर्थ्यसे हीन पुरुष जिस प्रकार औषधियोंके लेपको बहुत देरसे ग्रहण करता है उसी प्रकार बहुत समयके बाद कर्तव्य ज्ञान कर सकते थे ॥ ८१ ॥

अनंगरागोदयवर्धनक्षमा तदीयबाहुप्रणयावहेश्वरी ।
आमेदिनीजा विजयेति भामिनी श्रियस्सपत्नी समभून्महीभृतः ८२

उस महाराजके कामदेवके प्रभावको बढानेवाली, पाणिगृहीती, राजलक्ष्मी की सपत्नी, आमेदिनीसे उत्पन्न विजया नामकी प्रधानरानी थी ॥ ८२ ॥

प्रकामरक्तेन नृपस्य चेतसा चिराय तस्याश्चरणावुपाहितौ ।
पयःप्रधौतावपि रागविभ्रमं न तत्यजतुर्नूनमतीव बभ्रतुः ॥ ८३ ॥

उस रानीके दोनों चरण अतिशय अनुरक्त (लाल, प्रेमी) महाराजके चित्तने बहुत दिनसे आश्रित कर रक्खे

थे (उनका राजाने अपने चित्तमें प्रेमदृष्टिसे वार वार चिंतवन किया था) इसलिये ही मानो वे जलसे वार वार धोये जाने पर भी अपने रागविभ्रम (लालिमा) को न छोडते थे ॥ ८३ ॥

क्रमौ मृगाक्ष्या कलनूपुरांकितौ सभृंगपद्माविति मे दृढा मतिः।
यतो गतस्तन्न्यसनं धरातले ततस्ततो यत्समभूयत श्रिया ॥ ८४ ॥

शब्दायमान नूपुरोंसे संयुक्त उस रानीके चरण गुंजारते हुये भ्रमरसे वेष्टित साक्षात् पद्म सरीखे मालूम पडते थे क्योंकि यदि वे पद्म न होते तो जहां जहां वे पड़ते थे वहां वहां पृथ्वीमें पद्मोंसे ही उत्पन्न होनेवालीके समान लक्ष्मीको न उत्पन्न करते ॥ ८४ ॥

पुरः प्रसर्पन्नखशुभ्रदीधिती तदीयपादावरजःस्पृशौ नृणाम्।
स्वशंकया पंकरुहाणि जल्पतां पृथग्विधित्स्याहसतामिवाज्ञताम् ८५

रजधूलिको न स्पर्श करने वाले, अपने नखों की शुभ्र किरणोंसे कांतिको सामने फैंकते हुये उसरानीके चरण, जो लोगउनमें पद्मोंकी शंका कर उन्हें पद्म कहते थे, उनकी मूर्खता पर हंसते हुयेके समान मालूम पडते थे। भावार्थ— कमल रज (पराग) सहित होता है और उसकी कांति इधर उधर नहीं फैलती परंतु पैर इसके विपरीत गुणवाले थे इसलिये अनुपम थे॥ ८५ ॥

मनोरमा तर्जनहारि निस्स्वनं पदस्थमुच्चैरथ नूपुरं परम्।
चिरं दधानाऽपि विधूतकल्मषा दधौ न तन्वी विजयार्द्धशीलताम् ८६

विजयार्धपर्वतपर नूपुर नगरके समान मनोहारिणी निष्पाप शुद्धशीला अपने चरणों में शब्दायमान नूपुर (पायजेब) को धारण करनेवाली थी तो भी विजयार्ध शीलतायुक्त न थी अर्थात् उसका नाम विजया था और खंडित शीलवाली न थी ॥ ८६ ॥

तथा नु मीनध्वजसत्पताकया सलीलमुधंच्छफरानुरूपयोः ।
गुणेन संघातभृतोर्न जंघयोर्मनस्सु न व्यंजत साधु पश्यताम् ८७

कामकी पताका के तुल्य मालूम होनेवाली उस रानी की क्रीडा करती हुई मछलियोंके समान सुंदर संघटित जंघायें अपने गुणसे, जो लोग देखते थे उनके ही मनमें स्थान पालेती थीं ॥ ८७ ॥

करेणुकांताकरवृत्तपीवरौ मृगीदृगूरू हि गुरू पराजितौ ।
नदीश्वरूपस्मरसंश्रयाविव व्यभासिषातां नवचंपकच्छवी ॥ ८८ ॥

दूसरों से सर्वथा अजित, हथिनी की सूंडके समान गोल और स्थूल उसमृगनयनी की वे जंघायें कामदेवके आलयवाली थी इसलिये ही मानो वे नवीन चंपक पुष्पकीसी कांती वाली हो गई थी ॥ ८८ ॥

अनेकपत्रोल्लिखितायताजरा गुणं तदूर्वोरिव नेतुमक्षमा ।
वनस्थितिं काचिदयाद्विलज्जया विरज्य रंभास्त्वितराप्सरोगता ८९

अनेकपत्रों से निर्मित अतएव निस्सार रंभायें (कदली) और अजरा–जरा रहित रंभायें (देवांगना विशेष) उसकी

सार और स्थूल जंघाओंको न जीत सकी थी इसीलिये ही मानो लज्जा में आकर उनमें से कुछ रंभा (कदली वृक्ष) तो जंगलमें चली गई और कुछ वैरागी हो अप्सराओंमें जा मिलीं ॥ ८९ ॥

मनोरमां पुष्टिमजस्रमाश्लिषन् सयौवनो नूतनरत्नमेखलाम् ।
चकार मारालयनित्यसन्निधिप्रसंगलीलां सुदतीकटीतटः ॥ ९० ॥

उत्तरोत्तर मनको हरण करनेवाली पुष्टि को प्राप्त होता हुआ, रत्नों की मेखलासे वेष्टित यौवनसे भूषित उस सुंदर दांतवाली रानीका जो कटितट था वह कामालयके नित्य समीप रहने से प्रासंगिक लीलाओंको किया करता था ॥

विकीर्णरत्नांशुनिरस्तदुस्तमःप्रपंचकांचीविभवो विनिर्बभौ ।
बृहन्नितंबः सुतनोस्तनूभृतां न दक्षिणाशाविषयो जनाश्रयः ॥ ९१

अपने रत्नोंकी किरणोंसे दुस्तर अंधकार के नाश करने वाली कांची का धारक उस रानीका बृहन्नितंब अतिशय शोभायमान था ॥ ९१ ॥

स्तनोरुभारोभयपार्श्ववर्तिनो भियेव मूलः स्वविरोधिनो गुणात् ।
चिराय मध्यस्थतयापि पप्रथे गुणाननिघ्नन् कृशिमा मृगीदृशः ९२

स्तनोंके पार्श्ववर्त्ती, और अपने विरोधी स्थूल गुणके भयसेही मानो गुणोंका नाश न करनेवाली उस रानीकी जो कृशता थी वह मध्यस्थ (उदासीन कटिस्थ) हो गई ९२

विमुच्य संभूय सुवर्णहारिणं नितंबमुच्चैर्वलिभिर्नतभ्रुवः ।

न मध्यदेशो रुरुधे न यच्चिरं भवेत् कृशत्वस्य फलं तदीदृशम् ९३

सुन्दर वर्णवाले नितंबको छोडकर एकत्र हुई बलि उसके कृश मध्य भागमें पडने लगीं सो ठीक ही है जो कृश (निर्बल-पतले दुवले) होते हैं उन्हें बलि (उपद्रव, विघ्न) दवाही लिया करते हैं ॥ ९३ ॥

सुवृत्तमुक्तामयतां स्वसंगिनो गुणेन हारस्य समृद्धिमोजसा ।
प्रयोजयंतावपि साधु सुभ्रुवः कथं न्वमूतामविवेकिनौ स्तनौ ९४

यद्यपि उस रानीके दोनों स्तन, अपने सर्वथा साथ रहनेवाले हारको सुगोल मुक्तामणिमय रूप समृद्धिका ओजस गुणसे संयोग कराते थे तो भी वे अविवेकी (संयुक्त, मूर्ख) थे यह बडेही आश्चर्य की वात है । अर्थात् जो विवेकी (ज्ञानी) होते हैं वे ही सुचारित्र रूप समृद्धि का गुण के साथ संयोग कराते हैं परंतु उस रानीके स्तनोंमें यह बडे ही आश्चर्य की वात थी कि वे विवेकी न होकर भी समृद्धिका गुणसे संयोग कराते थे ॥ ९४ ॥

समग्रभूभृन्मणिमुक्तरागिभावभेदवृत्ती पृथुलक्ष्ममंडलौ ।
स्मरस्य मूर्तौ नयविक्रमाविव स्तनौ तदीयावुचितं यदुद्धतौ ॥ ९५

अभेदवृत्ति (एक दूसरेसे संयुक्त) वाले विशाल देशमें विस्तृत उसके स्तन सर्वदा साथ प्रयुक्त होनेवाले, विशाल राष्ट्रमें विवृत मूर्तिधारी; कामरूपी नृपके नय और विक्रम सरीखे होनेके कारण उचित ही उद्धत (ऊंचे उन्नत) थे॥९५॥

तदीयसौंदर्यविशेषविस्मितस्मरेण रागो रतये विचोदितः।
अकल्प्य मूल्यं नवपल्लवश्रियं वली मृगाक्ष्याः करमग्रहीद् ध्रुवम् ९६

उस रानीके अनुपम सौंदर्यको रतिकेलिये लाने कामसे भेजा गया जो राग (लालिमा) था वह नूतन पल्लव की लक्ष्मी को मूल्य कल्पना कर लेगया और उस मृग नयनी के हाथको पकडकर वह वहीं रहगया॥ ९६ ॥

भृशं कृशांग्याः करजायतांकुरैर्न केतकीसूचिसमैश्च पंचभिः।
चिराय जेता मदनो महीभुजस्तदादि बभ्रे किल पंचबाणताम् ९७

केतकी की सूचिके समान उस कृशांगी की जो पांच अंगुली थीं उनके द्वारा कामने महाराजका मन वेधकर अपने वश कर लिया था इसलिये तभी से लोग उस कामको पंचवाण कहने लगे थे ॥ ९७ ॥

न्यधत्त रत्नद्युतिजालमांसले वरद्रुमस्कंधसमाश्रये वधूः।
मनोज्ञलावण्यपयोनिषेकिते कृतालवाले वलयैर्भुजालते ॥ ९८ ॥

उस रानीकी रत्नोंकी किरणोंसे दीप्त, श्रेष्ठ वृक्षके स्कंधके समान सुंदर स्कंध (कंधा) में लगी हुई मनोहर लावण्यरूपी जलसे सिक्त, और वलय (कंकण) रूपी आलवालोंसे वेष्टित भुजारूपी लतायें थी ॥ ९८ ॥

निसृष्टमंगैरसृतात्मकैर्वपुर्द्वितीयमिंदोरिव सुंदरीमुखम्।
किमत्र चित्रं यदि तेन लीलया विजिग्यिरे पंकजसंश्रयाः श्रियः ९९

अमृतस्वरूप अंगोंसे बना हुआ उस सुंदरीका मुख चंद्रमाका द्वितीय शरीर सरीखा मालूम पडता था, इसलिये यदि उसने अपनी लीलासे पद्मकी लक्ष्मीको जीत लिया तो आश्चर्य ही क्या किया था ॥ ९९ ॥

समुल्लसत्कांतिमयांबुसंभृते मुखापदेशे कमलाकरे भृशम् ।
परस्पराभिद्रुतदृस्तमीनयोर्नतभ्रुवो जहतुरीक्षणे श्रियम् ॥ १०० ॥

उज्ज्वल देदीप्यमान जो कांतिरूपी जल, उससे भरे हुये मुखरूपी सरोवरमें चंचल मछलियोंकी गतिको अपनी चपलतासे तिरस्कृत करनेवाले उस रानीके नेत्ररूपी मीन थे ॥

अपांगलक्ष्मीर्मुखपद्ममंडनी विधिप्रयुक्ताकृतिचित्तहारिणी ।
सरस्वतीवामलवर्णतन्मयी बभूव तस्याः श्रवणानुवर्तिनी ॥ १०१ ॥

शुद्ध सरस्वती जिसप्रकार मुखको सुशोभित करनेवाली होती हैं, विधि अनुसार प्रयुक्त होनेपर मनको हरण करती हैं, निर्दोष वर्णों (अक्षरसमूह) से रचित, होती है और शास्त्रका अनुवर्त्तन करती है उसीप्रकार उस रानीकी अपांग लक्ष्मी (नेत्रोंके प्रांत भागकी शोभा) भी मुख कमलको सुशोभित करनेवाली थी । स्वाभाविक सुंदरता से चित्तको हरण करती थी । निर्मल वर्ण (शुक्लता) से शोभित थी और कर्णातक लंबायमान थी ॥ १०१ ॥

उपेत्य जिघ्रन् मुखपद्मसौरभं तया करभ्राम्यशिराः क्वचिद् विधौ ।
तथापि पर्युद्धृदयंगमोऽभवत् तदीयशृंगाररितनासिकाविधिः ॥ १०२ ॥

मुख कमलकी सुगन्धिको सूंघनेवाली, किसी विधिमें करसे ग्राह्य शिरकी धारक, सिंदूर विशिष्ट जो उस रानीकी नासिका थी वह राजाके हृदयमें सर्वदा विराजमान ही रहा करती थी—महाराज अपने मनमें उसका विचार कर बड़ाही आनंद पाते थे ॥ १०२ ॥

गवा निरुद्धोऽपि विशुद्धया द्विजैरभग्नरागो हरिणांगनादृशः ।
हरन् प्रवालश्रियमंगनिर्दयं नृपेण नित्यं निरपीड्यताधरः ॥ १०३

जिसप्रकार किसी चीजको चुरानेवाला चोर जब उस चीजके मालिक द्वारा मारा जाता है तब उसे वैसा देखकर द्विज—ब्राह्मण लोग अपनी विशुद्ध धर्म परायण गवा—वाणी-से यद्यपि रोकते हैं तो भी वह निर्दय हो खूब पीटा जाता है उसी प्रकार प्रवाल—मूंगाकी शोभा को हरण करनेवाला उस रानीका द्विज-दांतोंसे अभग्न—राग ओष्ठ यद्यपि विशुद्ध वाणी द्वारा धारण किया जाता था तो भी निर्दय हो उस महा-राजसे अधिक पीडित होता था ॥ १०२ ॥

अनंगविद्वेषभृतः शिरोरुहा निरंतरा कुंतलभावलंबिनः ।
विवभ्रुराक्रम्य तमःस्वभावतां तदुत्तमांगं जगदेकपावनम् ॥१०४॥

अनंग के साथ विद्वेषके करनेवाले उस रानीके सघन केश, कुंतलभाव (बरछाधारी पुरुषपने, केशत्व) को धारणकर संसारमें सबसे पवित्र उसके शिर पर आक्रमण कर तमःस्वभाव (काले, क्रोध) वाले हो गये थे ॥१०४ ॥

तया सुखं वामदृशा स्मरोदितं दिवानिशं निर्विशतोऽपि भूभृतः ।
अवर्धत श्रीरनुरागभूयसी कृता हि लक्ष्मीर्विजयानुषंगिणी ॥१०५

इसप्रकारकी शोभासे सुशोभित मृगनयनी उस रानीके साथ सर्वदा काम भोगको भोगते हुये महाराज वज्रवीर्यका अनुराग उसमें दिन प्रति दिन बढता ही गया था ॥१०५॥

गृहीतपूर्वस्थितिका महीभृतस्तटीमिवानुज्झितरत्नमंडनाम् ।
उपान्त कांतामुदयार्थमर्कवद् दिवः स देवः क्षणदीधितिप्रभः १०६

इसप्रकार जब उस महाराजको रानीकेसाथ भोग भोगते कुछ समय वीता तो एकदिन जिसप्रकार उदयकालका सूर्य नानारत्नोंसे भूषित उदयाचलकी पूर्वतटीका आश्रय करता है उसीप्रकार नानारत्नाभरणोंसे भूषित, उसरानीके गर्भका विद्युत्प्रभ (मरुभूतिका जीव) देवने मनुष्यजन्मकी प्राप्ति केलिये आश्रय लिया ॥ १०६ ॥

जगाज्जिगीषोर्जठराशये शिशोः क्रमात् प्रवृद्धौ दिवसेष्वनाकुलम् ।
भियेव तस्मादनुवद्धवृत्तिभिर्विमुक्तमासीद् वलिभिर्वधूदरम् ॥१०७॥

समस्त संसारको जीतकर अपने वशमें करनेवाला जब वह पुत्र उस रानीके गर्भमें आया और कुछ दिन वीतगये तो उसरानीके उदरमें जो वली पडती थीं वे पुत्रसे भयकरही मानो विलकुल न रहीं ॥ १०७ ॥

[illegible] अर्भकम् ।

प्ररूढहर्षेव जहे महौजसं निजोदरक्षामतया नितंबिनी ॥ १०८ ॥

समस्त पृथ्वी के एक छत्राधिपति होनेके योग्य प्रभाव-वाले महातेजस्वी उस पुत्रको गर्भमें धारण करनेसे उसरानी के उदरकी कृशता सर्वथा नष्ट होगई सो उससे ऐसा जान पडता था मानो अतितेजस्वी पुत्रके धारण करनेसे हर्षमें आकर वह फूलही गया हो ॥ १०८ ॥

निषीददंगेष्वथ गर्भशायिनः शिशोर्गुणानामिव भूरिगौरवम्।
अभिव्यनक्ति स्म गजेंद्रगामिनी विनोदलीलास्वलसेन कर्मणा १०९

गर्भके भारसे जब वह गजेन्द्र के समान मंद मंद चलने वाली रानी विनोदक्रीडाओंमें आलस्यपूर्वक प्रवर्त्तन करती थी तब गर्भस्थ बालकके गुणोंकी गुरुताको प्रकट करती हुई के समान मालूम पडती थी ॥ १०९ ॥

सखीप्रकोष्ठं प्रतिगृह्य गर्भिणीं कथंचिदुत्थाय कृतांजलिक्रियाम्।
नृपः कृपाहर्षचोमिश्रया दृशा गृहागतो वै क्षणमैक्षत प्रियाम् ११०

जिस समय महाराज वज्रवीर्य घर आते थे और उनके सत्कारके लिये सखियों के कंधे को पकडकर जब वह गर्भिणी महारानी उठती थी तब वे कृपा और हर्ष के प्रवाहसे परि-प्लुत होजाते थे ॥ ११० ॥

उदूढगर्भां दयितां प्रजापतिर्निधानगर्भामिव भूतधारिणीम्।
अनेकविद्याजपहोमकर्मभिर्विभक्तरक्षाविधिरन्ववर्तत ॥ १११ ॥

जिस समय उस महारानीका गर्भ व्यक्त होगया तो

जिसप्रकार रत्नोंकी खानि वाली पृथ्वीकी नानातरहसे रक्षा की जाती है उसीप्रकार महाराजने उत्तरानीकी भी अनेक क्रियाओंके, जप और होमकर्मों के करनेसे रक्षा करदी ॥११॥

प्रवर्तिता पुंसवनादिषु क्रमात् स विक्रमी दोहलभेदमाहितः ।
प्रपृच्छ्य शृण्वन् सुदृशः सखीजनाज्जहर्ष सत्पुत्रविनिर्णयावहम् १२
स्फुरत्प्रभामंडलमध्यवर्तिना विजित्य चक्रेण दिशां विशांपतीन् ।
स्वपादमूलानतमौलिमस्तकान् व्यधीत् सदुत्साहवती सती सती १३
तथापि सा पीनपयोधरा वधूर्निधीन्विधेयान् प्रविधाय धामभिः ।
बभूव युक्ता भुवनस्य तद्धनैर्धनाभिलाषग्रहनिग्रहेच्छया ॥ १४ ॥

शास्त्रानुसार उसकी यथासमय पुंसवनादि क्रियायें की गईं और एक दिन महारानी को यह दोहला हुआ कि मैं स्फुरायमान प्रभामंडलसे वेष्टित चक्रसे समस्त दिशाओं के समस्त राजाओंको जीतकर अपने पैरों पर नत कर डालूं और नवनिधियोंको अपने आधीनकर संसारके लोगों-की धनग्रहण की इच्छाका निग्रह करदूं । महाराजने जब रानीका यह दोहला उसकी सखियों से सुना तो वे भावी-पुत्रको एक श्रेष्ठ पुत्र समझकर बडे ही आनंदित हुये ॥

प्रभावभूयांसमपांशुलच्छविं महीशमालागुणरूदमुन्नतम् ।
अजीजनत् सूनुमिलापतेः प्रिया रत्नर्यरित्रीव विनिर्मलं माणिम् ॥

जब गर्भके मासपूर्ण होगये तो जिसप्रकार पृथ्वी खानि से श्रेष्ठ, शुद्ध, निर्मल मणिको पैदाकरती है उसीप्रकार शुभ-

मुहूर्त्तमें एकदिन प्रभावसे देदीप्यमान श्रेष्ठ मनोहर शोभाको धारण करनेवाला, राजाओंके गुणोंसे भूषित उन्नत पुत्र, उसमहारानीने पैदा किया ॥ ११५ ॥

रवेरिवास्याखिलदिक्प्रभाविनो भियेव धाम्नो भृशमुल्लसिष्यतः ।
प्रसूतिकाले कृतिनो नवग्रहैः शुभेतरावस्थितिरभ्यमुच्यत ॥११६॥

जिस प्रकार अपने प्रतापसे समस्त दिशाओं को वेष्टित करने वाले सूर्यके उदयकालमें ग्रह छिपजाते हैं उसीप्रकार समस्त दिशाओंमें अपने प्रभावको प्रकट करनेवाले, पुण्यात्मा इस पुत्रके जन्म कालमें नव ग्रहोंने अपनी अशुभस्थिति छोडदी और वे शुभ होगये ॥ ११६ ॥

उदीर्णतेजःप्रसरेण साक्षिणा करग्रहेणोपरिभाविनं पतिम् ।
तमीश्वरं द्रष्टुमिवोदितं दिशो निरासुरंभोदपटावगुण्ठनम् ॥ ११७ ॥

जिसप्रकार कर-पाणि ग्रहण करतेहुये तेजस्वी पतिको स्त्रियां अपना घूंघट (लाज,पर्दा) छोडदेखती हैं उसीप्रकार कर (राजदेय) ग्रहण करनेसे होनेवाले अपने भावी पति स्वरूप तेजस्वी उस पुत्रको देखने के लिये ही मानो दिशायें अपने मेघरूपी घूंघट को हटा हटा कर प्रसन्न हो निर्मल हो गईं ॥ ११७ ॥

विकस्वरोद्यानलतावितर्तनः कृताप्सरोमृष्टिरकृष्टभूरजाः ।
मरुच्च सिंचन्निव देहिनः शनैर्ववौ तदानंदसमुद्रसीकरैः ॥ ११८ ॥

प्रफुल्लित उद्यानकी लताओं को नचानेवाला, सरोवरों के

जल कणोंसे मिश्रित, धूलसे रहित पवन उस समय प्राणियोंको आनन्दरूपी समुद्र के सीकरों से सींचते हुएके समान बहने लगा ॥ ११८ ॥

स्वयंप्रभावोपनतास्तमोपहा नृपेंद्रविद्या इव रत्नदीपिकाः।
परीत्य तं पुण्यनिधिं चतुर्विधाः शिखामयूखोल्लिखितांबरा बभुः ११९

स्वयं प्रभावसे उपनत, अंधकारकी विनाशक, अपनी ज्योतिसे आकाशको जगमगाने वाली चार रत्नदीपकायें महाराजाओंके अज्ञानको हटानेवाली चारविद्याओंके समान उस पुण्यात्मा पुत्रको वेष्ठितकर शोभित होने लगीं ॥११९॥

कृतालिवैतालिकनिःस्वनस्तवा दिवः पतंती कुसुमावली तदा।
व्यधादनाघ्रातचरेण हारिणा जनस्य गंधेन वसुंधरातलम् ॥ १२०

भ्रमर रूपी वैतालिकों द्वारा कियेगये शब्दरूपी स्तवनोंसे मनोहर, स्वर्गसे गिरती हुई पुष्प वृष्टिने उस समय पृथ्वीतल को अननुभूत सुगंधिसे सुगंधित करदिया ॥१२०॥

निशम्यमानेन विहृत्य दिग्गजैः क्षणं समुत्तंभितकर्णपल्लवैः।
गभीरशंसध्वनिनाभिचुंबितं तदांबरं शब्दगुणं व्यजृंभत ॥ १२१ ।

आश्चर्यमें आकर अपने कर्ण पल्लवों को स्तंभितकर दिग्गजों द्वारा सुनी गई गंभीर आशीर्वाद की ध्वनिसे आकाश उससमय यथार्थ शब्द गुणवाला होगया ॥ १२१ ॥

मुखेन हर्षामृतबिंदुवर्षिणा निवेदितार्थं पुनरुक्तया गिरा।
इदं भुजिष्या समुपेत्य सत्वरं नरेंद्रमास्थानगतं व्यजिज्ञपत् ॥ १२२ ॥

इसप्रकार जब नाना हर्ष सूचक शुभ शकुन हो रहे थे तभी हर्षरूपी अमृत की बिंदुओंको वर्षानेवाले मुखसे कहे गये अर्थको वाणीसे पुनरुक्त करती हुई एक गृहदासी शीघ्रही महाराजके पास पंहुची और उनसे इसप्रकार निवेदन करने लगी ॥ १२२ ॥

व्यपाचि शुक्लेन जनस्य कर्मणा तवांघ्रिसेवारसवेदिनोऽधुना।
असोष्ट पुत्रं सदभिष्टुतं गुणैर्यदद्य पृथ्वीश्वर! भर्तृदारिका ॥१२३

महाराज! आपके चरण कमलोंकी सेवा करनेवाले लोगोंका आज बडाही शुभ भाग्यका उदय हुआ है उन लोगोंके शुभ कर्मने आज अपना श्रेष्ठफल दिखलाया है जो कि श्रेष्ठ गुणोंसे भूषित पुत्र रत्नको महारानीने आज जन्म दिया है ॥ १२३ ॥

भुजेन पूर्वं वहतस्तवोर्वरां सहायवानित्यभवन्न यद् वचः।
परं न तत्तेतनयेन वर्तितं दिवौकसामाक्रमणं च तेजसा ॥ १२४

पहिले जो लोग यह कहा करते थे कि अपने भुज बलसे पृथ्वी चक्रका भोग करते हुये महाराजका कोई भी सहायक पुरुष नहीं है परंतु वह आज इस पुत्ररत्नने पैदा हो मिथ्या कर दिया। महाराज! उस पुत्रका प्रताप बडा ही अद्भुत है उसने अपने अप्रतिहत तेजसे समस्त पृथ्वी मंडलको ही नहीं किंतु समस्त-आकाश को भी व्याप्त कर दिया है ॥ १२४ ॥

प्रसिषिनकाया वचनं मनोहरं निशम्य या प्रीतिरभून्महीभुजः।
इयत्तया तां प्रतिवेद्मि किंतु ते न संति शब्दाः कथयामि यैस्तथा ॥

गृहदासीके जब उपर्युक्त मनोहर वचन महाराजने सुने तो उनके हर्षका पारावार न रहा। वे इतने उस पुत्रोत्पत्तिके समाचारसे प्रसन्न हुये कि यदि कोई उसका वर्णन करना चाहे तो नहीं कर सकता क्योंकि उतने और उस प्रकार के संसारमें शब्द ही नहीं हैं। हां! एक बात है उस सुखका अनुभव 'इतना है' यह अवश्य है ॥ १२५ ॥

अनेकवस्त्राभरणैर्विशांपतिः प्रतोष्य चेटीं द्विजदीनमानवैः।
विमुच्य जीवानपि बंधनस्थितांश्चकार तस्मिन्नगरे महोत्सवम् ॥

जिसप्रकार उपर्युक्त समाचार सुनाकर गृहदासीने महाराजको संतुष्ट किया था उसी प्रकार महाराजने भी अनेक बहुमूल्य वस्त्र, और आभरण आदि प्रदानकर उस दासी को भी सुखसे सुखी किया। इसके सिवाय उस पुत्रके जन्मोत्सवके उपलक्ष्यमें महाराजने दीन दुःखियाओंको धन बांटा, ब्राह्मणोंको उनकी इच्छानुसार दान दिया और कैदियोंका कैद खानेसे छोड स्वतंत्र कर दिया ॥ १२६ ॥

सुधागृहोत्तंभितहेमयष्टयो महापताकाः पवनाभिकंपिताः।
अयं पति ते शिशुरत्र भूयतां स्वयेति नूनं जगदुर्दिवः श्रियम् १२७

राजपुत्रकी उत्पत्तिका समाचार विजलीके समान एक दम सारे नगरमें फैल गया। नगरवासी लोग इस हर्ष समा-

चार को सुनते ही नगरमें उत्सव की तयारियां करने लगे। अपने अपने विशाल उत्तुंग गृहशिखरों पर उन्होंने ध्वजायें टांगना शुरू कर दिया और वे ध्वजायें भी पवनसे कंपित हो स्वर्गकी लक्ष्मीसे यह कहती हुईके समान मालूम पड़ने लगीं कि–"हे स्वर्ग लक्ष्मी! तेरा पति इहां इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हो चुका है। अब तुझै भी यहां आजाना चाहिये। अब और अधिक वहां (स्वर्गमें) रह कर समय नष्ट करना तुझे उचित नहीं"॥ १२७॥

अथावदाशाः पटहोद्भवध्वनिर्विचित्रदंडाभिहतिप्रभावतः।
नृपस्य हर्षाभ्यवकाशहेतवे द्विषां प्रतीहार इवापसारकः॥ १२८॥

पुत्र जन्मकी खुशीमें नाना रंगों से रंगेहुये दंडोंसे भेरी (पटह) पिटनेलगी और उसका दशो दिशाओं में जाता हुआ शब्द, महाराजके हर्षको अवकाश दिलानेके लिये शत्रुओंका निवारक प्रतीहार सदृश जानपड़ने लगा॥ १२८॥

सकुंकुमांबुव्यतिषेकशोणिता विभेजुराक्रीडनमंगनाजनाः।
नृपात्मजेंदोरुदयेन वर्धिते भृशं निमग्ना इव रागसागरे॥ १२९॥

कुंकुम मिश्रित जलसे लोहित हुईं स्त्रियां राजपुत्ररूपी चन्द्रमा के उदयसे बढ़ेहुये राग (प्रेम) रूपी समुद्रमें निमग्न हुईं के समान मालूम होने लगीं॥ १२९॥

अनेकयंत्रच्युतकुंकुमांबुभिर्जपातुवर्णैः प्रविकीर्णमंबरम्।
अधत्त तस्मिन् समये तनूभृतामकालसंध्याघनपंक्तिविभ्रमम्॥१३०

अनेक यंत्रोंसे फैंकेगये जपाकुसुमके समान लोहित कुंकुम जलसे व्याप्त आकाश उस समय असमयमें संध्याकालीन मेघका लोगोंको भ्रम कराने लगा ॥ १३० ॥

सवारिभृंगारकरा वरांगनाः स्वनर्मबंधून् प्रति सत्वरं गताः ।
जलार्द्रसूक्ष्मांबरदर्शितोरवो जनैर्विलोक्यंत विवृद्धकौतुकैः ॥१३१॥

वेश्यायोंने ज्योंही यह समाचार सुना तो वे जलसे झाडी भर भर कर अपने नर्मबंधुओं (भडुओं) के पास शीघ्रतासे पहुंची और झाडियों के उछलते हुये जलसे भीग जाने तथा वस्त्र सूक्ष्म होनेके कारण दीखती हुई उनकी जंघाओंको लोग कौतुकपूर्ण दृष्टिसे देखने लगे ॥ १३१ ॥

आलोकयंती स्तनयोर्विलासिनी विषक्तदंभश्छुरितोत्तरच्छदम् ।
अवाकिरल्लोचनदीधितिं तयोरवाग्मुखी नीलपटीमिव ह्रिया १३२

कुंकुम जलसे रंगेहुये भीजे वस्त्रसे आच्छादित परन्तु स्पष्ट दीखते हुये अपने स्तनोंपर नीचेको मुंह कर दृष्टिको डालती हुई कोई विलासनी स्त्री उनपर (स्तनोंपर) लज्जासे नील वस्त्र डालती हुई के समान मालूम पडने लगी ॥१३२॥

स्फुटप्रघूर्णत्क्लेदनिमित्तमेकया पतन्पतिः कुंकुमपंकिले तले ।
तुलार्थमात्मानमबुद्ध कश्चन स्तनोपपीडं परिरभ्य धारितः ॥१३३

रपटनी जगह होनेके कारण कुंकुमकी कीचडसे व्याप्त भूमिपर गिरता हुआ पति किसी स्त्रीने अपने स्तनोंके आश्रयमें उठालिया और वह भी आलिंगन सुखसे अपनेको

कृतार्थ समझने लगा ॥ १३३ ॥

कृतानुवादं कलकीचकस्वनैर्जगुः सुगोप्यो मृदु तच्च गीतकम् ।
क्वणन्मुखैस्तन्मुखगंधपातिभिर्विभज्यमानं जगृहे मधुव्रतैः ॥१३४॥

गोपियें सुंदर वेणुओंके शब्दोंसे प्रतिध्वनित, कोमल, मधुर गीत गाने लगीं और उनके मुखकी सुगंधिसे आये हुये शब्दायमान भ्रमर स्वरमें स्वर मिलाकर उनकी सहायता करने लगे ॥ १३४ ॥

अबुध्यमानाः परिधानमंकतो बहिश्च्युतं काश्चन वृद्धयोषितः
ससंमदालास्यकृतोऽपि पश्यतां बभूवुरुद्वेलविहासहेतवः ॥ १३५ ॥

हर्षमें आकर नृत्य करती हुई किन्हीं वृद्ध स्त्रियोंका कटि भागसे वस्त्र गिर पडा और वे उससे अनभिज्ञ होनेके कारण नाचतीं ही रहीं इसलिये उन्हें देख देख कर लोग हंसने लगे ॥ १३५ ॥

गजास्तदानीं विदलत्कपोलका नृपप्रमोदा इव मूर्तितां गताः ।
अनूनदानोत्सवसंपदोचितं वितेनिरे सामगविप्रतर्पणम् ॥ १३६ ॥

जिस प्रकार महान दान देने वाले लोग सामवेदको गाते हुये ब्राह्मणोंकेलिये यथेष्ट दान देते हैं उसीप्रकार उसमहाराजके मूर्त्तिधारी हर्षके समान, मदसे चूतेहुये कपोलोंसे शोभित हस्ती अपने अनल्प मदकी सुगंधिसे मधुर झंकारकरते हुये भ्रमरोंको यथेष्ट तृप्त करने लगे ॥ १३६ ॥

समंतसर्पन् मृगनाभिसौरभः समुत्पतन् व्योमपुरस्समारुतः ।

भ्रमद्द्विरेफप्रकरावगुंठितो व्यधत्त साक्षादिव मेघदुर्दिनम् ॥१३७॥

आकाशमें पवनके द्वारा फैंका गया, घूमतेहुये भ्रमरोंसे वेष्टित कस्तूरीका सुगंध लोगों को मेघसे व्याप्त दिन (दुर्दिन) का भ्रम कराने लगा ॥ १३७ ॥

मदांधमारुह्य महागजं नृपः प्रयन् स वीथिष्विभयूथवेष्टितम् ।
प्रसुर्वितस्तार कृतस्तवो जनैर्जनाप्रियामंबरवृष्टिमंबरात् ॥ १३८ ॥

हस्तियोंके समूहसे परिवेष्टित विशाल मदांध गजपर सवार हो महाराजने गलियोंमें वस्त्रोंकी वर्षा कर प्रजाको अधिक संतुष्ट किया ॥ १३८ ॥

क्षितिपतिमवलोक्य प्रौढहर्षातिभारा
हयपुरनृपवीथौ सौधशृंगाधिरूढाः ।
अतिमधुरमगायन्नंगनाः काश्चिदन्याः
ननृतुरमृतवीचिमीक्षणैर्विक्षिपंत्यः ॥ १३९ ॥

नगरकी गलियोंमें महाराजको देखकर हमेलियोंकी छतपर चढीहुई स्त्रियां अतिमधुरस्वरसे गीतगाने लगीं और उनमेंसे बहुतसी कटाक्षों द्वारा अमृत तरंगों को छोडती हुई नृत्य करने लगीं ॥ १३९ ॥

शुभदिनसमवाये लग्नशुद्धावमात्यै-
रधिगतनयमार्गैर्वर्षवृद्धैश्च सार्धम् ।
अभिमतमतिसृज्य प्रीणयन्प्राणिवर्गं
तनयमकृत नाम्ना वज्रनाभं स भूपः ॥ १४० ॥

इसकेबाद शुभदिन शुद्ध मुहूर्त्तमें, नीतिशास्त्रके वेत्ता, वृद्धमंत्रियोंके साथ महाराजने अपने उस प्यारे श्रेष्ठ पुत्रका नाम वज्रनाभ रक्खा ॥ १४० ॥

यद्माभोगमरक्षमस्य विततैः पत्रैरनाच्छादिन-
स्तस्योद्वीक्ष्य विकासमुत्सुकतया तिग्मांशुधामाश्रयम् ।
दृष्ट्यापांगनिविष्टयैकरतया तत्संगमाकांक्षिणी
तस्थौ पुण्यनदीहृदस्य सकला लक्ष्मीस्सरोजाश्रया ॥ १४१ ॥

लक्ष्मीके भोग करने की सामर्थ्यवाले, विस्तृत छत्रोंसे भी आच्छादित न होनेवाले उस पुत्रके सूर्यके समान तीक्ष्ण प्रतापके आश्रित विकासको देखकर पुण्यरूपी नदीके तालाव की कमलाश्रित समस्त लक्ष्मी उत्सुकतासे टकटकी लगाकर उस कुमारके संगकी प्रतीक्षा करने लगी ॥ १४१ ॥

भूलोकाधिपनंदनस्य जनतानंदोत्सवोत्पादिनः ।
प्राप्तस्य प्रचुरानुरागनिचयामुच्चैः प्रचेतोदिशम् ।
ख्यातोमेश्वरमौलिमंडनविधेर्जातस्य चानुश्रिया
बालस्येव निशाकरस्य जगता चक्रे प्रणामांजलिः ॥ १४२ ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते महाकाव्ये
वज्रनाभचक्रवर्त्तिप्रादुर्भावो नाम
चतुर्थः सर्गः ।

समस्त संसार जिसप्रकार प्रचुरानुरागनिचयां–बहुतसे अनुराग–लोहितपनेसे मिश्रित, प्रचेतोदिशं-उत्तरदिशामें स्थित

प्रसिद्ध महादेवके शिरको भूषितकरनेवाले बाल-द्वितीयाके चन्द्रमाको नमस्कार करता है उसीप्रकार समस्त प्राणियों के आल्हादक, उत्कृष्ट चित्तवाले मनुष्योंका प्रेमपात्र, प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओंके मुकुटके भूषणस्वरूप उस बालकको भी नमस्कार करनेलगा ॥ १४२ ॥

इसप्रकार श्रीवादिराजसूरि कृत श्रीपाश्वनाथजिनेश्वरचरितके भाषानुवादमें चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पंचमः सर्गः ।

विजयातनयः स वर्धमानः सह बंधुप्रमदेन सन्मुखश्रीः ।
निजपुष्टिविलिप्सयेव पश्चाद् गुणमुख्यैरनुबंधिभिः सिषेवे ॥ १ ॥

महारानी विजया और अश्वपुरके अधिपति महाराज वज्रवीर्य का सर्वसुलक्षण मंडित वह वज्रनाभ पुत्र दिनपर-दिन अपनी मुखकी कांतिके साथ बढनेलगा, और उसकी इस प्रकी बढवारी को देखकर अपनी उन्नति की इच्छासे गुणगण भी उसमें आ अपना स्थान जमाने लगे ॥ १ ॥

विनिरुद्धतमस्तु तेन भूयः कमलानंदकरेण भास्वतेव ।
घनवीथिरिवाखिलासु दिक्षु प्रचकासे जननी नवोदयेन ॥ २ ॥

जिसप्रकार कमलोंके आनन्ददायक नवीन सूर्यकी कांतिसे अंधकारका नाश होजाता है और समस्त दिशा विदिशाओं की सघनवीथियां (वृक्षोंकी झाडियां) प्रका-

शित होजाती हैं उसीप्रकार उसनवीन तेजस्वी लक्ष्मीके आनन्दवर्धक पुत्रके उदयसे वह महारानी विजया दशोदिशाओंमें प्रसिद्ध होगई ॥ २ ॥

अपि पथ्यसमुद्भवप्रजानामुपसेवाफलदः स दोषहारी ।
अभवन्महतः क्षयस्य हेतुर्द्विषतां दैवमचिंतनीयशक्तिः ॥ ३ ॥

बालकपनमें ही जो लोग उसके हितकर और भक्त थे उन्हें तो अचिंतनीय शक्ति वाला वह उनकी सेवाके अनुसार अभीष्ट फल देता था और दोषोंसे मुक्त करदेता था। परन्तु जो लोग उसके वैरी थे-निष्कारण ही अनिष्ट चिंतवन किया करते थे उनका वह नाशही करडालता था ॥३॥

गुणवत्प्रतिपन्नसाधुसंधिं प्रथमोदीरितवृद्धिभावशुद्धम् ।
प्रथितः पितुराज्ञयाऽध्यगीष्ट स्वसमं व्याकरणं स वृत्तचौलः ॥ ४ ॥

जब उस बालक का चौलकर्म (मुंडन) संस्कार होगया तो उसके पिताने उसे गुण और वृद्धि संज्ञा से सहित, श्रेष्ठ संधि ज्ञापकसूत्रोंसे ग्रथित, व्याकरण पढाना शुरु किया और साधुपुरुषों की संगतिमें रहनेवाले, गुणी, दिनपर दिन वृद्धि भावको प्राप्त होते हुये उस कुमारने वह शीघ्रही गुरुओंसे पढ डाला ॥ ४ ॥

प्रतिबोधकचित्तदर्पभंगे बलिना तेन कृते मदोदयेऽपि ।
विषया विजगाहिरे हृषीकद्विपनादैर्न यथामतं तदीयैः ॥ ५ ॥

इंद्रियोंमें मद शक्तिके बढानेवाले काम विकारके

होनेपरभी उस बलवान कुमारने अपने इंद्रियरूपी हस्तियोंको निरंकुश न होने दिया वह सदा उनकी इच्छामें न चलकर उन्हें ही अपनी इच्छानुसार चलाने लगा ॥ ५ ॥

द्रढिमानिविडं तदंगसंधिष्वनुबध्ननतुजीविभिर्वयस्यैः।
अजनिष्ठ दुरत्ययो गुणानां बलवत्ता न विना प्रधानसेवाम् ॥ ६ ॥

अपने साथ बढनेवाले मित्रोंके साथ साथ ज्यों ज्यों उसके अंगोंमें पुष्टि और दृढिमा आने लगी त्यों त्यों उसके गुण उसमें अपना स्थान मजबूतीसे जमाने लगे सो ठीकही है विना प्रधानकी सेवाकिये बलवत्ता नहीं आसक्ती ॥ ६ ॥

चतसृष्वयमुद्यमादधीती नृपविद्यासु निरूढसंप्रदायः।
विजहे निजबाल्यकेन सूनुरयथाकामवस्थयेव राज्ञः ॥ ७ ॥

साम, दाम, दंड, और भेद इन चारप्रकारकी राजविद्यामें भी उसने अपना पूरा अधिकार जमालिया और बाल्य अवस्थाके छूट जानेके कारण अब वह एक सर्वगुण संपन्न युवक राजपुत्र सरीखा जचने लगा ॥

विकसन्मुखचंद्रकांतिकाशच्छविधौतांबरचुंबिहंसमुद्रम्।
न शरत्समयस्य मत्सरीव प्रतिजग्राह वपुर्न यौवनश्रीः ॥ ८

बाल्य अवस्थासे जब उसकी युवावस्था प्रारंभ होगई तो यौवन लक्ष्मीके प्रभावसे उसके मुखचंद्र पर ज्योत्स्नाकी सी कांति झलकने लगी और काशपुष्पके समान श्वेत हंसोंकी मुद्रासे मुद्रित वस्त्र उसके अंगपर एक विशेषही शोभा छटकाने

लगे इसलिये चंद्रमा की कांति, काशपुष्पों की छवि, श्वेत मेघोंकी माला और हंसोंकी मुद्रासे सहित शरद ऋतुकी लक्ष्मी उसके शरीरकी शोभाके सामने फीकी मालुम पडने लगी ॥ ८ ॥

परिधायतबाहुपीवरांसं कृशमध्यं द्युतिमद्विशालवक्षः ।
अजनद्द्विषतां भिये विचित्रं वपुरव्याजमनोहरं तदीयम् ॥ ९ ॥

उस कुमारकी बाहु परिघाके समान लंबी हो कंधे स्थूल होगये मध्यभाग कृश होगया और वक्षस्थलने कांति सहित विशालता धारण करली जिससे कि विनाही किसी भूषण के मनोहर लगनेवाला उसका विचित्र शरीर शत्रुओंके हृदय में भय पैदा करनेलगा ॥ ९ ॥

विकचांबुजहारचक्रचिन्हं दधदोजः स्थिरसीमनिम्नमध्यम् ।
कमलाकरतामिवाचचक्षे विलसत्पाणितलं नृपात्मजस्य ॥ १० ॥

प्रफुल्लित कमल, हार और चक्रके चिन्हों से चिन्हित, तेजस्वी, स्थिर सीमा और निम्न मध्यभागसे भूषित, उस राजपुत्र का हस्ततल विकसित कमल, हार और चक्रवाकोंसे भूषित, शोभा के धारक, स्थिर सीमा (मजबूत दीवाल) से संयुत और मध्यभागमें गहरे कमलाकर (सरोवर) के समान कमलाकर (लक्ष्मीका-आकर घर) दीखने लगा ॥

अधिराजरमासहेति तुष्यद्विनयश्रीरचिरेण वज्रनाभः ।
सवयोभिरमा स हेतिसिद्धिं गुरुचित्रानुनयं क्रमेण लेभे ॥ ११ ॥

सहितो वरसंगरदृढिम्ना रसधारामरितो विवेकहेतुः ।
न हि तस्य परं करे कृपाणः कमलोद्भासिनि निर्भमौ मुखेऽपि १२

इसके बाद अन्य राजाओं की लक्ष्मी को न सहन कर-नेवाले उस वज्रनाभने अपने समवयस्क मित्रोंके साथ साथ नाना प्रकारकी अस्त्र शस्त्र विद्यायें सीखना भी प्रारंभ किया और तब उसके हाथमें तो युद्ध करनेकी दृढतासे सहित जल धारासे तीक्ष्ण, शत्रुओंके खंड खंड करनेमें कारण स्व-रूप तलवार रहने लगी और कमलके समान सुंदरमुखमें दृढप्रतिज्ञासे संयुत, वीर शृंगार आदि रसों से भरित, विवेक पूर्ण कृपाके वचन रहने लगे ॥ ११-१२ ॥

अलिनीलरुचिस्तदंगपीठस्थगनीया परहृत्प्रवेशदक्षा ।
नयतत्त्वविदो न हस्त एव विलसत्कुंतलता कचेऽपि तस्य ॥ १३ ॥

भ्रमर के समान काली, शत्रुओंके वक्षस्थलमें प्रवेश करनेके लिये पैनी कुंतलता (बरछी) को तो वह हाथमें रखने लगा और भ्रमर के समान नीले, पृष्ठतक लंबायमान, मनको हरण करनेवाले कुंतल-(केश) उसके शिरकी शोभाको बढानेलगे १३.

गुणकोटिचरेण रूढिभाजा हितवर्त्मप्रतिपंथिमंथनेन ।
कलितं न स पाणिमेव वव्रे दृढधर्मेण मनोऽपि धर्मजेता ॥ १४ ॥

नीति और तत्त्वों के जाननेवाले उस राजपुत्रके हाथ में गुण (धनुषकी डोरी-कमान) से विशिष्ट कोटि (अग्र-भाग) वाला, प्रसिद्ध, हितमार्गसे विरुद्ध चलनेवाले लोगों

का नाशक केवल धनुष ही न रहने लगा किंतु करोडोंगुणों से भूषित, प्रसिद्ध पापमार्गका नाशक धर्म भी मनमें निवास करने लगा ॥ १४ ॥

फलमग्निमुद्वहंस्तदुग्रो गुणयोगक्रमभावनाभिनुन्नः ।
क्रणपः प्रतिविध्यति स्म लक्ष्यं रिपुराजन्यमनांसि च प्रभावः ॥ १५ ॥
शरवर्षि सवंशजीवमुच्चैर्बलमुत्पीड्य करग्रहेण बभ्रे ।
वरकार्मुकमंडलं स विद्यामनुशीलन्नथ किं पुनर्जिगीषुः ॥ १६ ॥

अग्निप फल (गोली) को धारण करने वाली, गुण (चलानेके चातुर्य) से संयुत, क्रमभावना [पादविक्षेप] से प्रेरित उसकी बंदूक तो लक्ष्य को वेधने लगी और भावी फल से संयुत; नाना गुणोंके योग क्रम की भावनासे प्रेरित उसका प्रभाव शत्रु क्षत्रियोंके मनमें पीडा देने लगा । एवं बाणोंके वर्षाने वाले; बांसकी कोटसे संयुत श्रेष्ठ धनुषमंडलको वह बलपूर्वक उत्पीडन [तान] कर हाथमें रखने लगा ॥ १५-१६ ॥

नवयौवनसंभृतांगयष्टिं कृतविद्याधिगमं तमुर्वरेशाम् ।
तनयाः स्वयमेव निन्युरुच्चैः कुचकुंभोद्वहनातिखिन्नमध्याः ॥ १७ ॥

वदनेऽधरपानलिप्सयेव प्रतिलग्नं शरदिंदुबिंबकांते ।
वरहारमयूखमंडलेन स्तनयोः संनिहितं युयुत्सयेव ॥ १८ ॥

कनकांगदशृंखलां बबंध स्खलितात्मानमिव स्थितं च बाह्वोः ।
नखरद्युतिनिर्गमच्छलेन प्रचुरं पाणितलादिव क्षरंतम् ॥ १९ ॥

श्रवसोरिव दीर्घलोचनाभ्यां धवलापांगरुचा निषिच्यमानाम्।
तनुजन्मतयेव मुग्धवृत्तिं स्थिरमारुह्य निविष्टमंसदेशे ॥ २० ॥
निकटस्थगभीरनाभिकूपं नमदग्रं वलितं कृशिम्नि मग्नम्।
स निपातमवेत्य मध्यदेशं कृपयेव स्थगयंतमुल्लसंतम् ॥ २१ ॥
मसृणं महदंबरावरुद्धं सुरसिंधोरिव सैकतं गरीयः।
रमणीयतयेव सोपभोगं जघनं सच्छदितारमत्यजंतम् ॥ २२ ॥
तरुणीः परिणीय ताः स भोगी पृथु लावण्यमयं गुणं दधानाः।
मदनं समुपाश्रितं पुपोष प्रकृतिस्तस्य हि साश्रिताभिरक्षा ॥ २३ ॥

इसप्रकार जब वह राजपुत्र नाना विद्याओंसे मंडित हो गया और उसके सुंदर शरीर पर यौवनके चिन्ह दिखलाई पड़ने लगे तो उसकी प्रशंसा दशो दिशाओंमें फैल गई। उसके गुणोंसे मुग्ध होकर सैकडों प्रस्फुटन स्तनोंवाली कन्यायें स्वयं आ आकर उसका हाथ पकडने लगीं और वह भी शरत्कालीन चंद्र बिंबके समान उनके मुखपर अधर पानकी इच्छासे आये हुये, श्रेष्ठ हारकी किरणोंसे युद्ध करनेकेलिये स्तनोंपर उपस्थित, स्खलित होते हुये अपने शरीर को सुवर्ण निर्मित अंगद रूपी शांकलके सहारे थाम-कर बाहुओं पर टिके हुये, नखोंकी कांतिके बहाने हस्त तलसे चूते हुये, दीर्घ लोचनोंसे अपने श्वेत (निर्मल) कटाक्षों द्वारा कानोंमें चुआये गये, तनुज (शरीरसे उत्पन्न, वा पुत्र) होने के कारण मुग्धवृत्ति (बालकपन) से

स्कंधों पर बैठे हुये, समीपस्थ गहरे नाभिरूपी कुएमें गिरते हुये कृश मध्यदेशको कृपापूर्वक स्थगित करनेसे उल्लसित करते हुये, चिक्कण विस्तृत वस्त्रसे आच्छादित, गंगाके पुलिनके समान स्थूल जघनको रमणीय होनेसे उपभोगमें लाते हुये लावण्य गुणको धारण करनेवाली उन कन्याओं-के साथ विवाह कर मनमाने भोग भोगने लगा और अपने आश्रयमें आये हुये काकी यथाशक्ति रक्षा करने लगा सो ठीक ही है जो श्रेष्ठ होते हैं उनका स्वभाव ही शरणागतों की रक्षा करनेका होता है ॥ १७-२३ ॥

साचिवैरभिनिच्य यौवराज्ये तनयं वर्महरं विभज्य राजा।
चिरमुद्वहनादिवातिखिन्नो निदधौ तत्र धुरं वसुधरायाः ॥ २४ ॥

जब राजाने उसे राजकीय समस्त गुणोंसे मंडित देखा तो मंत्रियोंकी सलाहसे उत्सवके साथ उसे युवराज पदपर अभिषिक्त कर दिया और बहुत दिनोंसे पृथ्वीके रक्षा कर-नेके अपने भारको कुछ हलकाकर सुखसे दिन विताने लगा ॥

अविहाय महीशमाश्रयती युवराजं विचकास राज्यलक्ष्मीः।
सहकारमिवाऽवगाहमाना सुरभिश्रीः सविकासचंदनस्था ॥ २५ ॥

पुत्र वज्रनाभके युवराज होते ही जिसप्रकार विकसित चन्दन वृक्षकी सुगंध आम्र वृक्षमें भी आ जाती है, उसी-प्रकार महाराजके राज्यकी लक्ष्मी उसमें भी आने लगी और उसके तेजकी दिनों दिन वृद्धि होने लगी ॥ २५ ॥

अचिरागतयौवराज्यसिद्धेर्नृपसूनोः क्रमतो दिदृक्षयेव ।
ऋतवस्तमुपासदन् यथास्थं प्रसवोपायनसंप्रदानपूर्वम् ॥ २६ ॥

नूतन युवराजके देखनेकी इच्छासे उत्सवके समय जो लोग इकट्ठे हुये थे वे तो हुये ही थे परंतु अब अपने अपने समयमें होनेवाली बहारका भेंटमें ले लेकर क्रमसे ऋतुएँ भी उपस्थित होने लगीं और उनसे नीचे लिखे प्रकारकी शोभा हुई ॥ २६ ॥

अवबुध्य निजात्ययं विषादाद् रुदितायाः शरदो हिमागमादौ ।
भृशमश्रुलवैरिव प्रसस्रू हिमबिंदुप्रकरैर्वियत्यगारे ॥ २७ ॥

हिमतुकी आदिमें आकाश ओसकी बूंदोंसे व्याप्त हो गया सो उससे ऐसा जान पडने लगा, मानो, समीपस्थ अपने नाशको देखकर खेदसे शरद ऋतु ही रोई है और उसके ये आंसु गिर पडे हैं ॥ २७ ॥

शरदः सुहृदो लयेन खेदाच्चलितायाः सुतरां मरालपंक्तेः ।
धुतपक्षतिनिर्विकीर्यमाणं तुहिनं तूलमिवांबरं न्यरौत्सीत् ॥ २८ ॥

अपने मित्र शरदके नाश होजाने से खेदपूर्वक स्थान छोडकर, आकाशमें उडते हुये हंस समुदायके पंखोंसे फैलाये गये तूल (रुई) के समान उस समयका वर्षनेवाला हिम मालूम होने लगा ॥ २८ ॥

हिमशीतलवातसंनिपातादिव भीत्या श्लथसंधिजीर्णपर्णः ।
वसुधाप्रदरोदरेषु चक्रे तरुशाखाः प्रविमुच्य संनिवेशः ॥ २९ ॥

पाले और ठंडे ठंडे पवनके झकोरोंसे डरकर ही मानो श्लथ संधिवाले वृक्षोंके जीर्ण और शीर्ण पत्ते गिर गिर कर पृथ्वीके उदरमें प्रवेश करने लगे ॥ २९ ॥

समये हिमवर्षिणि स्वहेतिप्रसवम्लानिभयादिवांगजात्मा ।
अमनागविशन्मनःकुटीरं युवराजस्य पुरे कृशोदरीणाम् ॥ ३० ॥

हिमको वर्षानेवाले उस शीत समयमें अपने अस्त्रस्वरूप पुष्पोंके म्लान हो जानेके भयसे ही मानो कामदेव युवराजके महलमें जा स्त्रियोंके मनरूपी कुटीरमें जा छिपे ॥ ३० ॥

दिशि दिश्युपचेयमानमूर्तिर्नृपसूनोरिव शत्रुभीतचित्तैः ।
शिशिरः स हिमर्तुरेव जज्ञे विरहस्त्रीहृदयप्रकंपकारी ॥ ३१ ॥

युवराजके जो लोग शत्रु थे उन्होंके चित्तोंने तो विरहस्त्रियोंके हृदयको कंपादेनेवाले, समस्त दिशाओंमें व्याप्त हुये उस हिम ऋतुको ही शिशिर ऋतु समझा ॥ ३१ ॥

इतरेतरकुट्टनकणद्भिर्दशनैः सत्रभुजस्स शीतकंपाः ।
ज्वलदग्निसदः प्रधाममह्नामविशन् कर्पटिनः संवेगनते ॥ ३२ ॥

जो लोग भिक्षुक यज्ञके हवनको खानेवाले जीर्ण शीर्ण वस्त्रोंसे सहित थे उन लोगोंकी उस समय जाडेके मारे दांती वजने लगी, शरीर कपने लगा इसलिये वे लोग साम सुबह जलती हुई अग्नियोंके घरोंमें घुस कर रहने लगे ॥३२॥

निशि निम्नतया हिमं निपीय प्रचुरं प्रातरिदं वपुष्यजीर्णम् ।
अवमन्निव वर्तुलस्थवीयं प्रसवच्छद्मतया मधूकवृक्षाः ॥ ३३ ॥

रात्रिमें जो पराधीन होनेसे अधिक हिम पी लिया था प्रातः काल जब उसने अजीर्ण किया तो उसको पुष्पके छलसे उगलते हुये के समान मधूक वृक्ष शोभने लगे॥३३॥

सवयोविरुताः स्वपत्रनेत्रैस्तुहिनांशुप्रमुखाश्च तीरवृक्षाः ।
भृशमन्वरुदन्निवात्मनीनं हिमभग्नं कमलाकरं प्रभाते ॥ ३४ ॥

रात्रिमें पालेके आधिक्यसे भग्न हुये अपने हितैषी कमलाकर (सरोवर) को प्रातः काल अपने पत्ररूपी नेत्रों से देखकर कुमुद आदि जो तीर के वृक्ष थे वे पक्षियोंके शब्दोंसे रोते हुये के समान मालूम होने लगे ॥ ३४ ॥

शिशिरांगतयः करीषजाग्निं सह वत्सैः परिवृत्य गोपडिंभाः ।
व्युदतप्सत संप्रसार्य बाहून् दिवसादौ नगराद् बहिस्सजल्पाः ३५

अधिक ठंडी होनेसे अन्ने (आरण्यक कंडे) कंडोंके दहकारे लगाकर गांवके बाहिर प्रातःकालमें बछडोंके साथ २ ग्वालोंके लडके अपनी दोनों बाहुओंको पसार पसार कर तापने लगे और आपसमें अनेक प्रकारकी गप्पे ठोंकने लगे ॥३५॥

वनिताजनगानशल्यशैलं प्रणुदन् जीर्णमिवाशु पर्णजालम् ।
प्रथमस्य हनि देहकांतिहारी पवमानः प्रववौ मधूकगंधिः ॥ ३६ ॥

स्त्रियोंके हृदयमें जो मानरूपी विशाल पर्वत था, उस-को सूखे पत्तोंके समान मरोरता हुआ, देहकी कांतिका हारक मधूक वृक्षोंकी गंधसे मिश्रित उन दिनों पवन चलने लगा ॥ ३६ ॥

असहिष्णुरिवोक्षितुं नलिन्याः किल तत्कालदशागतं निकारम् ।
विनिमील्य निजप्रतापनेत्रं द्युपथं घर्मरुचिर्लघु प्रतस्थे ॥ ३७ ॥

उस समय अपनी प्यारी नलिनीकी तिरस्कृत दशाको देखनेमें असमर्थ हुये के समान सूर्य अपने प्रतापरूपी नेत्रों-को बंदकर शीघ्रही आकाश मार्गको तयकर जैसे तैसे जाने लगा ॥ ३७ ॥

हिमभीरुतयेव भावनीयं प्रविमुच्यातपमाश्रितावकाशम् ।
वनितास्तनमंडलेषु तस्थौ सघनप्रावरणेषु बाढमूष्मा ॥ ३८ ॥

जाडे से डरकर ही मानो आतप को छोड़कर उष्णता स्त्रियोंके सघन वस्त्रोंसे आच्छादित स्तन मंडलोंमें छिप कर रहने लगी ॥ ३८ ॥

गुणमच्छतया तुषारदोषादलभन्नंवरवन्नवांबराणि ।
नवकंबलविक्रयस्तु लाभं प्रददौ मूल्यचतुर्गुणं वणिग्भ्यः ॥ ३९ ॥

शीतके पडनेसे आकाशके समान श्वेत स्वच्छ वस्त्रोंको लोग न लेने लगे और कंबल खूब बिकने लगे अतः वनि-योंको उनसे चौगुना लाभ होने लगा ॥ ३९ ॥

मणिदीधितदीपिकाप्रकाशे निशि कालागुरुपिंडधूपगर्भे।
विनिवेशितहंसतूलशय्यापुलिने गर्भगृहे सहेमभित्तौ ॥ ४०॥
अवतंसितमालतीसुगंधिविलसत्कुंकुमपंकादिग्धगात्रः।
वनिताभुजपंजरोपगूढो युवराजश्शिशिरं स निर्विवेश ॥ ४१॥

कुलकम् ॥

ऐसे रमणीय समयमें मालतीकी सुगंधिसे सुगंधित, कुंकुमकी पंकसे लिप्त, युवराज वज्रनाभ अपनी प्यारी कांताओंके भुजपंजरोंसे बद्धहुये मणि किरणोंके प्रकाशसे प्रकाशित, कालागुरुके धूपसे धूपित, हेमकी भित्तियोंसे विशिष्ट भीतरे घरमें हंसके समान श्वेत रूईकी शय्यापर शिशिर ऋतुका आनंद लेने लगे ॥ ४०–४१ ॥

ऋतुना सभयेन तेन तीव्रादिव पद्माधिपनंदनप्रभावात्।
विजहे वलयं दिशामशेषं कृतपद्मालयवैभवक्षयेण ॥ ४२ ॥
शिशिरस्तरुपंडविप्लवानां स विधाता क नु वर्तते दुरात्मा।
पटुकोकिलकूजितैर्वसंतो वनमित्याह्वयतीव संप्रविष्टः ॥ ४३॥

पद्मालयों (सरोवर) के वैभवको नष्ट करनेवाले उस शिशिर ऋतुने ज्योंही पद्माधिपनंदन (वसंत) को आते हुये देखा तो भयसे शीघ्रही समस्त दिशा विदिशाओंको छोडकर वह भाग गया, और उसके बादही " अरे ! तरु-

पर्वोंका तोड़नेवाला वह दुरात्मा हिंसक शिशिर कहां गया ?" इसप्रकारके वचनोंको कोकिलोंके शब्दोंसे कहतेहुयेके समान वसंत शीघ्रही वनमें प्रविष्ट हो गया ॥ ४२-४३ ॥

अनुरागकृत: सुगंधिसृष्टे: सुरभेस्तस्य नवेन संगमेन ।
अभवन् वनवल्लय: सपुष्पा नृपसूनोश्च कुलीनराजकन्या: ॥ ४४ ॥

अनुराग (लाली) को करनेवाले अपने प्यारे सुगंधि के निर्माता उस वसंतके नवीन संगमसे वनकी लतायें और प्रेमको करनेवाले सुगंधिके सर्जक मनोहर उस राजपुत्र के संसर्गसे कुलीन राजकन्यायें शीघ्रही पुष्पवती (पुष्पवाली, रजस्वला) होगईं ॥ ४४ ॥

भुवनैकजयोत्सवाय कंतोरिव भृंगीजनमंगलस्वनौघै: ।
मधुना विधिनार्पितांकुरश्रीरजनिष्ट द्रुमयष्टिपालिकासु ॥ ४५ ॥

वसंत ऋतुके प्रभावसे जो वृक्षरूपी यष्टिपालिकाओं (ध्वजा दंडको थामने वाली औरतों) पर नाना अंकुर रूपी लक्ष्मी दीखनेलगी और भ्रमरीरूपी स्त्रियोंके समूहके समूह अपने शब्दोंसे मंगल रूपी गीत गाने लगे तो उनसे महाराज कामदेवके लोकविजयका उत्सव सरीखा मालूम होने लगा ॥४५॥

विटपेषु विरेजिरे विरूढा: कलिका: स्थूलदलावतुद्रुमाणाम् ।
शरधिष्विव पत्रमात्रदृश्या: कुसुमेषोर्विजयैषिण: शरौघा: ॥४६॥

स्थूल दलवाले जो अवतु वृक्ष थे उनकी लताओं पर आई हुई जो कलिकायें थी वे लोकके विजय करनेके इच्छुक कामदेवके तूणीरमें छिपे हुये पत्र मात्रसे दीखनेवाले बाण सरीखी मालूम होने लगीं ॥ ४६ ॥

कलिकादलनोन्मदाः सहेलं सहकारोद्गमगुच्छगर्भशय्याः ।
जघुषुः स्मरसंनिपातमूर्च्छामिव पांथस्य नितांतमन्यपुष्टाः ॥ ४७ ॥

कलिकाओंके भक्षण करनेसे उन्मत्त, आम्रोंके अंकुररूपी शय्यापर सोनेवाली जो कोकिलायें थीं वे पथिकोंको कामजन्य पीडाके आगमनकी घोषणा करती हुईके समान उससमय दीख पडने लगीं ॥ ४७ ॥

मधुरध्वनितश्रवाभितुष्टा इव मूलद्रुमयष्टयस्समृद्धाः ।
कुसुमस्तवकानुतर्षपूर्णं मधु सस्वादमपीपयन् द्विरेफान् ॥ ४८ ॥

पुष्पोंकी समृद्धिसे समृद्ध जो श्लेषांतक वृक्ष थे वे मधुर ध्वनिके सुननेसे संतुष्ट हुयेके समान भ्रमरोंको अपने पुष्पोंका सुस्वादु मधु यथेष्ट पान कराते उस समय दीख पडने लगे ॥ ४८ ॥

न पतद्भिरुदासिरे समंतात् कुसुमस्थानि रजांसि वल्लरीणाम् ।
मदनस्य शिलीमुखैर्मनस्थान्यपि तस्मिन् समये मनस्विनीनाम् ४९.

लताओं पर जो कुसुमोंमें रज-पराग था वह तो पक्षियोंने

नीचे गिरादिया और मनस्विनी स्त्रियोंके मनमें जो रज-मान या क्रोध था वह कामने अपने वाणोंसे नष्ट कर दिया ॥४९॥

विजिहासुरिवासहिष्णुरंगैर्विरहिस्त्रीश्वसितोपतापमूढम् ।
पवनः प्रविवेश दाक्षिणत्यो द्रुमवीथीशिशिरं वनोपकंठम् ॥५०॥

धुतपल्लवपाणिमाधवीनामभिरेमे प्रसवाननाभिचुंबी ।
व्रततीभवनं प्रविश्य वायुर्विविधालिंगनविभ्रमप्रयोगः ॥ ५१ ॥

पतिवियुक्त स्त्रियोंके गर्म श्वासोच्छ्वासकी गरमी को, न सहन करनेके कारण ही मानो दक्षिण दिशाका पवन वन के पासकी जो शीतल वृक्षावली थी उसमें घुस गया और उसके लता भवनमें प्रविष्ट हो माधवी लतारूपी स्त्रियों-के पल्लवरूपी हस्तोंका कपानेवाला, पुष्परूपी मुखके चुम्बनसे सुगंधित वह वायु नाना आलिंगन और विलास जन्य सुखों-का स्वाद लेने लगा ॥ ५०-५१ ॥

पथिका मरुतः शरीरसंगे वनवल्लीकुसुमस्पृशः सुगंधेः ।
विषवेदमिवावबुध्यमानाः बत जेपुः प्रमदाभिधानमंत्रान् ॥ ५२ ॥

वनवल्लरियोंके कुसुमों की सुगंधिसे सुगंधित पवनके स्पर्श को पथिक लोग प्राणहारी विष समझने लगे और उसके निवारणार्थ अपनी अपनी स्त्रियोंके नाम रूपी मंत्रका जप करने लगे ॥ ५२ ॥

मलयानिलनिर्द्धुतैः परागैः प्रतिरुद्धं सहकारमंजरीणाम् ।
अनवेत्य वने ककुब्विभागं परिबभ्राम जनाश्चिरं प्रवासी ॥ ५३ ॥

वनमें दक्षिण पवनके झकोरोंसे गिरे हुये आमोंकी लताओंके परागसे दिशाओंका विभाग व्याप्त होगया इसलिये प्रवासी लोग मार्गका अनुसंधान न कर सकनेके कारण चिरकाल तक इधर उधरही भटकने लगे ॥ ५३ ॥

सुरभिश्वसनेन नर्तितायामरिशब्दोद्घटनेन पुष्पवल्याम् ।
नवकेसरगुच्छतल्पगेन प्रजगे किंनरगोयुगेन हृद्यम् ॥ ५४ ॥

सुगंधित पवनसे नचाई गई, अरि (?) शब्दके उद्घटनसे पुष्पवाली हुई लताओं के मंडपमें नूतन केशर के गुच्छों की शय्या पर किंनरोंके युगल मनोहर गीत गानेलगे ॥ ५४ ॥

बकुलश्च किरातकामिनीनां मुखमुक्तं मधु संप्रपद्य फुल्लः ।
मधुपैरनुपातिभिः सिषेवे ननु सख्यं सुकरं समानशीलैः ॥ ५५ ॥

किरातोंकी कामिनियोंके मुखसे निसृत मधुके कुल्लोंसे उससमय बकुल वृक्ष पुष्पित होगया और उसपर पड पडकर भौंरे उसे सेवने लगे सो ठीकही है समान स्वभाववालोंमें मित्रता शीघ्रही हो जाती है। अर्थात् मधुको पीने से पुष्पित होने वाला बकुल वृक्ष होता है और भ्रमर भी मधुका पान कर आनंदित होता है इसलिये उन दोनोंमें मैत्र्य सेवकभाव शीघ्र होगया तो आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ५५ ॥

शतधा दलितं वियोगिनीनामिव कांतारविरूढमल्लिकानाम् ।
दिशि दिश्युपाचिक्षिपे मरुद्भिर्मतिवैशद्यमिव प्रसूनवृंदम् ॥ ५६ ॥

पवनके द्वारा दिशाओं विदिशाओं में बखेरे गये वन की मल्लिकाओंके पुष्प वियोगिनी स्त्रियोंके सैकडों टुकडोंमें खंडित हुये निर्मल हृदय के समान जानपडने लगे॥ ५६ ॥

वरचंपकयष्टिराततान प्रसवस्तोमपिशंगिमावरुद्धा ।
क्रुधितस्मरवह्निवृष्टिरेषेत्यवदानं धृतिमंथि पांथबुद्धौ ॥ ५७ ॥

चम्पक वृक्षोंके ऊपर जो उस समय पीले पीले पुष्पों के गुच्छे लग आये वे पत्नीवियुक्त पथिकलोगोंकी धैर्यविहीन बुद्धिमें क्रुद्धहुये कामदेवके द्वारा वर्षाये गये जाज्वल्यमान अंगारे सरीखे दीखपडने लगे ॥ ५७ ॥

मलयश्वसनोपनीतनानाप्रसवामोदिनि शुभ्रसौधपृष्ठे ।
वनितानिवहेन सायमह्नः सविनोदं समवेत्य वज्रनाभः ॥ ५८ ॥
मृदुगीतिमुदस्तहेमरज्ज्वायतदोलामणिपीठदेवतानाम् ।
स्वगुणग्रहणानुबंधरम्यामशृणोदश्वपुरस्य सुंदरीणाम् ॥ ५९ ॥

युग्मम् ॥

ऐसे समयमें युवराज वज्रनाभसे न रहा गया। वे भी दक्षिण पवन के द्वारा लायेगये, नाना प्रकारके कुसुमोंकी सुगंधिसे सुगंधित, अपने राजमहलकी छतपर संध्याके समय

अपनी स्त्रियोंसे वेष्टित हो प्रतिदिन बैठनेलगे और सुवर्ण रज्जुओंके झूलाओंमें मणिनिर्मित आसन [पटली] पर बैठकर झूलने वाली नगरकी स्त्रियों द्वारा गाये गये अपने गुणानुवाद करनेवाले मनोहर गीतों को सुननेलगे ॥ ५८–५९ ॥

नृपनंदनभोगसंप्रवेशात् कृतकृत्येव मनोज्ञमाधवश्रीः ।
विगलत्कुसुमा न्यवर्त्ततोद्यन्नवघर्मांबुलवोपपन्नपृष्ठा ॥ ६० ॥

विधिनोपनतान्निदाघशापादतितीव्रादिव लुब्धकाद्भियेव ।
प्रविमुच्य वनं प्रसूनसंपन्नगरोद्यानमगादगावरक्षम् ॥ ६१ ॥

इसप्रकार युवराज वज्रनाभके भोग करनेसे कृतकृत्य हुई के समान मनको हरणकरनेवाली वसंतकी शोभा वहांके वनोंसे धीरे धीरे खसकने लगी और ग्रीष्म ऋतुके तीव्र शापसे अथवा लुब्धक स्वरूप उसके भयसे अगावरक्षासे संपन्न नगरके उद्यानमें सर्वथा प्रविष्ट हो रहने लगी ६०-६१

मृदुसौष्ठरनेकनागकन्याकृतभोगः प्रसृते तु घर्मकाले ।
विजहौ मलयं न मातरिश्वा शिशिरं चंदननिर्झरांबुपातैः ॥ ६२ ॥

ग्रीष्म ऋतुका जब साम्राज्य लोकमें जमने लगा तो अनेक नाग कन्याओंका भोगनेवाला, मंद मंद गमनका धारक पवन, चंदन वृक्ष और झरनोंके जलसे शीतल मलय पर्वतपर ही रहने लगा ॥ ६२ ॥

सुरभेर्निजसंमदैकहेतोर्विरहे दुःखमिवाधिकं दधानैः ।
जगृहे वनकोकिलैर्न मौनं न पुनस्तत्समयागमावसानम् ॥ ६३ ॥

अपनेको सुख प्रदान करनेवाले सुगंधित मनोहर वसंत का जब विरह हो गया तो उसके दुःखसे अधिक दुःखित हुई के समान कोकिल कुछ न बोल सकी वह उसके पुनरागमनकी प्रतीक्षामें मौन धारण कर ही रहने लगी ॥ ६३ ॥

विविधद्रुमशाड्वलानि बभ्रुः प्रसवोद्धस्तजनांतवाटकानि ।
विनिवृक्षगतस्य दूरादिग्भ्यो मधुराजस्य चमूनिवेशलीलाम् ॥ ६४ ॥

पहिले जिन वाटिकाओंमें वसंतके प्रभावसे पुष्प और हरे हरे पत्ते थे उन्हींमें अब ग्रीष्मके आनेके कारण पुष्पोंके झड जानेसे केवल हरे पत्ते ही पत्ते दिखलाई पडने लगे सो उनसे ऐसा जान पडने लगा मानों दूर दिशाओंमें गये हुये वसंतराजकी सेनाका यह पडाव ही पडा हुआ है ॥ ६४ ॥

तपतापभियेव तीरवृक्षव्रजतिर्यग्विघिनांधकारितेषु ।
विरमय्य चरप्रभावमस्थुः पृथुलागाधमहाह्रदेषु नद्यः ॥ ६५ ॥

सूर्यके तीव्र संतापके भयसे ही मानो उस समय नदियां अपना चल स्वभाव छोडकर तटके वृक्षोंकी पंक्तिसे अंधकारित अतएव शीतल अगाध महा सरोवरोंमें प्रविष्ट हुईके समान जान पडने लगीं ॥ ६५ ॥

अतिदीर्घपथभ्रमादिवार्के परिमृग्यांबु पिबत्यशेषदिग्भ्यः ।
चकितैरिव भानुवर्त्म हित्वा क्वचिदप्यंबुधरैस्तिरोबभूवे ॥ ६६ ॥

सूर्य आकाशरूपी विशाल मार्गमें परिभ्रमण कर समस्त दिशाओंका जल ढूंढ ढूंढ कर पी जाता है ऐसी शंका कर ही मानो मेघ उस समय सूर्यके मार्ग—आकाशको छोड छोड कर कहीं जा छिपने लगे। भावार्थ—उस समय वादलों का नाम निशान भी आकाशमें न रहा ॥ ६६ ॥

रसशून्यतया विदारितास्या वदनोद्वांतरजोवितानधूम्राः ।
अभवन् ककुभो निदाघरूक्षाः पथि राक्षस्य इवासुमद्भिभीत्यै ६७

निदाघके प्रभावसे उस समय समस्त दिशायें राक्षसी सरीखी भयंकर ज्ञान पडने लगीं क्योंकि राक्षसी जिसप्रकार रससे —दयासे शून्य होती है उसी प्रकार दिशायें भी रस—जलसे शून्य थीं। राक्षसी जिसप्रकार विदारितास्य—मुंह फाडे हुये होती है दिशायें भी उस समय वि—पक्षियोंके दारित—फाडे हुये मुहसे विशिष्ट थीं—जलके न मिलनेसे पिपासाग्रस्त होने के कारण पक्षियोंके मुंह फट गये थे, और राक्षसी जिसप्रकार अपने मुंहमेंसे धूएंको उगलती है दिशायें भी उस समय सर्वत्र धूमके समान दुःखदायक धूलिको उगल रही थीं—सर्वत्र उडती हुई धूलि ही धूलि दिखाई पडती थी ॥ ६७ ॥

विरसाः परुषस्पृशः सशोषाः पथिकोद्वेगकृतो निरूढतापाः ।
जहिरे महिजैर्जरत्पलाशाः शुचिमासस्य लवा इवांगलग्नाः ॥६८॥

असुहावने लगनेवाले, स्पर्श करनेमें कठोर, शुष्कीके उत्पादक, धूप (घाम) से सन्तप्त और रास्तागीरोंको उद्वेग करनेवाले ज्येष्ठ मासके अंगमें लगे हुये टुकडों (दिनों) के समान वृक्ष रसरहित, कठिन स्पर्शवाले सूखे मार्गमें चलनेवालोंको कष्टदायक, संतप्त और जीर्णपत्तों को छोडने लगे ॥ ६८ ॥

बहलोत्थितधूलिपाटलिम्ना ककुभः काश्चन संश्रिता विरेजुः ।
तरणेरिव तापतो विवृद्धाद् दलितोरःक्षरितप्रवाहरक्ताः ॥ ६९ ॥

बढते हुये सूर्यके तापसे वक्षःस्थल फट जाने के कारण रक्त प्रवाहको छोडती हुई के समान कोई २ दिशायें उस समय उडती हुई लाल धूलिकी लालिमासे लाल हो गई ॥ ६९ ॥

वनितानयनाभिरामलीलागुणचौर्यादिव दोषतो जनांतः ।
अभिशंक्य न शिश्रिये कुरंगैः प्रविमुच्यापि वनं दवाग्निभीत्या ७०

यद्यपि वनमें दावानलके लग जानेसे भय भीत हुये हरिण इधर उधर भागते फिरते थे तो भी उस समय स्त्रियोंके नयनों की शोभाको चुरानेके कारण दोषी हुये के समान वे नगर में आकर अपनी भाग रक्षा न करते थे ॥ ७० ॥

शिशिरा मुहुर्नक्तमालवीथीहृतमध्यंदिनभानुभाप्रवेशाम् ।
वसुधामधिशिश्यिरे माहिष्यः कृतरोमंथनवक्त्रमुक्तफेनाः ॥ ७१ ॥

भैंसैं उस समय दुपहरीके सूर्यकी उष्ण किरणोंके तापको रोकनेवाले तमाल वृक्षोंकी ठंडी झाडीमें जा बैठती थीं और रोमंथ कर अपने मुहसे फेन उगला करती थीं ॥ ७१ ॥

परुषार्करुचा विकृष्यमाणे वसुधायाः सति जीवने निविष्टाम् ।
अपि तत्यजुरंगरेणवस्तां सहिताः क्षुद्रतया हि नोचितज्ञाः ॥ ७२

सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे उस समय जब पृथ्वीका जीवन (जल) खींच लिया गया और वह जीवन रहित (जल-शून्य–प्राणरहित) हो गई तो उसकी अंग स्वरूप रेणुऐं भी उसे छोड छोड कर अपना रास्ता लेने लगीं सो ठीक ही है जो क्षुद्र प्रकृतिवाले (नीच–हलके) होते हैं वे उचित अनुचित कार्यको नहीं जानते ॥ ७२ ॥

तृषिता इव पूषरश्मितापात् पृथुगंत्रीपथपांशवो जनस्य ।
अविशंश्चरणाभिघातवुद्धा इव चोत्प्लुत्य शिरस्थतोयकुंभान् ॥ ७३

सूर्यके तीव्र संतापसे पिपासाकुल हुई के समान मार्ग की जो धूलि थी वह पनिहारोंके पैरसे ताडित होनेके कारण होशमें आकर ही मानो शिरपर रक्खे हुये जलके घडोंमें उड उड कर पडने लगी ॥ ७३ ॥

दिवसेषु विजृंभिते विपक्षे बलवत्यूष्मणि भानुमत्प्रतापे ।
निममज्ज भियेव शैत्यधर्मः प्रतिरुद्धार्करुचे प्रभाजलेषु ॥ ७४ ॥

ग्रीष्म ऋतुके दिनोंमें जब अपने शत्रु स्वरूप सूर्य के प्रतापसे बलवान हुये उष्ण गुणका प्रताप बढने लगा तो उससे डरकर ही मानो जो शैत्य धर्म था वह सूर्यकी किरणोंके रोधक प्रभा जलमें जा छिप गया ॥ ७४ ॥

अवलंबितदामशुक्तिजानाममृतांश्वाविव राश्मिभिः प्रपूर्णे ।
पृथुभंगसमानशुभ्रशय्यामाधितिष्ठन्मणिहर्म्यगर्भगेहे ॥ ७५ ॥
विविधीकृतिचंद्रकांतयंत्रच्युतधाराशिशिरांभसां निपाते ।
मसृगस्फटिकस्थलीषु पश्यन् परिभ्रांतिं नवमौक्तिकप्रकाशम् ७६
हरिचंदनदिग्धदिव्यमूर्तिर्विपुलोरस्थगितोरुहारयष्टिः ।
विमृशन् करपल्लवेन कांताकुचकुंभौ तदहार्निसर्गशीतौ ॥ ७७ ॥
मधुरध्वनिपंचमं विपंचीगुणकाण्ठप्रभवं नृपस्य पुत्रः ।
श्रवसोरवतंसयन्नगच्छन्न निदाघस्य निजांतिकप्रवेशान् ॥ ७८ ॥

इसप्रकार संतापके उत्पादक उष्ण ग्रीष्म ऋतुमें कुमार वज्रनाभ खुटियोंपर लटकते हुये हारोंकी मणियोंके प्रकाश से प्रकाशित जो मणिनिर्मित गर्भगृह (तहखाना) था उसमें गये और वहां हंसतूलके समान शुभ्र शय्यापर बैठकर चंद्रकांत मणिके यंत्रसे निकल चिकण स्फटिक पाषाणकी

भूमिपर नव मोतिओंके समान गिरते हुये जलके प्रवाहको देखने लगे हरिचंदनसे समस्त शरीरको लिप्त कर और अपने विशाल वक्षस्थलमें हारको धारण कर हाथसे स्वाभाविक शीतल कांताओंके कुचोंका स्पर्श करने लगे और वीणाके पंचमस्वर मिश्रित मधुर ध्वनिको सुनने लगे जिससे कि उन्होंने उस ग्रीष्मकी तीव्र पीडाको अपने पास तक न फटकने दिया ॥ ७५-७८ ॥

निजसंगनिषिद्धतोयशुद्धिर्विदलद्वंशकरस्सधूलिरूक्षः ।
नृपसूनुभियेव गोवितापं व्यमुचद् घर्मजनंगमः प्रवृत्तम् ॥ ७९ ॥

विरहज्वरदाहधूसरांगी पथिकश्वासपरंपरेव दृश्या ।
दिशि दिश्युदपादि मेघरेखा स्वयमासेदुषि घर्मकालभंगे ॥ ८० ॥

इस तरह लोगोंको दुःखका अनुभवकरा अपने संसर्गसे जलकी शुद्धिका नाशक, विदलद् (नीच या कुदरती) वंशका उत्पादक, धूलिसे रूक्ष शरीरका धारक ग्रीष्मऋतुरूपी चांडाल जब राजपुत्रके डरसे डरेहुयेके समान वहांसे चला गया तो वर्षाऋतुका प्रारंभ होगया और उसके प्रारंभ होतेही हरएक दिशामें मेघकी रेखायें उत्पन्न होने लगीं सो उससे ऐसा जान पडने लगा मानो विरह ज्वरसे धूसर हुई प्रवासी लोगोंकी ये साक्षात् दीख पडनेवाली श्वासें ही उडकर आकाशमें दृष्टिगोचर होरही हैं ॥ ७९-८० ॥

सरसाकृतयः ककुप्सु मेघा वमुरुच्चैर्भुवनस्य घर्मतापम् ।
घनशुद्धमनैरिवापनेतु पृथुहस्ता इव दिग्गजैरुदस्ताः ॥ ८१ ॥

जलके भरेहुये जो आकाशमें मेघ दीखनेलगे वे लोगोंके घर्मजन्य उग्रतापको वमथु (कै) ओं द्वारा शांतकरनेके लिये दिग्गजोंसे प्रेरित शुंडादंड सरीखे मालूम होनेलगे ॥८१॥

प्रथमोदितवारिवाहमुक्ताश्चिरमस्पृश्यनिदाघदूषितस्य ।
जगतः प्रविशोधनप्रवृत्ता इव शुभ्रज्जलबिंदवः प्रपेतुः ॥ ८२ ॥

निदाघरूपी चांडालके संसर्गसे अशुद्ध हुई पृथ्वीको शुद्ध करते हुयेके समान प्राथमिक मेघकी जलबिंदुयें धडाधड बपनेलगीं ॥ ८२ ॥

अकृतोच्छलदच्छपांशुपाता पृथुपाथःकणसंहतिः पृथिव्याम् ।
क्षितिभागगतावशिष्टघर्मस्फुरदुच्छ्वासनिभानि सूत्कृतानि ॥८३॥

मेघकी प्रबल धाराके पडनेसे जो धूलिके कण सूं सूं शब्द करने लगे सो उनसे ऐसा मालूम होने लगा मानो पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हुआ अवशिष्ट घाम ही पीडित होनेके करण शब्द कररहा है ॥ ८३ ॥

ककुभो मलिनांबरं दधानाः कृतघोषाः कलुषं जलाशयं च ।
न घनाभिनिवेशतो न बभ्रुः कृशिमानं गतभर्तृकाश्च योषाः ॥ ८४

वृष्टिके प्रारंभ होजानेसे मलिन अंबर [आकाश] की धारण करनेवाली शब्दायमान दिशायें तो खबोले (मैले) तालाब

वाली होगई और मलिन अंबर (वस्त्र) को धारणकरने-वाली पतिके विरहसे आर्त हो शब्द करती हुई वियोगनी स्त्रियां कृश होगई ॥ ८४ ॥

श्यितैः पृथुभिस्तमालनीलैः पवनाधोरणचोदितोपनीतैः ।
मदवद्द्विरदैरिवातिभीमध्वनिगर्भैर्मिहिरैर्मिथः प्रजह्रे ॥ ८५ ॥

तमाल वृक्षोंके समान नीले, स्थूल पवनरूपी महावत द्वारा प्रेरेगये, मदसे मत्त हस्तियोंके समान अतिभयंकर शब्द करनेवाले मेघ परस्परमें एक दूसरेसे टकरानेलगे ॥ ८५ ॥

निकटेन करोरुवज्रदंडं घनगर्जेन हितं निरीक्ष्य कल्पं ।
पथिका मरणे मतिं बबधुः स्फुरदुद्दामतडिल्लतैकदंष्ट्रम् ॥ ८६ ॥

पासमें मेघकी गर्जन से संयुक्त, स्फुरायमान विद्युत्-रूपी दंष्ट्रासे भयंकर, हाथमें विशाल वज्रदंडको लियेहुये वर्षाऋतुको देखकर विरही (प्रवासी) लोग अपना हित मरनेमेंही समझने लगे ॥ ८६ ॥

परितापहरं पय प्रकेनं प्रकृतध्वानमनेकभूरिधारम् ।
रु दुदोह महीविवृद्धये गाः समयः पीनपयोधराश्चतस्रः ॥ ८७ ॥

परितापके नाशक, ध्वनिके करनेवाले पय (दूध,पानी) के प्रवाहका वह वर्षासमय पृथ्वीकी बढवारीके लिये पीन पयोधर [स्थूल स्तनवाली, बहुतसे जलवाली] वाली चारो-दिशाओंसे अनेक धाराओंमें दुहनेलगा ॥ ८७ ॥

विरहासहनादिवांबुवाहे मुहुरावर्षति पर्वतावतीर्णाः ।
पतिमभ्ययुरापगाः प्रवेगाल्लहरीहस्तगृहीतपूगपात्राः ॥ ८८ ॥

वर्षाके प्रारंभ होनेसेही मानो पतिस्वरूपसमुद्रके वियोगको न सहनकरनेवाली नदियां तरंगोंरूपी हाथोंमें पान सुपारी ले ले कर वेगसे अपने पति [समुद्र] के पास जाने लगीं ॥ ८८ ॥

स्मरतोमरतीव्रभेदविदध्वनिता चित्तशिलातलोपजाताः (पाः) ।
स्फुरदग्निशिखा इवोल्लिखंत्यो घनकूटानि तडिल्लताः प्रसस्रुः ॥८९॥

उस समय कामदेवके तोमरास्त्रके भेदसे ही मानो शब्दायमान चित्तरूपी शिलातलको खंडित करनेवाली अग्नि ज्वालाके समान स्फुरायमान, मेघरूपी पर्वतोंका घर्षण करती हुई बिजलीरूपी लतायें गिरने लगीं ॥ ८९ ॥

वनिताहृदये तमोमषीके रजनीभस्त्रिकया मनोभवाग्नेः ।
ज्वलितस्य घनैरिवाचिरांशुच्छलकीलारुचयः समुद्बभूवुः ॥ ९० ॥

जो उससमय मेघोंमें बिजलियां चमकने लगीं वे अंधकारके समान काले स्त्रियोंके हृदयमें मेघोंसे रात्रिरूपी भस्त्रिका [धोंकनी] द्वारा प्रज्वालित कामाग्निसरीखी मालूम होने लगीं ॥ ९० ॥

चिरगाध्युरकामिनीकचेतःक्षयगृध्रा घनकालवासतेयाः ।
शरदंबुदमुच्यमानपाथःपृथुधाराः परिकीलिता इवोर्व्याम् ॥ ९१ ॥

वियोगिनी स्त्रियोंके हृदयको फाड डालनेवाली, बडे मेघोंसे विपुल धाराओं द्वारा पानीको वर्षानेवाली व वर्षाऋतुकी रात्रियां कीलित हुईके समान बहुत कालत वहां वनीरहीं ॥ ९१ ॥

अचिरद्युतिरक्तकर्दमव्दैरिव कालेन विभिद्य खाद्यमानैः।
रुरुदे व्यथया विवर्तमानैर्मुमुचे भूरिजलं भृशाकुलाक्षैः॥ ९२ ॥

जिस प्रकार कोई प्राणी किसी बलवान द्वारा पेट फाड-कर खाया जाता है तो उससे लाल २ खून टपकता है, आंखोंसे आंसुओंकी झडी लगजाती है और पीडाके कारण जोर जोरसे चिल्लाता है उसी प्रकार काल द्वारा जब मेघ पेट फाडकर खाया गया अर्थात् वर्षा समय आगया तो चम-कती हुई बिजली तो रक्त सी मालूम होने लगी, गर्जना चिल्लाहट सरीखी और वृष्टि आंसुओंकी पंक्ति समान प्रतीत होने लगी ॥ ९२ ॥

कमलाकरमूर्जितप्रसादं रसिकं संप्रविमुच्य मुग्धमत्स्यैः।
अचिरादभिपातुकैर्बभूवेऽमृतमुच्चैर्विषमं विषप्रवाहम् ॥ ९३ ॥

अगाध श्रेष्ठ जलवाले सरोवरको छोडकर बाहिर कूदते फिरते जो मूढ मत्स्य थे उनसे वह विशाल विष [जल] का प्रवाह अमृत सरीखा होगया। भावार्थ—मेघका मलिन जल मछलियोंने अपने चलने फिरनेसे निर्मल कर दिया ॥ ९३ ॥

जलदैरमितः सदानभोगैरतिकर्मण्यगुणैर्निषिक्तगर्भा।

अलिकीटगृहीतपुष्पगंधा पचे तथापि न केतकी फलानि ॥ ९४ ॥

दान भोग [वीर्यदान जलदान] से विशिष्ट रति कर्मकरने में निपुण मेघोंद्वारा यद्यपि केतकी [वृक्ष] में गर्भाधान करदिया गया और भ्रमरोंसे उसके पुष्प [रज, फूल] की सुगंधि भी सूंघी गई परन्तु तो भी उसमें फल न लगे॥९४॥

विततैरिव विस्फुलिंगवर्गैररुणाशानदनैरिरंमदस्य।
वनमूरवकर्णिशक्रगोपैः प्रवितस्तार भयान्यवल्लभानाम् ॥ ९५ ॥

विद्युत्के फैलेहुये फुलिंगों (अग्निकणों) के समान पूर्व दिशाके तुल्य लाल लाल इन्द्रगोपों (रामकी गुडियायों] से वन व्याप्त होगया और उसे देख देख कर वियोगिनी स्त्रियोंके हृदयमें भयजन्य महती पीडा होनेलगी॥९५॥

अभिमानमुदस्य मस्तके कामनिदेशं न दधौ सवस्तुके का।
अनितां मुमुचुर्निशम्य के कामपि मेघागमजां मयूरकेकाम् ॥ ९६ ॥

उस समय ऐसी कोई स्त्री न थी जो अपने अभिमानको तिलांजलि दे कामकी आज्ञाका न पालन करनेलगी हो और ऐसा कोई भी पुरुष न था जो वर्षाऋतुकी सूचना देनेवाले मयूरों की हृदयहारिणी वाणीको श्रवण कर अपनी स्त्रीके पास न आया हो ॥ ९६ ॥

भुजगीरसिताः पयोदलेखा इव मुग्धाः ममदेन भक्षयित्वा।

विषवेदनयेव तीव्रयोगादनुसंधाय कलापिनः प्रणेदुः ॥ ९७ ॥

मेघकी रेखाके समान श्यामवर्ण नागिनियोंको हर्ष पूर्वक खानेवाले मयूर उनके तीव्रविषसे पीडित हो करही मानो जोर जोरसे शब्द करनेलगे ॥ ९७ ॥

जलदध्वनिनर्तितेन सद्यः स्फुरदुद्यानितबर्हमंडलेन ।
शिखिनां निवहेन सर्वदिक्काचलचित्रेव बभावरण्यभूमिः ॥ ९८ ॥

मेघोंकी गर्जना सुन अपने अपने बर्हमण्डल [पूंछ] को विस्तार कर नाचनेवाले मयूरोंके समूहसे वनभूमि समस्त दिशाओंमें चित्र विचित्रही दीखने लगी ॥ ९८ ॥

सतमालरुचेर्मनोज्ञभावं नवदूर्वांकुरसंततिर्विभेजे ।
गलिता मिलदंबुवाहभारान्नभसः श्यामलतेव भूतलस्य ॥ ९९ ॥

नवीन दूर्वाके अंकूरे जो तमाल वृक्षोंके समान नीले होगये उनसे मेघोंके भारसे बोझीले हुये आकाशसे पृथ्वीपर गिराहुआ श्यामलता गुण ही है ऐसा मालूम होने लगा॥९९॥

प्रणिधाय शिखंडिनं पुरस्तात् घृतधन्वा घनफल्गुनः सगर्जम् ।
निजघान शरैर्निकामतीव्रैर्वरभीष्मं तरुणीजनाभिमानम् ॥ १०० ॥

जिसप्रकार अर्जुनने धनुष धारण कर अपने साले शिखंडि [द्रुपदका लडका] को पहिले कर भीष्मको तीक्ष्ण तीक्ष्ण बाणोंसे माराथा उसीप्रकार मेघ इन्द्रधनुष धारणकर

शिखण्डीको [मयूरको] पहिले रख तरुण स्त्रियोंके भीष्म-[भयंकर] मानको कामके तीव्र तीव्र वाणोंसे भेदने लगा॥

स्खलितः कृतनृत्तनीलकंठस्फुरदुत्तंभितबर्हमंडलेषु ।
अवधूनितमल्लिकामनोज्ञप्रसवेऽनुद्रुतशाब्दितद्विरेफे ॥ १०१ ॥

जलदक्षरदंबुबस्थवीयःकणशैथिल्यविधानदृष्टदोषः ।
अभिशप्त इव क्रुधा कणद्भिस्तृषितैरंबरचारिचातकौघैः ॥ १०२ ॥

स्मरमंदिरतोरण जिहासोर्दयितानां परिवृत्तमूरुयुग्मम् ।
शिरसीव निधातुमुद्यतानो घनपाषाणमशेषदिग्मुखेषु ॥ १०३ ॥

विहरन्नखिलासु दिक्षु वायुर्वनितामानसतीरसंविरूढान् ।
अभिमानतृणांकुरानधाक्षील्लघुसंधुक्षितमन्मथानलेन ॥ १०४ ॥

(चतुर्भिः कुलकं)

उस समय जो पवन नृत्य करते हुये मयूरोंके स्फुराय-मान उत्तंभित वर्ह मंडलमें टकराया था जो इधर उधर दौड कर सुगंधि लेते हुये गुंजायमान भ्रमरोंसे संयुक्त, कांपते हुये मल्लिकायोंके पुष्पोंमें स्खलित हुआ था, जो मेघके गिरते हुये स्थूल कणोंको तितर वितर कर देनेसे दोषी होनेके कारण पिपासासे पीडित चातकोंके द्वारा अपने शब्दोंसे कोसा गया था और जो स्मर मन्दिरके तोरण स्वरूप कांताओंके सुवृत्त उरु-को छोड देनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके शिर पर मेघ वृष्टि

रूपी पाषाणको फैंकते हुयेके समान मालूम पड रहा था उस पवनने संपूर्ण दिशा विदिशाओंमें विहारकर अभिमानिनी स्त्रियोंके मनरूपी सरोवरके तट पर उपजनेवाले मानरूपी तृणोंके अंकुरोंको प्रज्वलित मन्मथरूपी अग्निसे सर्वथा जला डाला ॥ १०१–१०४ ॥

जलदागमनोचितैस्तु सौख्यैर्युवराजं प्रमदासदोनिषण्णम् ।
रचितांजलिरित्युवाच कश्चिद् वचनं हेतिगृहे कृताधिकारः ॥१०५॥

इसप्रकार जब वर्षा ऋतु नाना प्रकारके कौतुक दिखा रही थी और लोग उसमें भांति भांतिके सुख भोग रहे थे तो एक दिन युवराज वज्रनाभ भी अपनी प्यारी भामाओंके साथ राजभवनमें बैठे थे कि इतनेमें ही एक शस्त्रागारका प्रबंधकर्ता आया और हाथ जोडकर इसप्रकार नम्र निवेदन करने लगा ॥ १०५ ॥

स्फुरदार्चिरुदग्रदीर्घरेखाप्रकराक्रांतनभस्तलाय चक्रम् ।
प्रविशन्नरदेव ! शस्त्रशालामहमद्राक्षमरातिदुर्निरीक्ष्यम् ॥ १०६ ॥

" महाराज ! आज बडेही अहोभाग्यका दिन है जो अपनी तीक्ष्ण और विस्तृत किरणोंसे समस्त आकाशको व्याप्त करनेवाला देवताओंसे सुरक्षित चक्ररत्न आपकी आयुधशालामें प्रविष्ट हुआ है ॥ १०६ ॥

अमरैः परिवीद्यते तदुर्च्चैर्गगिमांल्लिस्फुरदंशुचित्रचेलैः ।

प्रवहद्भिरिव प्रमोदहेतून् सुरचापान्यपहृत्य वारिदेभ्यः ॥ १०७ ॥

वह देवताओं द्वारा चारो तरफसे रक्षित है इसलिये उन देवोंके मुकुटोंमें जो उसकी देदीप्यमान किरणें पडती हैं और मिश्रित हो जो वे चित्र विचित्र छटा दिखाती हैं उनसे देव लोग मेघोंसे छीनकर हर्षके हेतु स्वरूप इन्द्रधनुषको ग्रहण किये हुयेके समान लगते हैं ॥ १०७ ॥

जननाथ ! रथांगतो विभीता इव चापं प्रविमुच्य मुक्तशब्दाः ।
मिलिता घनदस्यवो घनांते पथिकप्राणहरास्तिरोभवंति ॥ १०८ ॥

पृथ्वीनाथ ! आपके उस चक्रके प्रतापसे डरकर ही मानो ये वियोगिनी स्त्रियोके प्राणहारक मेघरूपी चौर अपने अपने धनुषको छोडकर चुपचाप विना किसी प्रकारका शब्द किये चले जा रहे हैं ॥ १०८ ॥

चकितेव विधेयवर्णसीम्नस्तव हेतित्वमुपागते रथांगे ।
प्रविमुक्तनिशाविहारवृत्तिर्वसुधा पंकिलतामपोहतीयम् ॥ १०९ ॥

नरनाथ ! आपकी अधीनतामें यह चक्ररत्न आ गया है इसलिये मानो यह समस्त पृथ्वी चकित सरीखी हो गई है और अपनी निशाचर वृत्तिको छोडकर पंकिलता (कीचड) को भी छोडती चली जा रही है ॥ १०९ ॥

परिहेतिमयूखसंरिकृष्टं गगनक्षेत्रमिदं प्रसवितोयम् ।

तव देव ! यशस्यबीजवायानिव सर्वत्र बिभर्ति राजहंसान् ॥११०॥

देव ! आपके चक्र रत्नकी किरणोंरूपी हलसे जोता गया और प्रसन्नतारूपी जलसे परेवा (सींचा) गया जो यह आकाशरूपी खेत (क्षेत्र) है उसमें इस समय बोये गये आपके यशरूपी अन्नके बीज स्वरूप राजहंस सर्वत्र दिखलाई पड रहे हैं ॥ ११० ॥

देव ! त्रयोदश परेऽपि परोपतापकाले प्रभावमहिमोदयहेतवस्ते ।
अन्वागताः सपदि चक्रधरस्य चक्रं कुर्वंति रत्ननिधयो विविधांगलक्ष्मीम् ।

महाराज ! इतना ही नहीं, किंतु आपके प्रभाव और महिमा के सूचक चौदह रत्न और नौ निधियां भी प्राप्त होगई हैं जिससे कि आपके चक्रवर्तीकी समस्त लक्ष्मी प्रकट होती मालूम होरही है ॥ १११ ॥

बालं दिग्विजयोद्यमस्य शरदं दिश्याखिलक्ष्माभृतां
चेतोजर्जरणप्रभावमहितं चक्रादिरत्नागमम् ।
तस्यैव ब्रुवतः प्रमोदविकसन्नेत्रोत्पलश्रीनृप-
श्चक्रे नैकसहस्रवस्तुनिवहैस्तृष्णाकुटीपूरणम् ॥ ११२ ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते
महाकाव्ये वज्रनाभचक्रवर्तिचक्रप्रादुर्भावो नाम
पंचमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार समस्त पृथ्वी मण्डलके राजाओं पर आधिपत्य करानेवाले तेजस्विताके द्योतक चक्ररत्न आदिका आगमन जब उस पुरुषने कहा और साथही दिग्विजयके सर्वथा अनुकूल शरद ऋतुका भी उदय उसने बतलाया तो युवराजको बडीही प्रसन्नता हुई उसके नेत्रकमल हर्षसे फूल गये और बहुमूल्य अनेक वस्तुओंके दानसे उस शस्त्रागाररक्षककी तृष्णारूपी कुटीर को भरकर पूर्णकर दिया ॥११२॥

इसप्रकार श्रीवादिराजसूरिविरचित संस्कृत पार्श्वजिनेश्वर—
चरितकी भाषा वचनिकामें वज्रनाभ चक्रवर्त्तीके,
चक्र रत्नका प्रादुर्भाव बतलानेवाला
पांचवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा सर्ग।

विधिप्रसिद्धां प्रविधाय पूजां चक्रस्य चक्री स बली बलेन।
क्रमेण दिक्चक्रजयाय जिष्णुर्जगाम कामार्चितजीविलोकः ॥ १ ॥

राजभवनसे निकलकर युवराज वज्रनाभने सबसे पहिले तो शास्त्रानुसार चक्रकी पूजाकी और फिर लोगोंको इच्छानुसार (किमिच्छक) दान दे दिग्विजय करनेकेलिये सेनाके साथ तयारियां करना प्रारंभ कर दिया ॥ १ ॥

अरातिभूपालसमूहभीतिस्फुटन्मनःशैलरवस्य शंकाम् ।
व्यधत्त पुंसां नरलोकभर्तुः प्रस्थानशंसी पटहप्रणादः ॥ २ ॥

महाराज चक्रवर्ती वज्रनाभके जो जय यात्राके सूचक बाजे बजने लगे, भेरी पिटने लगी तो उससे शत्रुओंके भयसे फटे हुये हृदयरूपी पर्वतोंकासा शब्द निकलने लगा॥२॥

जिनेश्वराभ्यर्चनपुण्यतंदुलैः समं स दिष्टं जिनशासनद्विजैः ।
सहर्षमाशीर्वचनं समग्रहीत् भवंति भव्या हितवस्तुवेदिनः ॥ ३ ॥

जिनेंद्र भगवानके शासनके जो द्विज थे उन्होंके द्वारा जिन पूजाके पवित्र तंदुलोंके निक्षेपपूर्वक दिये गये शुभ आशीर्वादके वचनोंको उसने सहर्ष स्वीकार किया । सो ठीक ही है जो भव्य होते हैं वे हितकर वस्तुको जाननेवाले होते ही हैं ॥ ३ ॥

लावण्यपल्लवभृतो मुखदर्पणांका—
न्मांगल्यपूर्णकलशानिव वारयोषाः ।
आवेष्टयंश्च वसुधेशमनाशकीर्ति
कार्तस्वरच्छविकचारुकुचान् दधानाः ॥ ४ ॥

जिसप्रकार शुभ कार्यके समय हरे पत्ते, उज्ज्वल दर्पण और जलसे भरे हुये कलसे मंगलीक समझ रक्खे जाते हैं उसीप्रकार विजय यात्रा केलिये गमन करनेमें उत्सुक उस

अविनश्वर कीर्तिवाले चक्रवर्ति को अपने लावण्यरूपी पत्रोंसे विशिष्ट मुखरूपी दर्पणसे सुशोभित, सुवर्ण की सी शीली कांतिके धारक कुचरूपी मंगलीक कलसोंसे युक्त वेश्यायें चारो तरफसे घेरने लगीं ॥ ४ ॥

कमलोद्वहि दूरमुज्जिगांसौ रथमासेदुषि तत्र पार्थिवार्के ।
अभवत् सुमहोदयः पुरस्तादनुरागोल्वणसुप्रसन्नदिकः ॥ ५ ॥

जिसप्रकार सुदूर आकाश मार्गको तय करनेकेलिये रथमें सवार हो जब सूर्य निकलता है तब पुष्प खिल जाते हैं दिशायें सुप्रसन्न हो जाती हैं और लोग काम काज करनेमें लग जाते हैं उसी प्रकार दूर दूर देशोंके विजय करनेकेलिये जब लक्ष्मी के धारक चक्रवर्ती रथ पर सवार हो चलने लगे तो बडा भारी उत्सव किया गया और समस्त दिशाओं के लोग अनुरागके वशीभूत हो प्रसन्न हो गये ॥५॥

अनेकदिग्भेदविदर्कबिंबमार्गोपदेशप्रतिपन्नकृत्यम् ।
प्रभाविनस्तस्य भयादिवाग्रे चक्र प्रभामालि चचाल भीमम् ॥ ६ ॥

सूर्य बिंबके समान दिशाओंके भेदको बतलानेवाला भयंकर प्रभावसे समन्वित चक्र उस तेजस्वी चक्रवर्तीके डरसे ही मानो आगे आगे चलने लगा ॥ ६ ॥

चक्रप्रभावेन नृपस्य तेजो निवेश्यमानं निखिलासु दिक्षु ।

उल्काच्छलेनाहितभूपतीनामुत्रासयामास विलोचनानि ॥ ७ ॥

उस वज्रनाभका चक्रके प्रभावसे समस्त दिशा विदिशाओंमें तेज फैल गया और वह क्रांति (फुलिंगों) के बहाने शत्रु राजाओंके नेत्रोंको कष्ट देने लगा ॥ ७ ॥

छत्रच्छलेन शुचिशारदमभ्रमुच्चैरन्यप्रभामुपरि चक्रधरादसोढुम् ।
एकांबरानुगमबंधुतयेव भानुं छायासुधामधुरमावृतमभ्यरक्षत् ॥ ८ ॥

गमन करते हुये उस पृथ्वीनाथके शिर पर जो श्वेत छत्र तना था उससे ऐसा मालूम पडने लगा मानो अपने ऊपर अन्य तेजस्वीका तेज पडना न सह सकनेके कारण यह चक्रवर्ती सूर्यका नाश कर देगा ऐसा समझकर एक जगह (आकाशमें) रहनेसे उत्पन्न हुई मित्रताके वशीभूत होकर शरत्कालीन मेघही छायासे सूर्यको छिपा रहा है ॥ ८ ॥

ऋजुवक्रतया पिशंगकृष्णौ प्रकृतिस्थूलकृतौ च दंडखड्गौ ।
क्षितिपस्य निदेशकाम्ययेवाचलतामग्रपदे मिथोऽविरुद्धौ ॥ ९ ॥

परस्पर विरुद्ध गुणवाले दो पदार्थ एक साथ बिना विरोध किये नहीं रह सकते परन्तु इस महाराजकी आज्ञा पालने की इच्छासे ही सीधा, पिंगल और स्थूल तो दंड एवं इससे विपरीत टेडा काला और पतला खड्ग दोनो ही परस्पर बिना एक दूसरे का विरोध किये आगे आगे चलने लगे ॥

तस्य पार्थिवपतेरभिपार्श्वे चामरे प्रचलिते हिमशुभ्रे।
कायकांतिविभवामृतसिंधोर्वीचिविभ्रमरुचं व्यदधाताम् ॥ १० ॥

उस चक्रवर्तीके दोनो तरफ हिम (बर्फ) के समान श्वेत जो चमर ढुलते चलते थे वे शरीरकी कांतिरूपी क्षीर समुद्र की लहरें सरीखे शोभित होते जाते थे ॥ १० ॥

निष्टप्तहाटकरुचिः कटकावभासी, सोच्छ्रायमूर्तिरतिलंघितसर्वतेजाः
रेजे स रत्नमुकुटेन यथा सुमेरुस्तारागणेन शिरसि प्रतियुंजितेन ११

जिसप्रकार शिखर पर संलग्न ताराओंके समूहसे निष्टप्तहाटकरुचिः—तपाये हुये सुवर्णके शरीरवाले, कटकावभासी–शिखिरोंसे सुशोभित, सोच्छ्रायमूर्तिः–अत्यंत ऊँचे और सबके तेजको उल्लंघन करनेवाले सुमेरु पर्वत की शोभा होती है उसी प्रकार रत्नजडित मुकुटसे सुवर्ण की सी कांति वाले शरीरके धारक, कटक–सैन्यसे सुशोभित, उन्नतकाय और समस्त राजाओंके तेजको उल्लंघन करनेवाले उस चक्रवर्ती की शोभा हुई ॥ ११ ॥

सकलवसुधानाथे तस्मिन् जयाय दिशां तदा
चलति तदरिव्रातःवानप्रधानकृतागसः।
पुनरिव भयात्तस्याराद्वीनिहेतिविदर्शिकाः
सपदि ककुभः सर्वाः सम्यक् प्रसेदुरधूलयः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वीके अधिपति चक्रनाभ जब दिग्विजय के लिये रवाना हुये तो शत्रुओंको जगह देनेके कारण अपराधिनी हुई दिशायें इनके डरसे ही मानो छिपे हुये शत्रुओंको दिखलाती हुई के समान धूलिरहित प्रसन्न (उज्ज्वल) हो गई ॥ १२ ॥

अंबुप्रसादसुभगैर्विकसत्पयोजश्रीबंधुरैर्मधुरतारतटाकनेत्रैः।
पुष्पंधयावलिरवैःस्तुवतीव नाथं तं निर्गतं शरदिवैक्षत भूत्रधात्र्याः

उस समय निर्मल जलके भरे हुये, खिले हुये कमलोंसे सुशोभित विशाल तालावरूपी नेत्रोंसे शरद् ऋतु पृथ्वीनाथ को देखकर गुंजारते हुये भ्रमरोंके शब्दोंसे स्तवन करती हुई के समान मालूम पडने लगी ॥ १३ ॥

मलिनजघनाभोगभ्रश्यत्पयोविमलांबराः
प्रकृतिमधुरारागोत्फुल्लमहोत्पलवीक्षणाः।
सजलविहगध्वानोत्तानप्रवृत्तिमनोहरा
रतिभरसमाक्रांताः कांता इवैक्षत निम्नगाः ॥ १४ ॥

जिसप्रकार कामदेवसे सताई गई कामिनियोंके जघन से वस्त्र गिर जाते हैं, स्वाभाविक प्रेमके वशीभूत हो नेत्रकमल प्रफुल्लित हो जाते हैं और गुनगुनाहट शब्दोंसे युक्त मनोहर प्रवृत्ति हो निकलती है उसीप्रकार उस चक्रवर्तीने मार्गकी नदियोंकी दशा देखी अर्थात् उन नदियोंके मलिन

पुलिन भागसे भी जलरूपी श्वेतवस्त्र गिर गया था (किनारेका पानी सूख गया था) कमलरूपी नेत्र खिल रहे थे पक्षियोंके शब्दोंसे युक्त मनोहर लहरें उठ रहीं थी ॥ १४ ॥

येन तदीयगुणावलिमुच्चैर्गीतपदोपनतां कलयंत्यः ।
यौवनरूपमनोहरवेषाः शुश्रुविरे कमलावलिगोप्यः ॥ १५ ॥

उस चक्रवर्तीने मार्गमें जाते हुये अपनी कीर्तिको गीतोंमें गाती हुई यौवनावस्थाके आजानेके कारण मनोहर रूपकी धारिकायें कमलपंक्तिकी रक्षा करनेवाली गोपियां देखीं ॥ १५ ॥

उच्छ्रायिषु प्रचलितेषु गजेषु तस्य
पीतध्वजोल्लसितदिक्षु मदांबुमुक्षु ।
विद्योतमानजलवाहगलत्नवांभाः
कालः शरद्युतनः स इवोद्बभूव ॥ १६ ॥

अत्युन्नत, मदरूपी जलको छोडनेवाले और पीली ध्वजाओंसे दिशाओंको चमकानेवाले हाथी उस राजाके साथ चलते थे सो उनसे बिजलीसे सहित जल वर्षानेवाले वर्षा ऋतुका आगमन उस शरत्काल में आगया सरीखा मालूम पडता था ॥ १६ ॥

निरस्य करिणां गलन्मदजलाः कपोलस्थलीः
सुगंधकलमान्मूनपि विमुच्य ताः षट्पदैः ।

भ्रमद्भिरभिवेष्टितं गगनमंडलं निर्वभौ
दिवीसरविवासरेऽपि तमसेव संछादितम् ॥ १७ ॥

चूने हुये मद जलसे विशिष्ट हाथियोंकी गंडस्थली और सुगंधित धानकी डालोंको छोडकर आकाशमें उडते हुये भ्रमरोंसे सूरजसे प्रकाशित भी दिन अंधकारसे व्याप्त सरीखा मालूम पडता था ॥ १७ ॥

विभक्तमदनिर्झरैः पृथुलविग्रहैः प्रध्वनद्—
बलाहकसमुद्वहैरिव महीधरैरुद्धृतैः ।
शनैरभियये जवस्फुरितखेटनिर्भर्त्सितै—
रपि क्षितिपतेर्द्विपैरुपरिलब्धढक्कारवैः ॥ १८ ॥

उस चक्रवर्तीकी सेनाके साथ साथ मद जलके चुआनेवाले विशाल शरीरके धारक हाथी धीरे २ चल रहे थे और उन पर नौबत घुरती जाती थी इसलिये वे बडे भारी, गर्जते हुये मेघोंको धारण करनेवाले उखाडे हुये पर्वत सरीखे मालूम पडते थे ॥ १८ ॥

सम्राट्शशांकरुचिवर्धितजीवनाश्चे
सेनार्णवे चलति भूमिभृतामुदग्राः
श्वेतातपत्रनिवहाः प्रविरेजुरंभो—
लिप्सा गता इव शरत्समयांबुवाहाः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार चंद्रमाके उदय होने पर समुद्रमें जल बढ

जाता है उसीप्रकार वज्रनाभ चक्रवर्तीरूपी चंद्रमाके उदय से जब अश्वरूपी जल सेनारूपी समुद्रमें बढ गया तो साथी राजाओंके शिर पर तने हुये श्वेत छत्र जल लेनेकी इच्छासे आये हुये शरत्कालीन मेघोंके सरीखे सुंदर जान पडने लगे॥

अभिसारिकामनुचरं तुरगं प्रविलोक्य कश्चिदुपलब्धरताम्।
सविचित्रवल्गनमनोज्ञपदं पथि पर्यधावयदुदूढभयम् ॥ २० ॥

उस समय कामसे सतायी गई घोडी और उसे देख कर सवारी किये हुये भी कूदते व हींसते हुये घोडोंको देख देख कर लोग मार्गमें इधर उधर भागने लगे ॥ २०॥

कश्चित्पुनर्दयितया तुरगाधिरूढो यानस्थया चटुगुणं किमपि ब्रुवाणः
मार्गोपकंठनगरद्रुमदीर्घिकाणां द्रष्टाऽपि वर्त्मपृथुदूरमयादबोद्धा २१

कोई कोई घोडे पर चढा हुआ सेनाका सुभट उस समय पालकी पर चढी हुई अपनी प्यारीके साथ कुछ धीरे धीरे मीठी २ बातें कहता जा रहा था और इसीलिये मार्गमें पडते हुये भी नगर पेड और बावडीओंको देख कर भी न देखते हुयेके समान बहुत दूर तक चला जा रहा था॥

काश्मीरपंकपरिदिग्धशरीरयष्टिः
पीनौ स्पृशन् कुचभरावसकृत्प्रियायाः।
तांबूलहारि विदधच्च मुखं सुखेन
कश्चिद् ययौ गजवशो धृतपुष्पकेण ॥ २२ ॥

कोई २ हाथीका सवार अपने शरीरमें केसरका सुगंधित लेप किये हुये था, अपनी प्यारीके स्थूल स्तनोंका वार बार स्पर्श करता चलता था और मुखसे ताम्बूल युक्त मुख करता जाता था ॥ २२ ॥

अनुलग्नया प्रमदया हृदयं प्रकृतापहारमिव रोद्धुमनाः ।
परिवर्त्य वक्त्रमितरोऽश्वतरे चलितः प्रतिक्षणमवैक्षत ताम् ॥ २३॥

कोई कोई टट्टू पर चढा सवार अपने पिछार पिछार चलने वाली प्यारी द्वारा हरण किये गये अपने हृदयको रोकनेकी इच्छासे ही मुह घुमा घुमा कर बार बार उसकी तरफ ताकता चलता था ॥ २३ ॥

हस्तिनः समदधावतो भयादुत्प्लवेन तुरगेण पातिता ।
वारयोषिदवनीभृतो जनैर्हासगर्भवदनैरदृश्यत ॥ २४ ॥

मदसे मत्त अत एव दौडते हुये हाथीसे डर कर घोडे उछल फांद करने लगे और उन परसे कोई कोई वेश्यायें गिर पडीं जिन्हें देख देख कर सेनाके लोग अपनी हंसी मुंह में ही छिपाने लगे ॥२४ ॥

भिवानवष्टभ्य पुरःस्थिता नृणां भयश्च पादान् मणिनूपुरावहान् ।
अयानभूवुः सुभगाः पुरंध्रयः स्खलन्मुद्दामकरेणुवाहिताः ॥ २५ ॥

हथिनियों पर अपने अपने पतियोंका आलिंगन कर

बैठी हुई स्त्रियां मणिके पायजेबोंसे सुशोभित अपने पैरोंको दिखलाती हुई आनंदपूर्वक साथ साथ चलने लगीं ॥२५ ॥

भग्नैरनोभिरतिभारवशान्मदांधै रुद्धे नु वर्त्मनि गजैरपि कृच्छ्रनेयैः
दुःखेन तस्थुरितरे भरभुग्नकंठाः पाश्चात्यहस्तिकरसीकरसिक्तपृष्ठाः

अधिक बोझके भारसे रास्तेमें जो गाडियां टूट गईं, मद से माते हाथी जो चलाये जाने पर भी न चले और उनसे मार्ग रोक लिया गया तो कंधे पर भार रखनेवाले लोग बडे कष्टसे वहां ठहरे एवं पिछार पिछार आनेवाले हाथियों की सूंडसे झरनेवाले मदसे उनकी पीठ भींग गई ॥ २६ ॥

कुसुमसुरभिगंधि तोयमन्नं शकटभृतः सततं बुभुक्षितेभ्यः ।
अभिरुचितमनुक्रमाद्दयच्छन्नपि वनवर्त्मसु चाक्रिणो नियुक्ताः ॥२७॥

उस समय बनके रास्तोंमें पुष्पोंकी गंधसे सुगंधित जल और अन्नको बांटनेकेलिये लोग महाराज वज्रनाभने नियुक्त कर दिये थे और वे भी भूखे प्यासोंको उनकी इच्छानुसार अन्न जल बांटते जाते थे ॥ २७ ॥

परिप्लुतहयावलिस्फुरितहेमपर्याणक—
च्छविप्रसर्पिंगलाश्च ककुभोऽपि बभ्राजिरे ।
भयादिव जिगीषतस्सकलचाक्रिणस्साश्रियं
विबभुरभितृप्तये कनकसाष्टिमिष्टामिव ॥ २८ ॥

उछलते कूदते हुये घोडोंके चमकते हुये सुवर्णमयी पलानों (कांटां) की चमकसे दिशायें पीली ही पीली होगई सो उससे ऐसा जान पडने लगा मानो दिग्विजयकी इच्छासे आते हुये चक्रवर्तीको संतुष्ट करनेकेलिये उसके भयसे ही वे दिशायें अभीष्ट सुवर्ण लक्ष्मीको बतला रही हैं ॥ २८ ॥

आनीलविग्रहमहोन्नतिचुंबिताभ्राः
सिंदूरसद्धतिभृतो भृतधातुरागाः ।
नागा नगाश्च गमनागमनप्रकृत्या
भेदेन संबुबुधिरे पथि मानवौघैः ॥ २९ ॥

उस चक्रवर्तीके हाथी कुछ नीले और ऊंचाईसे मेघोंको स्पर्श करनेवाले शरीरके धारक थे, सिंदूरसे शोभित थे और धातुराग (मद) से विशिष्ट थे इस लिये कुछ नीले अपनी चोटी (शिखर) से मेघोंको स्पर्श करनेवाले, सिंदूरसे युक्त, गैरिक आदि धातुओंके धारक पर्वतों सरीखे जान पडते थे और अत एव रास्ताके लोग चल अचल प्रकृतिसे दोनोंमें भेद समझते थे ॥ २९ ॥

वनगजमदावेशोदीर्णक्रुधस्तदकुर्वत
क्षितिपतिगजा धावंतस्ता दिशो दलितांकुशाः ।
कृतकलकलं भ्रश्यद्वारं भयादनडुत्कुलं
पथि यदनुविभ्राम्यद् गा[पमुञ्ज] मपलायेत ॥ ३० ॥

मदसे मत्त जंगली हाथियोंको देख कर क्रुद्ध हुये उस चक्रवर्तीके हाथी अंकुशोंकी कुछ भी पर्वा न कर इधर उधर भागने लगे और उनके डरसे बोझको पटक कर डींगते हुये बैल एवं उनके पिछार २ रहनेवाले ग्वाले दौडने लगे ३०

मायूरपिच्छरचितोल्लसदातपत्रच्छायावृतैरनुगमागधदत्तगीतैः।
आन्दोलकैः सुरभिचंदनदिग्धगात्राः केचित्सुखालसदृशः प्रययुर्महीशाः

उस समय सुगंधित चंदनका शरीरमें लेप किये हुये जो बहुतसे राजा लोग चक्रवर्तीके साथ २ सुखसे गमन करते चलते थे उनके ऊपर मयूर पिच्छके बने हुये छत्र तन रहे थे, और भाट (वैतालिक) लोग गीत गा रहे थे जिस से महा आनंद प्राप्त होता जाता था ॥ ३१ ॥

वस्तुसारनिवहं प्रतिपाद्य प्रीणितेन विजयातनयेन।
कर्मयोजनकृतस्सह तत्तन्मंडलाधिपतयः प्रविचेलुः ॥ ३२ ॥

वज्रनाभ मार्गमें जहां जहां होकर गये वहां वहांके ही राजा अनेक बढिया बढिया वस्तुओंको भेटमें ला कर उन्हें प्रसन्न करने लगे और दिग्विजयमें सहायता करनेके उद्देश्यसे साथ साथ चलने लगे ॥ ३२ ॥

ग्रामरैः स ददृशे भयादुपग्रामवर्तिभिरुपेत्य चक्रभृत्।
क्षेमदः सुरभिशालितंडुलस्तोमहेमानिवहाद्युपायनैः ॥ ३३ ॥

छोटे छोटे खेडोंके लोग डरके मारे चक्रवर्तीके पास

आने लगे और सुगंधित चावल आदिके ढेर भेटमें दे कर खुश करने लगे ॥ ३३ ॥

केचिदत्रसवदन्सुहृदो बालातपे यूनत वर्त्म दवीयः ।
दीर्घिकातटभुवः सहकारा विश्रमाय पुरतोऽपि भवंति ॥ ३४ ॥

सेनाके कोई २ सुभट प्रातः काल ही [जब तक धूप कड़ी नहीं होती] चलनेके लिये कहने लगे और सामने बावडियोंके किनारों पर लगे हुये आमोंको छायामें विश्राम लेनेकी सलाह देने लगे ॥ ३४ ॥

तीरे भूरिद्रुमवति वधूबंधुभिर्भोजनांते
विश्रांतानां क्षणमनुचराः पद्मिनीपत्रगूढम्
अंभः शुभ्रं सबिसवलयं पद्मजालं सनालं
ताम्यत्यंशौ पथि धनवतामाहरन् दीर्घिकाभ्यः ॥३५॥

चक्रवर्तीकी सेना जिस समय बहुतसे पेडोंसे युक्त बावडियोंके तीर पर ठहर गई तो लोगोंने अपने भाई बंधुओंके साथ २ आहार आदि किया एवं उनमेंसे धनिक लोगोंके नोकरोंने गरम रेतवाले मार्गमें जा कर निर्मल, शीतल, और कमल पत्रसे सुशोभित जल बावडियोंसे ला ला कर दिया ।

कूजद्घंटारावाः पृथुलघनलांगा वलयभृ—
द्विषाणाः सिंदूरच्छविरुचिरचूडा दृढबलाः ।
वराहालंकारा नवसमरमुदा क्षितिपते—

में रद्धा हो पश्चात्कृत्य से तत्क्षण सेनार्णवे (?) ॥२६॥

पुरस्तात्प्रस्थानौ पटुसुभटसेनायुधमया—
बलंडमारंहौ रणशिरसि दंडौ विजयिनः।
व्युदस्य स्वस्थानादनवनतमूर्द्धसु महतो
द्विभेदान्यक्ष्येप्तां स्फुटमवनतेषु क्षितिभृतः ॥ ३७ ॥

विजय यात्राके लिये चलते हुये चक्रवर्तीके आगे आ चतुर बलवान् योद्धा और पैने तीक्ष्ण हथियारवाली रणक्षे में काम आनेवाले दो दंड चलते थे और उनसे जो शत्रु घमंडसे ऊंचा मस्तक ही किये रहते थे उनके शिर अपने स्थानसे अलग कर दिये जाते थे ॥ ३७ ॥

चक्री स एवं बहुभिः प्रयाणैरक्तामगादुद्धतभंगकारी।
हंसावलीनिस्स्वनमुग्धवाचा तदैव सा स्वागतमभ्यधत्त ॥ ३८ ॥

इस प्रकार बहुतसे पड़ाव डाल डाल कर शत्रुओंका नाश करने वाला वह चक्रवर्ती रक्ता नदीके किनारे पर पहुंचा और वह नदी भी हंसोंके मधुर वचनोंसे उसका स्वागत सरीखा करने लगी ॥ ३८ ॥

भंगोच्छलच्छिशिरशीकरजालमब्ज—
किंजल्कपिंजरितमर्घधियेव बिभ्रन्।
अभ्यागतं क्षितिपमभ्युदियाय वायुः
सिंधोः स्फुटध्वनिमधुव्रतडिंडिमोघैः ॥ ३९ ॥

उस समय लहरोंके उछलते हुये जलसे शीतल; कमलों की परागसे सुगंधित, और गुंजारते हुये भ्रमरोंसे युक्त जो पवन चलने लगा सो उससे जल कमल और डिंडिम द्वारा चक्रवर्ती का पाद्यार्घ सरीखा करता मालूम होने लगा ॥३९॥

प्रोल्लसत्कमलमुन्मदेभमुल्लोलहंसधवलध्वजं जलम्।
चक्रिणश्च वलमनुटद् ययौ विक्रमादुभयतो नदीतटम् ॥ ४० ॥

कमलोंसे सुशोभित, जलहस्तियोंसे युक्त और चंचल हंसोंकी पंक्तिसे सुंदर उस रक्ता नदीके जलके समान कमला—लक्ष्मीसे युक्त, मत्त हस्तियोंसे सुशोभित और हंस पंक्तिके समान श्वेत चंचल ध्वजाओंसे सुंदर उस चक्रवर्ती का सैन्य वहां ठहर गया ॥ ४० ॥

स्फुरन्मणिशिलातले सुरभिवल्लरीमंडप—
च्युतप्रसववासिते मरुति वाति नद्यास्तटे।
प्रियाधरमधु श्रमादिव निपीय मार्गागना
विशश्रुरलसधरा: सुखनिमीलिताक्षाः क्षणम् ॥ ४१ ॥

लताओंके गिरते हुये फूलोंसे सुगंधित नदीके किनारे का होनेसे शीतल जब पवन चलने लगा तो मणिके समान स्वच्छ शिलातलपर अपनी प्यारी स्त्रियोंके अधरोष्ठरूपी मधुका पान करते हुये मार्गकी थकावटको दूर करनेकेलिये लोग सुखपूर्वक सोने लगे ॥ ४१ ॥

भावीदिष्टमितरेतरपुष्टिस्पर्द्धयेव मधुरः फलवर्गः।
चक्रवर्तिकटकाय विभेजे तन्नदीमणितटद्रुमखंडैः ॥ ४२ ॥

उस नदीके किनारे पर जो पेड थे वे एक दूसरेकी स्पर्द्धा करते हुयेके समान अपने अपने मधुर फल चक्रवर्तीकी सेना-को यथेष्ट देने लगे ॥ ४२ ॥

क्षितिपतिमवलोक्यैवागतं दिग्जयाय
स्वयमधिकमथाक्ता वर्त्मयुक्ता च रक्ता।
स्फुटमित इत एहीत्यावदंती शकुंत-
ध्वनिभिरिव पुरस्तात् गच्छ गच्छेत्यगच्छत् ॥ ४३ ॥

उस चक्रवर्तीको दिग्विजय करनेके लिये अपने पास आया हुआ जान वह रक्ता नदी पक्षियोंके शब्दसे स्पष्ट 'आइये आइये और आगे बढते जाइये' कहती हुईके स-मान जान पडने लगी ॥ ४३ ॥

आसीदरसकलजनोत्सवेन गच्छन् भूनाथैरनुनदि रम्यवर्त्मनैवम्।
उद्योगस्थगितमनाः स चक्रवर्ती शीतोदानिकटमगादगाधशौर्यः ४४
तस्मिंछुभ्यपतिनिर्मितमूर्मशुभ्रप्रासादमालि नगरं नरलोकपालैः।
गच्छद्भिरेव कृतविस्मयमालुलोके साट्टालशालमणिगोपुरमुत्पताकम्

नदीके किनारे २ मनोहर मार्गसे अनेक राजाओं के साथ २ उत्सवपूर्वक चलता हुआ वह अगाध पराक्रम का धारी चक्रवर्ती शीतोदा नदीके किनारे पर आया और

वहां स्थपति [बढई, चक्रवर्तीका रत्न] द्वारा बनाया गया ऊंचे ऊंचे विशाल घरोंसे सुशोभित खाई साल और गोपुर से वेष्टित, पताकाओंसे भूषित एक नगर देखा जिससे साथी राजाओंको बडा भारी आश्चर्य हुआ ॥ ४४-४५ ॥

विभज्य सेनापतिपारिपार्श्विकाः परिभ्रमंतो भृतवंशयष्टयः ।
परीत्य चक्रेश्वरवासमंदिरं निवासयामासुरिलातलेश्वरान् ॥ ४६ ॥

उस नगरमें सेनापति और पारिपार्श्वकोंने (अंगरक्षकं) चक्रवर्तीके रहने योग्य महल ढूंढा एवं उसके चारो तरफ अन्य राजाओंको बसा दिया ॥ ४६ ॥

अग्रप्रधावितकशाकरसौविदल्लै-
रुत्सारितेषु नृषु शिल्पिविशेषभाजः ।
विद्युल्लता इव घनादवतीर्य यानाद्
देव्यो यथास्वमविशन्नृपमंदिराणि ॥ ४७ ॥

आगे हाथमें बेंत लेकर दौडते हुये कंचुकियोंसे जब मनुष्य हटा दिये गये तो मेघोंसे विजलीके समान सवारियों परसे रानिया उतरीं और अपने अपने राजाओंके महिलोंमें चली गईं ॥ ४७ ॥

काश्चित्तुरंगमनताः स्वयमप्रभूत्वादभ्यर्थितैस्तु दयितैरवरोप्यमाणाः
प्रीत्येव चारुकुचपीडितवक्षसस्तत्कंठेपु गाढविधिबाहुलता बबंधुः ॥

अपने आप घोडे परसे उतरनेमें असमर्थ कोई स्त्रियां

प्रार्थना करने पर पतियोंने उनकी और भयभीत हो उन्होंने गलेमें मजबूतीसे अपनी बाहें डाल दी ॥ ४८ ॥

आश्लिष्य कंठमवरोपयतुस्तुरंगात्
कांतस्य तच्छ्वसि काचिदवोचदेवम् ।
स्पृष्टा तु मच्चरणयोः कठिना धरित्री
पीडां तनोति नय तत्स्वयमेव शय्याम् ॥ ४९ ॥

घोडे परसे गोदमें लेकर उतारते हुये पतिसे कोई कोई स्त्री तो यों धीरेसे कानमें बोली कि ' पृथ्वी कडी है, मेरे पैरोंमें चुभेगी, इस लिये जरा तुम्ही खाट तक मुझे पहुंचा आओ ॥ ४९ ॥

गलद्गात्रस्वेदा व्यजनकमरुत्संगसुहिता
दवीयोऽध्वभ्रांताः क्षणमनवरूढा हयकुलात् ।
विपश्यंतस्तस्थुर्निजभवनरम्याजिरगतां
यथास्थानं सेनामभिनिविशमानां क्षितिभृतः ॥ ५० ॥

लंबे रास्तेका पार कर आनेसे थके हुये राजा लोग घोडोंसे उतर पडे। उस समय उनके शरीरसे पसीना चूरहा था और इसलिये पंखेकी हवा हो रही थी तो भी अपने भवनके मनोहर आंगनमें यथास्थान विश्राम लेती हुई सेना को देखनेकेलिये खडे हो गये ॥ ५० ॥

अध्वक्लमापगमरम्यविधानवेषा
वास्तव्यतामिव गता नगरस्य वेश्याः ।

आकस्मिकस्मितकथानुनयैर्भुजंगान्
प्रत्यग्रहीषुरविकल्पितमध्वखिन्नान् ॥ ५१ ॥

रास्तेकी थकावट दूर हो जानेसे मनोहर वेष और भूषा ... कर सुसज्जित हुई वेश्यायें आकस्मिक मुसकराहट कर बातें और अनुनय विनयोंसे मार्गके थके हुये विट लोगोंको रमण कराने लगीं ॥ ५१ ॥

त्यक्तायोगागाक्लितंबहलस्वेदचिक्कणपृष्ठाः
स्थूरपृष्ठाः क्षितिविलुठनाल्लब्धकंडूतिभंगाः
एकैकस्यैराधिकृतजनैः पातुमंभस्तृषार्ता
जग्मू रक्तां करगतदृढप्रग्रहैः कृष्यमाणाः ॥ ५२ ॥

पसीनेसे तल वतल शरीरवाले घोडे जब रथोंसे खोल दिये गये और पृथ्वी पर लोट लगानेसे अपनी देहकी खाज मिटा चुके तो सईस लोग हाथमें मजबूतीसे लगाम पकड़ कर रक्ता नदीमें पानी पिलाने ले गये ॥ ५२ ॥

जयैषिणश्चक्रभृतो भयात् ध्रुवं करैरनाक्रम्य दिशस्तदा रथी ।
प्रतापहीनो घनवर्त्मंमंडलादधावदस्ताचलमस्तकं रविः ॥ ५३ ॥

जयकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीके भयसे ही मानो उस समय कर [किरणें, मालगुजारी] से दिशाओंको न व्याप्त कर सूरज आकाशरूपी देशसे प्रतापहीन हो जानेके कारण अस्ताचलकी तरफ भाग गया। भावार्थ–सांझ हो गई।

स्कंधावारं प्रविशति तदा भर्तरि क्ष्मापतीनां,
नांदीनादः पणवतुणवाद्युद्धानिध्वानमिश्रः ।
तेजोभंगं दिनकृत इवोद्धुमाशासु गच्छं-
स्तत्रस्थानामकृत करिणां कर्णरंध्रेषु पीडाम् ॥ ५४ ॥

जिस समय समस्त राजाओंके अधिपति चक्रवर्ती वज्रनाभने अपनी छावनीमें प्रवेश किया तो जोरसे बजते हुये बाजोंकी ध्वनिसे मिश्रित नांदी [राजाओंके लिये दिये गये आशीर्वाद] के शब्द समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो गये और उनसे हाथियोंके कानोंमें पीडा होने लगी सो उससे ऐसा जान पडने लगा मानो सूरजके प्रताप नाशकी यह सूचना ही हो रही है ॥ ५४ ॥

मणिमयतटभित्तौ तीव्रवेगाभिघातात्
ध्वनति बधिरताशं निम्नगायास्तरंगे ।
विवृतगलबृहत्कं बृंहितं श्यामशैलाः
प्रतिरवमिव चक्रुश्चक्रिसेनागजेंद्राः ॥ ५५ ॥

उस नदीका जल तरंगों द्वारा मणिनिर्मित तटों पर जब जोर जोरसे टकराने लगा और दिशाओंको गुजा देने वाला शब्द करने लगा तो पर्वतके समान काले चक्रवर्तीकी सेनाके हाथी अपने चौडे २ गलोंको फाड २ कर प्रतिध्वनिके समान चिंघाडने लगे ॥ ५५ ॥

आसन्नमस्तमयमात्मन एव दृष्ट्वा
वक्षःस्थलादिव भयस्फुटितात् गलद्भिः ।
रक्तैर्विलिप्त इव पाटलितो बभूव
वृद्धो रविः करधृतद्रुमदीर्घशाखः ॥ ५६ ॥

जिस समय साम हो गई और सूरज छिपनेके करीब हुआ तो पेडोंकी चोटी पर सिर्फ उसकी किरणें दिखाई देने लगीं और वह लाल हो गया सो अपने नाशको समीप जान भयसे इसकी छाती फट गई है इसीलिये यह खूनसे तरबतर हो लाल होगया है और उसने करों [हाथों, किरणों] से पेडोंका आश्रय ले रक्खा है ऐसा जान पडने लगा ॥

अनपतिरथचक्रनेमिवाजिव्रजखुरघातसमुत्थितैः प्रक्षेपम् ।
ध्रुवमवहदरज्यत प्रतीची यदविरलैरपराद्रिधातुचूर्णैः ॥ ५७ ॥

सामके समय पश्चिम दिशामें जो लालिमा छा गई सो उससे ऐसा जान पडने लगा मानो चक्रवर्तीके रथको खीचने वाले घोडोंके खुरोंसे अस्ताचलकी उखाडी गई धूलिका इस दिशाने लेप ही किया है ॥ ५७ ॥

गिरिपृथुलकुचोपगूढभास्वद्विटवपुरुद्धविलासिनीव संध्या ।
कवलितपृथुवारुणीप्रभावादिव परिपाटलदर्शना बभूव ॥ ५८ ॥

पर्वतरूपी स्थूल कुचोंके आलिंगन करनेवाले सूरजरू-

पी विटसे संयुक्त संध्या उस समय मद पीनेवालेकी तरह लाल हो गई ॥ ५८ ॥

कृतसमयमसं प्रेयसीखर्वगोढुं तदनुगहृदयत्वादक्षमाश्चक्रवाकाः।
विविशुरिव विषादादुज्वलंत कृशानुं प्रसृतकपिलसंध्यारागसंपर्कपिंगाः

संध्याकालीन लालिमासे चक्रवाकोंके झुंड जो लाल हो गये सो उससे ऐसा जान पडने लगा मानो अपनी प्यारियोंके वियोगको न सह सकनेके कारण ये शोकके वशीभूत हो जलती हुई आगमें ही प्रवेश कर रहे हैं ॥ ५९ ॥

आरब्धहंसमधुरध्वनिजाप्यमंत्रस्तत्कालकुड्मलितपाटलपद्मपाणिः।
अंभःशुचिर्विषलताराचितोपवीतः संध्यामिव स्वयमवंदत पद्मखंडः॥

जिस प्रकार यज्ञोपवीतधारी द्विज लोग जलसे स्नान कर पवित्र हो हाथ जोड मंत्र बोल कर सांमके समय जाप जपते हैं उसी प्रकार कमल तन्तुरूपी यज्ञोपवीतका धारक और निर्मल जलसे सुशोभित तालाव, सूर्य अस्त हो जाने के कारण बंद हुये लोहित कमलरूपी हाथोंको जोड कर हंसोंकी मधुर ध्वनिसे जापपूर्वक संध्या वंदन करता सरीखा मालूम पडने लगा ॥ ६० ॥

उपर्युपरि वारिदैरपरपर्वतं भानुमत्—
सवेगरथकेतुयष्टिदृढकोटिदीर्णोदरैः।
विशुद्धजलबिंदुभिः सपदि मुच्यमानैरिव
व्यभाव्यत वियत्समावृतमुदीर्णतारागणैः॥ ६१ ॥

रात्रि हो जानेके कारण आकाशमें जो तारागण च-मक आये, वे अस्ताचल पर्वतके ऊपर उत्तरोत्तर जाते हुये सूरजके रथकी ध्वजाओंके अग्रभागसे विदारे गये मेघोंसे छोडी गई निर्मल जल विंदुएं सरीखे दीख पडने लगे ॥६१॥

अनुतटमरुणप्रभामणीनां वरसारितस्तु बभौ तदैव खेदात्।
सवितरि परलोकिनि स्वकांते जळमवगाहितुमागतेव संध्या ॥६२

उस नदीका तट लोहित मणियोंका बना हुआ था इस लिये सूर्यास्त हो जाने पर उन [मणियोंको] की चमकसे जब लाल हो गया तो अपने प्राण प्यारे पति सूर्यदेवका पर-लोक वास हो जानेके कारण स्नान करनेके लिये आई हुई संध्या ही है ऐसी शोभा होने लगी ॥ ६२ ॥

आयामावहततपंक्तयः प्रयांतो नीडाय स्फुटनिनदाः शुका विबभ्रुः
कालिंदीमिव गगनोद्गतां ध्वनंतीमुन्मुग्धारुणकमलां प्रशाणतुंडाः ॥

रात्रि हो जानेके कारण लाल चोंचोंके धारक नीलव-र्ण तोते अपने २ घोसलोंकी तरफ चिल्लाते हुये लंबी लंबी पंक्तियां बांध कर जाने लगे सो उनसे लाल कमलोंसे शो-भित शब्द करती हुई यमुना नदी ही आकाशमें बह रही है ऐसा मालूम होने लगा ॥ ६३ ॥

कलमकणिशां तुंडैरादाय सायमुपस्थिता—
स्सपदि जननीर्दृष्ट्वा हृष्टाः कुलाय निवासिताः।

उदपिपतिषन्मुक्तोन्मुग्धस्वनाश्शुकशावकाः
कतिपयगरुद्भर्थैरुत्क्षिप्य कोमलपक्षती: ॥ ६४ ॥

धान्योंकी बालको चोंचमें ले कर सांझके समय उप-स्थित हुई अपनी माताओंको देख कर उडनेकी इच्छा करने वाले तोतोंके बच्चे हर्षित हो मीठे २ शब्द करने लगे और अल्प उगे हुये अपने कोमल पंखोंको फड फडाने लगे ॥

अनेकतूर्यप्रभवं दिनात्यये जिनेंद्रगेहेषु निशम्य निस्वनम् ।
ननाम सम्राड् सहसा कृतांजलिस्स पुण्यवेलापिशुनं नरेश्वरैः॥६५

दिन पूर्ण हो जानेके कारण जिन मंदिरोंमें नाना प्र-कारके बाजे बजने लगे और उनसे संध्यावंदनकी लोगोंको सूचना होने लगी तो चक्रवर्तीने भी समस्त राजाओंके साथ साथ हाथ जोड नमस्कार किया ॥ ६५ ॥

व्यदधत घनने रमांसि विलासिनी-
शिरसिजरुचिविभ्रमाणि तनूभृताम् ।
अलिवलयभृदुन्मदेभकपोलक-
च्युतमदबहलच्छविप्रसरद्भ्रमम् ॥ ६६ ॥

विलासिनी स्त्रियोंके केशोंके समान कृष्णताके धारक अंधकारने जब आकाशको व्याप्त कर दिया तो भ्रमर पंक्तिसे वेष्टित मत्त हाथीके गंडस्थलसे चूते हुये मदका लोगोंको भ्रम होने लगा ॥ ६६ ॥

अभिमतकृतसंविदं प्रदेशं बहलतमोपिहितेऽपि राजमार्गे
मनसिजसचिवोपदेशदृष्ट्या स्वयमासनैरभिसारिकाः प्रजग्मुः॥६७॥

यद्यपि उस समय अंधकारसे रास्ता व्याप्त हो गया था तो भी अपनी २ प्रतिज्ञाके अनुसार पहिलेसे ही निश्चित किये गये स्थानों पर अभिसारिकायें (व्यभिचारिणी स्त्रियां) कामदेवरूपी मंत्रीके उपदेशके सहारे २ जाने लगीं ॥६७॥

कृतरुचिकुलटालीप्सया नीलवासा
निभृतपदमटन्नंधकारेऽपि जज्ञे ।
निशि विटनिवहो मल्लिकामालभारी
भ्रमरपटलनिध्वानकोलाहलेन ॥ ६८ ॥

कुलटा स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी इच्छासे काले कपड़ेको ओढ कर पैरोंकी आहटको छिपा विट लोग जाने लगे परंतु मल्लिका (चमेलीके फूलों) की माला जो उन्होंने पहिन रक्खी थी उसकी गंधसे आये हुये भ्रमरोंके शब्दोंसे वे अंधियारी रातमें भी पहिचान लिये जाते थे॥६८॥

विकचकुसुमदामोद्दामगंधानुबंधि—
भ्रमरकुटिलमाला केलिवासेषु राज्ञाम् ।
त्वरितमपसृतस्य स्फारदीपांकुरेभ्य—
स्तमस इव विभत्या वर्त्मरेखा विरेजे ॥६९॥

राजा लोगोंके केलिगृहोंमें प्रकाश करनेवाले दीपक

जल रहे थे और खिले हुये फूलोंकी बनी हुई मालाओंकी सुगंधिसे भौंरे पंक्ति बना २ कर इधर उधर गुंजार कर रहे थे इसलिये वे दीपकोंके प्रकाशसे डर कर भागते हुये अंधकार सरीखे सुशोभित होते थे ॥ ६९ ॥

शिलीमुखानां चलतामितस्ततः सुगंधिमाल्यग्रथितासु वीथिषु ।
निशि स्मरस्येव निशम्य हुंकृतिं मुहुर्मुमूर्छुर्दयिता वियोगिनः ॥७०॥

गलियोंमें सुगंधित मालाओंकी सुगंधि छूट रही थी इसलिये भ्रमर चारो तरफ कामदेवके हुंकारके समान गुंजार करते घूम रहे थे और उसको सुन २ कर पतिसे वियुक्त स्त्रियां वार २ मूर्छित हो रहीं थी ॥ ७० ॥

आक्रांते सति तमसा नभस्यपारे बभ्राजे मणिरुचिमंडलेन रात्रौ ।
आलीढोदरमथ चक्रिवेश्म यद्वत् कालोदस्तुरगवधूमुखानलार्चिः

रात्रिमें जब समस्त आकाश अंधकारसे व्याप्त हो गया तो मणियोंकी चमकसे चक्रवर्तीका भवन, वडवानलसे चमकने वाले कालोदधि समुद्रके समान चमकने लगा ॥ ७१ ॥

विमुख इति विवेकी नेति दुर्वारदर्पो-
वह इति वरहारीत्युद्धतश्चेति नित्यम् ॥
कमलमुखि ! तवाराद्वक्षसश्चेद्दूराकः
स कथय कुचयोस्ते किं न ते संति धर्माः ॥७२॥

उससमय सहेलियां अपनी २ स्वामिनियोंसे इस प्र-

कार कह कर समझाने लगीं कि–हे सखि ! तू जो अपने पतिसे नाराज है और उसे अपनेसे विमुख अविवेकी हिताहित विचार शून्य घमंडी, और उद्धत बतलाती है सो हे कमलमुखि ! क्या वे गुण तेरे स्तनोंमें नहीं हैं अर्थात् तेरे स्तन भी तो मुखवाले, परस्परसंयुक्त, कठिन, हारसेविशिष्ट और उन्नत हैं ॥ ७२ ॥

पीडासहं मधुरमव्यतिरिक्तराग–
मावद्धचुंबनरुचिं रतिनाट्यरंगम् ।
तं चेन्न वांच्छसि सुखान्वितवस्तु नाम
विस्तारमृच्छति गुणस्स तवाधरेऽपि ॥ ७३ ॥

पीडाको सहन करनेवाले, प्रिय, रागी, चुंबन करनेके इच्छुक और रति करनेवाले पतिको जो तू नहीं चाहती है सो पीडाको सहन करनेवाले, लाल, चुंबनके अभिलाषी, और मधुर तेरे अधरोष्टमें भी यही बातें अधिकतासे क्या नहीं है ? ॥ ७३ ॥

निर्मलश्रवणसंगमनंगं बृंहणच्छविमतुच्छविलासम् ।
कांतमाक्षिपसि यद्युरसन्नं किं न ते तरुणि ! ताहगपांगः ॥ ७४ ॥

हे तरुणि ! अत्यंत शोभायमान विलासी कामके तुल्य अपने पति पर जो आक्षेप करती है सो क्या ऐसा श्रवणके पास रहनेवाला विलासयुक्त शोभायमान तेरा अपांग [नेत्रकोण] नहीं है ? ॥ ७४ ॥

स्वभावमलिनास्थितौ शुचिरहेतुवक्राकृतौ
ऽज स्वरसगंधतूत्तमधुपे सतामाश्रयः।
निसृष्टरतिनिग्रहे स रतिनायकः स्निग्धया
घटेत यदुपेक्षते सुदति ! कशवेषे त्वया ॥७५॥

हे सुदति ! सज्जनोंके आश्रयभूत पवित्र अपने रतिनायककी जो तू उपेक्षा करती है और उसे स्वभावसे मलिन-निष्कारण वक्र (कोपकरनेवाला) और रतिका निग्रहक कहती है सो स्वभावसे मलिन (काला) निष्कारण ही वक्र (अपने आप टेढा) रतिका विघ्नकारक तेरा केशपाश भी तो ऐसा ही है ॥ ७५ ॥

किमिति तरुणि ! तस्मिन्नंजनन्यासमन्यं
रचयसि तव सिद्धयेदन्यथा कामसिद्धिः।
स हि तव मृगनेत्रे ! नेत्रगर्भस्थितः स-
न्नपि भवति निमित्तं त्वन्मुखश्यामतायाम् ॥ ७६ ॥

हे तरुणि ! अपनी आंखोंमें तू क्यों व्यर्थ ही अंजन लगाती है क्योंकि हरिणके से जो तेरे नेत्र हैं उनके बीचमें रहनेवाला वह (पति) तो वैसे ही तेरे मुखको काला कर रहा है ॥ ७६ ॥

शुचित्वमपि तस्य विद्धि वचनान्मम प्रत्युत
त्वमेव सुभगेऽशुचिः कुचभरावमर्शोचितम्।

यदुद्वहसि वक्षसा रुचिरहारमच्छस्फुरन्—

मयूखमुखचुंबिताधरमसौ कांतसंबाधिनी ॥ ७७ ॥

हे सुभगे ! तु उसे अशुचि कहती है सो मेरे कहनेसे उसे तो शुचि समझ और अपनेको अशुचि, क्योंकि तू कुच-भरके स्पर्शक, अपनी किरणोंसे अधरको चुंबन करनेवाले सुंदर हारको वक्षस्थलमें हर समय धारण करती है ॥७७॥

इति सखीकथयेव तमोमुचा युवतिरात्मवती दयितागमे ।
अकृत बुद्धिमचिन्त्यशरासने, निशि समीपगते कुसुमायुधे ॥ ७८ ॥

(कुलकं)

इसप्रकार सखियोंके वचन, चंद्रमाके उदय और रात्रिकी समीपता होनेके कारण कामदेवने अपना धनुष तान लिया तो युवतिगण भी अपने अपने पतियोंके आनेकी बाट जोहने लगीं ॥ ७८ ॥

शयिता सखीरपि विसृज्य वधूरतिकौतुकेन शयनेऽधिनिशम् ।
दयितस्य च द्रुतमनागमनादमिमीलदंगकुपितेव दृशौ ॥ ७९ ॥

क्षीणामिषंगमातिपात्य रतस्य कालं बाला प्रियस्य निशि काचिदुपस्थितस्य
क्रोधोदयादनुनयादवधीरयंती पादप्रहारमकरोदुरसि यावकांतं ८०

उस समय कोई कोई वधू सखियोंको विदाकर जब सोनेका उपक्रम करने लगीं और आधी रात तक भी पति न आया तो क्रोधाविष्ट हो आंखें मींच लेती हुई और किसी २

स्त्रीने तो रतिकालका उल्लंघन कर देरीसे आये हुये पतिपर बहुत ही क्रोध किया और अनुनय विनयका कुछ भी विचार न कर उसकी छातीमें पादप्रहार भी जमा दिया ॥७९-८०॥

आगता प्रतिनिवृत्य वेश्मनो वल्लभस्य निशि साभ्यसूयया ।
कांतयेति नवभोगलांछना संफलीवचनमभ्यदीयत ॥ ८१ ॥

सत्यं दूति ! यदावयोरविदषत्तत्रापि मत्प्रेयसा
तत्सर्वं प्रतिपन्नमद्य यदयं मद्देहदेश्यं व्यधात् ॥
प्रस्वेदार्द्रमुखं नखक्षतकुचं निर्दिष्टदंतच्छदं
तांबूलांकविलोचनं तव रतिव्यस्तवस्त्रं वपुः ॥८२॥

अपने प्यारेके घरसे नवीन भोगके चिन्हसे युक्त हो लोटी हुई किसी स्त्रीको तो उसकी सखीने ईर्ष्यायुक्त हो ये तानेके वचन सुनाये कि जब हम दोनोंका संबंध हुआ था तब जैसा मेरे पतिने मेरा प्रस्वेदयुक्त मुख नखक्षत विशिष्ट कुच, दष्ट अधरोष्ठ, और तांबूलसे चिन्हित लोचन वाला अस्त व्यस्त वस्त्रका धारक शरीर कर दिया था वैसा ही तेरा भी दीखता है ॥ ८१-८२ ॥

घनतमासि निवासे सन्निधाने सखीनां
युवतिरधरबिंबे चुंब्यमाना प्रियेण ।
उपनतरतिलोभं दीपमुद्दीपयंतं
परिजनमुदितेर्ष्यारूक्षमीक्षांबभूव ॥ ८३

निबिड अंधकारसे व्यापृत घरमें अपने पति द्वारा अध-

रोष्ठमें चुंबित हुई कोई स्त्री समीपवर्ती दीपकको जलानेवाली दासीकी तरफ ईर्ष्याभरे नेत्रोंसे देखने लगी ॥ ८३ ॥

वनिता श्लथनीविखंडवासा शिशिरांभःस्नपिता भियेव शीताद्।
वृणु मां दृणु मामिति ब्रुवंती शयनस्थं परिषस्वजे स्वमीशम् ॥८४॥
योजयन् जघनमंडले दृशौ वल्लभः प्रमदया विवस्त्रया।
संभ्रमत्कुचभरावरुद्धतवक्षःस्थला युवतिरपीडयताधरे ॥ ८५ ॥

शीतल जलसे स्नपित कोई युवति ठंडीके डरसे ही मानो 'मुझे ढको, मुझे ढको' कह कर अपने पतिका आलिंगन करने लगी और पति भी विवस्त्र अपनी पत्नीके जघन मंडलकी तरफ दृष्टि लगा उसका चुंबन करने लगा ॥

अनुनयकृतिवल्लभे कृतागस्युचितमिवावयती जगाम लज्जाम्।
अनुनिशमभिमानबंधभंगादिव युवतेः शिथिलीबभूव नीवी ॥ ८६ ॥

उस समय कोई २ स्त्री अपने अपराधी पतिके अनुनय विनय करने पर उचित अनुचित समझ लज्जित हो गई और अभिमान नष्ट हो जानेसे उसकी नीवी शिथिल हो गई ॥ ८६ ॥

रागी वियोगमसहन्निव रात्रिमिंदुर्भुक्तां मुहूर्तमवनीप्रभितमदोषम्।
तस्याः प्रसादनमिवेणकमुद्वहन्ताऽन्वेष्टुकाम इव गोमरमध्यरोहत् ॥

जिसप्रकार कोई रागी पुरुष अपनी छूटी हुई स्त्री को उसके वियोगको न सह सकनेके कारण ऊंची जगह पर चढ़कर खोजता फिरता है वैसी प्रकार राग (लालिमा)

शुक्ल चंद्रमा अपनी वियोगिनी रात्रिरूपी स्त्रीको ढूंढने के लिये ही मानो उदयाचल पर आरूढ़ होगया ॥ ८७ ॥

हिमांशुरुद्यत्फणचक्रवालं शेषोरगस्यारुणरत्नदीप्तिः ।
भुवो भृतोऽयं स्वयमन्वियाय प्रभामिवोद्वीक्षितुमुत्थितस्य ॥ ८८

लाल रत्नके समान दीप्त चंद्रमा उस समय अपनी उठी हुई प्रभाको देखनेके लिये ऊपर आये हुये लाल मणिसे सुशोभित शेषनागके फण सरीखा मालूम पडने लगा ॥ ८८ ॥

पिशंगमंगैः शुशुभे हिमांशोर्बिंबं गिरेः शृंगविलंबि रात्रौ ।
तत्कालसाम्राज्यकृतं स्मरस्य प्रासादयस्येव सुवर्णपीठम् ॥ ८९ ॥

उदयाचलकी शिखर पर आरूढ पीत वर्णका धारक चंद्रमा का बिंब उस समय साम्राज्य पदवी को प्राप्त कामदेवका सुवर्ण पीठ सरीखा मालूम पड़ने लगा ॥ ८९ ॥

मदावहारक्तचकोरनेत्रामुद्भामयन् ध्वांतविसारिवासः ।
निशामिवालिंगितुमंगरागी प्रसारयामास करान्मृगांकः ॥ ९० ॥

जिसप्रकार मदसे मत्त चकोरके से नेत्रवाली स्त्री का आलिंगन करनेके लिये रागी पुरुष अपने हाथ बढाता है उसी प्रकार मदोन्मत्त चकोररूपी नेत्रकी धारण करनेवाली रात्रिको आलिंगन करनेकेलिये चंद्रमाने भी अपने किरण रूपी हाथ बढा दिये । भावार्थ—चंद्रमाकी चांदनी सब जगह फैल गई ॥ ९० ॥

मुदं शृदिम्ना जनयन्जनानां करैश्चिरं मंडलरागरूढः।
राजा मघोनोऽपि विलिंघ्य काष्ठामभ्यास सौधोदयमाद्रितिघन् ९१

अपनी किरणोंसे संसारके समस्त प्राणियोंको प्रसन्नता पैदा करता हुआ चंद्रमा प्राची दिशाका उल्लंघन कर आकाशमें ऊंचा चढने लगा ॥ ९१ ॥

दृढतिमिरसमग्रव्योमगर्भाविकीर्णा
विरलविधिकर्मिदोररश्मयः कुंदशुभ्राः।
सरसि रसवियोगात्पंकमात्रावशेषे
विततमृदुमृणालीविभ्रमं बिभ्रते स्म ॥ ९२ ॥

कुंद पुष्पके समान श्वेत चंद्रमाकी किरणें गाढ अंधकारसे व्याप्त आकाशमें फैल गई और जलके सूख जानेसे कीचडके भरे तालावमें पडने लगीं तो वे लंवायमान कोमल मृणाल तंतु सरीखी सुशोभित होने लगीं ॥ ९२ ॥

आपीप्यदमृतद्युतिर्विदलिताननामुच्छ्वस—
त्तरंगशयनां शनैः कुमुदिनीं विमक्तांबरः।
करग्रहसमर्पितं नवसुधारसं सुंदरी—
र्युवापि मधु मानवो रुचिरहंसतूलाश्रयः ॥ ९३ ॥

उस समय चंचल तरंगोंसे वेष्टित प्रफुल्लित कुमुदिनीका रस तो अपनी किरणोंसे चंद्रमा पीने लगा और प्रफुल्लित कमलवाली सुंदरियोंका रसास्वाद युवा लोग लेने लगे ९३

अभिनवरुचिमात्मनि प्रसक्तां स्मरकृतमिंद्रदिशः स्वयं वयस्याः।
वरचषक इवोत्पलीविशुद्धैर्हिमरुचिरंकभृदावभावदभ्रः॥ ९४॥

उस समय निर्मल आकाशमें विराजमान चंद्रमा कामदेव द्वाराकी गई अत्यंत शोभाको अपनेमें धारण करने वाली पूर्व दिशाका सुंदर मद्यपात्रके समान सुशोभित होने लगा॥

शुक्लान्वयादुज्झितरागबंधोज्योतिर्विमानेन जगद्विभंजन्।
अनेकधा लक्ष्मविवादभूमिर्जगाम निर्मुक्त इवेंदुरूर्ध्वम्॥ ९५॥

वियोगियोंके रागको बढानेवाले शुक्ल पक्ष द्वारा छोडे गयेके समान अपने ज्योतीले विमानसे संसारको चकमकाता हुआ अनेक प्रकारके विवादोंसे ग्रस्त चिन्हका धारक चंद्रमा ऊपर आकाशमें चढने लगा॥ ९५॥

कांतस्य शांततमसो हरिणांकमूर्तेः प्रत्यागमे सति मुदेव कुमुद्वतीनाम्
हासश्रियेव रुचिपल्लवितोल्लसंत्या सांद्रक्रमं नभसि चांद्रिकया प्रतस्थे॥

आकाशमें जो चंद्रमाका उदय हुआ और उसकी जो चांदनी फैल गई वह अपने प्यारे शोकके नाशक चंद्रमाका उदय देख प्रफुल्लित हुई कुमुदिनीकी हास्यलक्ष्मी सरीखी ज्ञात होने लगी॥ ९६॥

हिमद्युतेर्न्नीलतमा मयूखाः कोलाहलं हंसरवैर्दधानाः।
संक्रीडनायेव समं निपेतू रक्तासरित्संगतसैकतेषु॥ ९७॥

जिसप्रकार हंस कोलाहलपूर्वक अपने २ घोसलों की

तरफ वेगसे उडते हैं उसी प्रकार रक्ता नदीके समीपवर्ती सैकतमें चंद्रमाकी बाल किरणें पडने लगीं ॥ ९७ ॥

राजासि चन्द्र ! विवशास्मि रवेर्वियोगा—
त्तन्मां कुतः स्पृशसि निश्रियमंग ! रात्रौ ।
इत्याबभाण बिसिनी ध्रुवमात्तशोका
कोकस्वरैर्मुकुलितारुणपद्मपाणिः ॥

चंद्रमाके उदय होनेसे मृणालिनी मुकुलित हो गई और चकोर पक्षी बोलने लगे तो उससे ऐसा मालूम होने लगा मानो 'हे चंद्र ! तुम राजा हो, मैं सूर्यके वियोगसे खिन्न अबला हूं, उसका क्यों रात्रिमें आलिंगन करते हो?' ऐसा अपने लाल मुकुलित पद्मरूपी हाथोंको जोडकर वह विनति ही कर रही हो ॥ ९८ ॥

ज्योतिर्द्रुमाश्चंद्रमसः प्रभायां न हि व्यशिष्यंत वनद्रुमेभ्यः ।
राजप्रभावो ननु तादृगेव तत्संनिधौ यत्समता परेषाम् ॥ ९९ ॥

चंद्रमाकी चांदनीसे वनके साधारण वृक्ष और चमकने वाले वृक्ष (जोतिलता) एकसे मालूम पडने लगे सो ठीक ही है जिसकी समीपतामें सब समान दीखने लगें वास्तवमें राजप्रभाव उसीका नाम है ॥ ९९ ॥

विवृतवदनमुद्रा नीलनीरेजराजिस्तरलमतरदंतैर्निस्वनंती द्विरेफैः ।
तिमिरविततिरुच्चैरिंदुना रश्मिबद्धा सरिति सुभृतवारि व्योमतः पातितेव

चंद्रमाके उदय होनेसे नील कमल खिल गये और उन पर पंक्ति बांध बांध कर गुंजारते हुये भ्रमर पडने लगे सो चंद्रमाने अपनी किरणरूपी रस्सीसे बांधकर आकाशसे मुह-फाडकर चिल्लाते हुये समस्त अंधकार समूहको गहरे जल-भरे तालावमें पटक ही दिया है मानो ऐसा मालूम पडने लगा॥ १०० ॥

सौधावलौ दूरपथप्रयाणादिव श्रमार्ता निशि चंद्रपादाः।
संभूय मंदागतमारुतायां विशश्रमुः स्पृष्टवधूनितंबाः॥ १०१॥

जिस प्रकार बहुत दूरसे चला आया मनुष्य थक जानेके कारण अपनी पत्नीके साथ महलमें आराम करता है और मंद २ बहती हुई हवाका आस्वादन कर सुखी होता है उसी प्रकार आकाशमें बहुत देरतक चलने के कारण थके हुयेके समान चन्द्रमा महलोंपर अपनी किरणोंसे नगर-की स्त्रियोंका स्पर्श करता हुआ अधिक समय तक ठहरा॥

सरस्तरंगामलतल्परूढाश्चंद्रातपे चुंबति पंकजिन्यः।
आनंदयोगादिव सानुरागा न्यमीलयन्नंबुजलोचनानि॥ १०२॥

तालाबकी तरंगरूपी निर्मल शय्या पर आरूढ कमलि-नीका जब चंद्र किरणोंने स्पर्श किया तो अनुरागसे आनं-दित हुईके समान उसने अपने कमलरूपी नेत्र बंदकर लिये।

शुचिस्मितैर्वानविलोचनानां प्रहासगोष्ठ्यामभिनंदमानः।

बभूव रागादिव पीवरात्मा मृगांकरश्मिप्रसरो निवेशे ॥ १०३ ॥

चक्रवर्तीके पडावमें उससमय प्रहास गोष्ठीमें वामलोचनाओंकी मुस्कराहट देखनेसे रागी हो फूलगयेके समान चंद्र किरण दीख पडने लगे। भावार्थ– चारों तरफ चांदनी फैल गई ॥ १०३ ॥

लीलाविलोलनयनोत्पलभृंति सौध-
श्रृंगे शशांकरुचिमंति मदोपकृंति ।
कामातुरा युवतयः स्वधयन्मधूनि
तासां मुखानि समखानि पुनर्युवानः ॥ १०४ ।

कामसे पीडित युवतियां नेत्र कमलोंको चंचल कर देने वाले, चंद्र किरणोंसे सुशोभित मत्तताको बढानेवाले मदिरा का पान करने लगीं और रागी युवागण उनके मधुविशिष्ट मुखका स्वाद लेने लगे ॥ १०४ ॥

अवेक्ष्य मूर्ति मधुनि स्वकामिति व्यतर्कयत्काचन कर्कशस्तनी ।
अहं निपीतास्मि किमंग हालया मयैव रागात्प्रतिपासितव्यया १०५

कोई कोई युवति तो उस समय शराबके भरे प्यालेमें अपनी परछाहीं देखकर यों सोचने लगी कि मैंने शराब पी है या मुझे ही शराबने पीलिया है ॥ १०५ ॥

अतिपानविधेरगृघ्नुभेका प्रियसद्दामसुगंधिकापि शेये ।
अधरप्रतिबिंबदर्शनेन स्पृहयालुं विदधे पुनर्विदग्धा ॥ १०६ ॥

किसी चतुर स्त्रीने उत्कट सुगंधिसे युक्त माधवी लतासे उत्पन्न मदिराका पीनेकी न इच्छा करने वाले अपने पतिको उसमें अपना अधर बिंब दिखलाकर पीनेकी इच्छा वाला कर दिया ॥ १०६ ॥

हरिणदृशां मुखैः सह निशोदितशीतरुचिर—
फलदं फल्गुबांधवममीभिरमा (?) ।
यदयं मणिमयभाजनस्थमदिराभृतवारि
मिलन्नलुठदनल्परागसुहृदि प्रतिबिंबगतः ॥ १०७ ॥

रात्रिके समय उदित हुआ चंद्रमा मृगनयनियोंके मुखके साथ मणिमय पात्रमें भरे हुये लोहित मदजलमें परछाहीं द्वारा बहुत देरतक रहा था इसीलिये मानो उसने कामदेवको उत्पन्न किया ॥ १०७ ॥

ध्रुवं वधूवल्लभकंठगह्वराद् गृहीतहालामदशक्तिरुद्गता ।
विमोहनं देहभृतां व्यधत्त तत्सरस्वती गीतमयी श्रुतिं गता ॥१०८॥

उससमय स्त्री पुरुषोंके कंठरूपी गुफाओंसे मद शक्तिको ग्रहणकर उत्पन्न हुई जो गीतरूपी सरस्वती थी उसने लोगोंको मोहित कर दिया । भावार्थ—शराबको पीकर स्त्री पुरुष गाने लगे और उस गानेको सुनकर लोग मुग्ध होने लगे ॥

दृढतरपरिरंभणच्छलेन यूनां कुचभरमुद्वहतामिव प्रसन्नाः ।
अधरमधु नवभ्रुवो वितेनुस्तनुतनवरतनुमध्यखेदहेतुम् ॥ १०९

अति गाढ आलिंगन करनेके बहाने पतले कटि भाग-

को खिन्न करनेवाले कुचभारको धारण करने से पुरुषोंपर प्रसन्न हुई के समान हलके शरीरकी धारिकायें युवतियां अधर मधुका पान कराने लगीं ॥ १०९ ॥

वधूवरान्मधुमदनि (?) लप्रियः स्मरो मुदा भरतरसाक्रियागुरुः ।
अथोजयन्निधुवननृत्यकर्मणा समुल्लसद्गुरलतालयोजनः ॥११०॥

शृंगार रसकी क्रिया करानेमें गुरु, मदरसके मित्र कामदेवने उस समय वधू और वरोंको रतिकर्ममें लगा दिया ॥ ११० ॥

अचिक्लिदन्वामदृशः प्रयस्ताः प्रस्वेदतोयैः पुरुषायितेषु ।
वक्षांसि वल्गत्कुचकुंभमुक्तैर्मूर्तैरिव प्रेमरसैः प्रियाणाम् ॥१११॥

पुरुषायित क्रिया करनेके कारण हिलते हुये कुचरूपी कुम्भोंसे मुक्त प्रियतमोंके शरीरधारी प्रेमरसके समान दीख पडनेवाले प्रस्वेद बिंदुओंसे तलवतल वामलोचनाओंने अपने वक्षस्थलोंको क्लिन्न कर दिया ॥ १११ ॥

रतिक्रियारंभासिकमत्रस्त्रीपुंसलीलालयकंठशब्दाः ।
अन्वाक्रियंतेव समं रुवद्भीरक्तासरिद्वारिणि चक्रवाकैः ॥ ११२ ॥

रति क्रिया करनेमें अकस्मात् स्त्री पुरुषोंके जो लीलायुक्त कंठोंसे शब्द निकलने लगे वे रक्तानदीके जलमें रोते हुये चक्रवाकोंका अनुकरण करते सरीखे जान पडने लगे ॥ ११२ ॥

जलमथशिरसि स्थितो मृगांको मदनकरो हृतरूप्यकुंभतुल्यः।
रतिरसभरभिन्नमानवानामुपरि सुधामिव चंद्रिकां मुमोच ॥११३॥

कामका उत्पादक, फूटे चांदीके घट सरीखा म लूम पडनेवाला चंद्रमा, उस समय रति करनेसे खिन्न मनुष्योंके ऊपर अमृतवृष्टिके समान शीतल अपनी चांदनी छिटकाने लगा॥

दीर्घप्रसारितकरेण गुहागृहेषु संक्रीडनार्थमिव चंद्रमसा विकृष्टा।
जारेण रात्रिरपराद्रिमियाय गुप्तं सुप्ते जने युगृहपश्चिमदेशभक्त्या ॥

जिसप्रकार कोई स्त्री जार द्वारा एकांतमें क्रीडाकरनेके लिये समस्तजनोंके सो जानेपर घरके पिछवाडेसे अपने हाथों द्वारा दूर खींच कर ले जाई जाती है उसीप्रकार अपने लंबायमान करों (किरणों)से रात्रिरूपी स्त्री चंद्रमारूपी जार द्वारा गुफाओंमें क्रीडा करनेके लिये गुप्त रीतिसे खींचली गई और आकाशरूपी घरके पश्चिम भागसे अस्ताचल पर जा पहुंची॥

उन्मुच्य सन्मार्गमुदग्रमुच्चैराजानमाराधितवारुणीकम्।
अत्यक्तवर्त्मा श्रवणानुवर्तीनक्षत्रलोकस्तमनु प्रतस्थे ॥ ११५ ॥

जिसप्रकार मद्यपायी सन्मार्गको छोडकर कुमार्ग पर चलनेवाले भी राजाका साथ उसके श्रेष्ठ सर्वदा समीप रहनेवाले क्षत्रियगण नहीं छोडते हैं उसी प्रकार अपने मार्गको छोडकर उत्तर दिशाका आश्रय करनेवाले चंद्रमाका साथ भी श्रवण प्रभृति नक्षत्रोंने न छोडा अर्थात् चंद्रमाके अस्त होनेपर वे भी अस्त हो गये ॥ ११५ ॥

सदृशं हि मृशोल्लसन्मनोभूरभिगच्छन्नपरां तुषारधामा ।
वहते स्म सुधागृहाग्रसुप्तप्रमदानां जघनानि यत्करोधैः ॥११६॥

हथेलियोंकी छत पर सोनेवाली प्रमदाओंके जघनोंका पश्चिम दिशाको जाते हुये कामके उल्लासक चंद्रमाने जो अपने करोंसे स्पर्श किया सो ठीक ही किया ॥ ११६ ॥

गाढरतियंत्रतया (?) सुरतिक्रमेण कृतिभिर्वनिताः ।
परिरभ्य दष्टमधुरोष्ठमणीर्निभृतं निशापरिणतौ दुधुवे ॥११७॥

अतिक्रम होजानेके कारण रात्रि ही जब पूर्ण हो गई तो स्त्रियोंका आलिंगन कर अधरोष्ठोंको पीते हुये चतुर लोग खूब ही संतप्त होने लगे ॥ ११७ ॥

गृहेषु राज्ञामवरक्षणार्थं निद्रानुरोधेऽपि चिराभियोगात् ।
पुरस्सरैकध्वनिजस्वराणां समुद्ययुर्युगपत्प्रघोषाः ॥ ११८ ॥

राजाओंके महलोंमें उस समय यद्यपि निद्राका प्राबल्य था तो भी अधिक देर तक न सोने देनेके लिये एक साथ वीणा आदिके शब्द होने लगे ॥ ११८ ॥

अश्रांतवांतमदसौरभलोभसंगिभृंगस्वनैरिव सुखप्रतिबोधभाजः ।
आलानधामदृढशृंखलबद्धपादाः शय्यां विमुच्य शनकैरगमन्गजेंद्राः

आलान स्थानोंकी दृढ सांकलोंसे बंधे हुये हाथी सतत चूते हुये मद जलकी गंधके लोभसे आये हुये भ्रमरोंके शब्दोंसेही मानो सुखपूर्वक जाग कर खडे होगये ॥ ११९ ॥

शिथिलय कलकंठि ! कंठदेशात् भुजवलयं ललिते ! मम क वस्त्रं ।
परिणतिमगमन्निशा यदेताः शकटरवैः श्रवसी तुदंति रथ्याः १२०

संभूय संभृतलयाः प्रवदंति ताम्रचूडाः सनीडरतयस्तदहं व्रजामि ।
तन्वंगि यन्मयि समाश्रितभृत्यभूये भूयः प्रसादविधिरेष विधायिषीष्ट

रात्रि बीत जानेके कारण लोग अपनी अपनी प्यारियों से यों कहकर विदा लेने लगे कि–हे कलकंठी ! गलेमेंसे बाहें निकाल, मेरा वस्त्र कहां है ? देख सवेरा होगया, गाडियोंकी खडखडाहट गलियोंमें सुनाई पड रही है, मुर्गोंने बांग देना प्रारंभ कर दिया है अब मैं जाता हूं । हे तन्वंगी ! मैंने जब तेरा भृत्य होना स्वीकार किया है तब फिर भी ऐसीही कृपा करना ॥ १२०–१२१ ॥

विश्रंभात् प्रिय ! नवसंगमेऽपि चेतःसर्वस्वं त्वयि रसतो मया न्यधायि
आनेयं मम पुनरप्यदो निशीथे तत्स्वेच्छागृहमिदमभ्युपेहि मा वा

उस समय कुलटाओंने भी यह कहा कि प्यारे ! विश्वाससे प्रथम संगम होने पर भी हमने अपना मन रूपीधन तुम्हारे पास धरोहरके बतौर रख दिया है सो उसे यहां रात्रिको ले आना ॥

चेतोवृत्तिर्विपुलविलसद्रागरत्नावतंसा
सा ते योगान्नियतजडिमन् ! न प्रपीडां तनोति ।
भोगिक्रीडाकुशल ! भवता यद्युपेक्ष्येत काले
व्यालच्छाया विरचयति मे दुःखदोषं प्रदोषम् ॥१२३॥

जिसप्रकार मणिरत्नसे भूषित सर्पिणी नियतजडिमा-(औषधवाले) और भोगी-सर्पोंके साथ क्रीडा करनेमें कुशल पुरुषके पासमें रहनेसे कुछ अनिष्ट नहीं करती है उसीप्रकार हे भोगियोंकी क्रीडा करनेमें कुशल जडिमा पैदा करनेवाले! तुम्हारे पासमें रहनेसे विपुल रागरूपी रत्नसे युक्त चित्तवृत्ति कुछ दुःख नहीं देती है परंतु यदि कहीं समय पर आपने इसकी उपेक्षा करदी तो सापको ही मुझे दुख देगी॥

इति विटकुलटाजनस्य जैत्रस्मरशरभीतिकरे वियोगभारे।
उपनतवति रात्रिपश्चिमांते प्रणयगुरुर्वचनक्रमो बभूव ॥ १२४ ॥

इस प्रकार जयशाली कामदेवके बाणोंका भय पैदा करनेवाले वियोगका समय प्रातःकाल जब उपस्थित हुआ तो परस्पर प्रेम भरे वचन कुलटा और विट जन कहने लगे॥

आलिंगनोद्वहनमंडलितेषु कांतैः कांताकुचेष्वनवकाशतयेव रात्रौ।
सौख्यं प्रपद्य कमलेषु निशावसाये तत्रोन्मुखी पुनरभूनवकुड्मलश्री॥

पतियों द्वारा आलिंगन और उद्वहन होने से मंडलित हुये कांताओंके कुचोंमें अवकाश न पाकर ही मानो जो नवीन कुड्मलश्री कमलोंमें जा रातिको सुखसे रही थी वही रात्रिके अंत होनेपर फिर वहीं आनेके उन्मुख होगई॥ १२५॥

किंचिन्निमीलदसितोत्पलनेत्रकोटिनिर्यत्तुषारकणिकासु कुमुद्वतीषु।
कांते विधौ विधिवशाऽस्तसमीपयाते शोकप्रलाप इव भृंगरवो बभूव॥

चंद्रमारूपी पति जब विधिवश अस्त होनेके सन्मुख हो गया तो कुमुदिनीरूपी नायिका प्रफुलित नील कमलरूपी

नेत्रोंसे तुषारकणिकारूपी आसुओंको छोडने लगी और उस पर गुंजारते हुये भ्रमरोंका शब्द शोक-प्रलाप सरीखा जान पडने लगा ॥

हिमरुचिसमये प्रसंगदैर्घ्यादुपरि विहारिणि दूरतः प्रयाते ।
मुकुलितकुमुदेक्षणा कुमुद्वत्यधिवसति स्म सरस्तरंगशय्याम् १२७

जिस समय ऊपर विहार करनेवाला चंद्रमा दूर चला गया तो कुमुदरूपी नेत्रोंको बन्द कर कुमुद्वती तालावकी तरंगरूपी खाट पर सो गई ॥ १२७ ॥

प्रियविरहमहेलाशोकनिश्वासदावप्रसरभरितमुज्झन्व्योम चंद्रस्तपस्वी
तरुणहरिणवाही दाहभीतेरधावत्त्वरितमिव समीपं पश्चिमस्यार्णवस्य

चंद्रमा जो उस समय अस्त हो गया सो वह ऐसा जान पडने लगा मानो विरहिणी महिलाओंके शोक निश्वासरूपी दावानलसे जलते हुये आकाशको देखकर जल जाने के भयसे गोदमें हरिणको छिपा पश्चिम समुद्रकी तरफ दौडा जा रहा है ॥ १२८ ॥

आलिंग्य वल्लभतनू रविचक्रसंधिनिद्रायिता विकचवारिजगंधवंधौ ।
वस्त्रेषु बुद्धिमदधुर्जघनच्युतेषु प्राभातिके मरुति वाति विलासवत्यः

फूले हुये कमलोंकी सुगंधिका वाहक प्रातःकालका ठंडा पवन जब बहने लगा तो अपने प्रियतमोंका आलिंगन कर सोनेवाली स्त्रियां जाग गईं और अपने जघनच्युत वस्त्रोंको खोजने लगीं ॥ १२९ ॥

समवसत परस्परेण दूरप्रसृततया निशि लब्धभोगपीडाः।
वरयुवतिकुचा विभातकाले समदमुखोन्नतयश्च चक्रवाकाः॥१३०॥

रात्रिके समय जो चक्रवाक और युवतियोंके कुच परस्पर वियुक्त हो भोगजन्य पीडाको प्राप्त हुए थे वे दोनोंही प्रातःकाल हो जाने पर मत्त और उन्नतमुखवाले हो गये॥१३०॥

रात्रौ शीतमयूखशेषभुजगादर्चिर्विषोद्गारिणो
भीतेवार्कवियोगिनी कमलिनी निद्राच्छलान्मूर्च्छिता।
तस्मिन् कंधरकाललक्ष्मणि गते शोणाब्जशुंभन्मुखै—
रुज्झतश्वासनवप्रभातमरुता लब्धेव संचेतनम्॥ १३१॥

रात्रिके समय किरणोंसे विषको छोडनेवाले चंद्रमारूपी शेषनागके भयसे डरी हुईके समान सूर्यकी वियोगिनी कमलिनी जो निद्राके छलसे मूर्छित हो गई थी वह चंद्रमाके अस्त होने पर लोहित कमलरूपी मुखोंसे छोडी गई श्वासके समान नवीन प्रातःकालकी वायुसे सचेत सरीखी होगई॥ १३१॥

श्रीर्बंधकी निशि सरोरुहगेहगर्भ दोषाकरेण कुमुदाकरवेश्म नीता।
शास्त्वत्प्रियस्य पुनरागमनाद्भियेव प्रत्याविवेश पुनरंबुरुहं प्रभाते॥

रात्रि के समय चंद्रमाने जिस लक्ष्मीको कमलगृहसे हटा कुमुदगृहमें रख दिया था वह पुंश्चली लक्ष्मी प्रातःकाल होने पर अपने प्यारे सूर्य देवके आगमनसे डरकर ही मानो फिर जहां की तहां आगई॥ १३२॥

अनुविधिमधिकप्रभाविनस्ते चकित इवैष करादहो विधातुम् ।
अवसरमवनीश्वर ! प्रतीच्छन् गिरिशिखरांतरितः खरांशुरास्ते ॥

हे पृथ्वीश्वर ! अधिक प्रभाववाले आपसे चकित हुये के समान दिन करनेकेलिये अवकाश चाहता हुआ सूरज इस समय उदयाचलकी ओटमें है॥ १३३ ॥

भूयस्सूत्सुखमिलितोरुहारयष्टिं निर्भंजन् बिसलतिकामिव प्रदग्धाम् ।
वामोरूघनकुचभारचक्रवाकौ व्युष्टायां निशि नृपचंद्र ! मा पिपीड़ः

दग्ध मृणाल लताके समान हारयष्टिका बार २ मर्दन करवाले हे नृपचंद्र ! रात्रि समाप्त हो चुकी है अब और अधिक कांताओंके निविड स्तनरूपी चक्रवाकोंका पीडन मत करो ॥

निधुवननिधिमुख्यं मौखमग्रे सखीनां
स्वमनुवदति शब्दं खंडशस्ताम्रतुंडे ।
अवनतवदनाब्जां लज्जया देव ! देवीं
दरहसितमनोज्ञां पश्य पर्यंतदृष्ट्या ॥ १३५ ॥

रतिके समय होनेवाली अपनी मुख्य २ बातोंको सखियोंके समक्ष खंडशः तोता द्वारा कही गई सुनकर लज्जासे कुछ मुस्कराती हुई देवीने अपना मुख नीचा कर लिया है सो हे देव ! आप देखिये ॥ १३५ ॥

अन्वेष्टुं निजनियमं तमोऽपहारे ये रात्रेरखिलकलासुजागरीताः ।
प्रत्यंक्षोन्निमिषदृशा त्वया त एते दृश्यंतां नृप ! कुलरत्नदीपाः (?) ॥

अंधकारको नष्ट करनेके अपने नियोगको पालनकरने के लिये समस्त रात्रि जो जागते रहे हैं उन अपने रत्न दीपकों को जरा निहारिये ॥ १३६ ॥

अखिलदिक्पतिभिः प्रतिव.हिता नयनपङ्कविकाशमियं तव ।
अभिनिवेष्टुमिवांगणतोरणस्थितवती कमला प्रतिवीक्षते ॥ १३७॥

समस्त दिक्पतियों द्वारा धारणकर लाई गई लक्ष्मी, आपके विकसित नेत्र कमलोंमें वास करनेकी इच्छासे आंगनमें खडी खडी बांट जो रही है ॥ १३७ ॥

तेजस्विनः स्वप्नदशामृतस्ते ये प्रत्यया दृष्टिपथमयाताः ।
भयादिव भ्रांतिमथो यथोक्तां कुर्वंतु ते सर्वजनीनसिद्धिम् ॥१३८॥

तेजस्वी आपने स्वप्नावस्थामें जो जो बातें आखोंके सामने देखी हैं वे आपसे डरकर ही मानो भ्रांतिको मथन करती हुई समस्त संसारके कल्याणको पैदा करें ॥ १३८ ॥

प्रस्वेदांबुकणान् मुखादपनुदन्नामीलयन् लोचने
सोल्लासमलकावलीं विलुठयन् भंजन् नितंबस्खलम् ।
नारीणां सुरतावसानसमये कामीव कुर्वन्नियं
प्रत्यै देव ! तवांतिके प्रसरति प्राभातिको मारुतः ॥१३९॥

हे देव ! जिस प्रकार कामी पुरुष रतिके अंतमें मुंहके पसीनाकी बून्दोको पोंछता है और उल्लास पूर्वक केश पाशका स्पर्श कर कामिनीको खुश करता है- उसीप्रकार यह प्रातः-

कालका पवन आपके पसीनेको सुखाकर केशोंका स्पर्श कर रहा है और नेत्रका आमीलन कर खुशामद कर रहा है ॥

ननु जिनपतिपादद्वंद्वताम्रारविंदाविकसदनवसाने मानसे तत्र भूयः ।
सरलसरसचेताः श्वेतलक्ष्मीविलासे त्वमवनिपतिहंसो हंसलीलां भजेथाः

जिनेंद्र भगवानके चरण कमलोंसे विभूषित निर्मल लक्ष्मीके निवासस्थान मनरूपी मानस सरोवरमें, हे राजश्रेष्ठ ! तुम हंसकी उपमा धारण करो। भावार्थ–जिस प्रकार हंस कमलोंसे विभूषित तालावमें रहते हैं उसी प्रकार तुम भी जिनेंद्र भगवानके चरण कमलोंसे विभूषित भावोंमें ही मग्न रहो ॥

इत्याविष्कृतपंचमध्वानिवचः श्रोत्रामृतं श्रीपतिः
पीत्वेव प्रतिपन्नबोधविभवो मंदागतं बंदिनाम् ।
उत्तस्थौ शयनाद्विकीर्णकुसुमभ्रांतालिकांतारवैः
चक्री विक्रमसोदरः स्वविरहाद्वीत्येव फूत्कारिणः ॥१४१॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते–
महाकाव्ये वज्रनाभचक्रवर्तिप्रबोधो नाम
षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार बंदिगणों द्वारा पंचम स्वरमें गाये गये कानोंको प्रिय लगनेवाले वचनोंको सुनकर महाराजकी निद्रा

टूट गईं और वे विछे हुये फूलोंपर गुंजारती हुई भ्रमरियोंके शब्दोंसे अपने वियोगको न सह सकने के कारण फूत्कार करते सरीखे विछोनेपरसे उठ वैठे॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमदाचार्यवादिराजकृत संस्कृत श्रीपार्श्वनाथ चारित्रके हिंदी भाषानुवादमें बज्रनाभ चक्रवर्तीके जागरणको कहनेवाला छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः।

हिषमाहत्य बलिहारं दिशामिव।
तस्यासृग्भिरन्धकारार्कः प्रसरल्लोहितच्छविः ॥ ८ ॥

फैलती हुई लाल छविका धारक सूरज उस समय अंधकार रूपी भैंसेको मारकर खूनसे दिशाओंको बलि देता हुआ सरीखा मालूम पडने लगा॥ ८ ॥

भानुमत्करसंवाहादुत्थितायास्तदा श्रियः।
भ्रमरैः कमलावासे मंजीरैरिव सिंजितम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार किसी पुरुषका उद्धार होने पर उसके

(१) इससे पहिलेके सात श्लोक छपी व लिखी प्रतिमें नहीं है।

घरमें मंजीरा आदि बाजे बजने लगते हैं उसीप्रकार सूर्य की किरणोंसे कमलवासिनी लक्ष्मीका जब उद्धार होगया अर्थात् सूर्य उदय होनेसे जब कमल खिल गये तो उनपर जो भ्रमर गुंजारने लगे वे बजते हुये मंजीरा सरीखे जान पडने लगे ॥ ९ ॥

अशोकपल्लवैस्सख्यालंबिता इव कानने ।
राजीवप्रसूनेषु द्वैगुण्यमिव संश्रिताः ॥ १० ॥
उद्भावयंतः संगत्या रक्ताख्यनदीजले ।
तलमाणिक्यदीप्तीनामुरुक्षुपप्राक्रियामिव ॥ ११
शिबिरद्विरदांगेषु कुर्वाणाः पश्यतां नृणाम् ।
कुंभोत्तंभितसिंदूरपरागप्रसरभ्रमम् ॥ १२ ॥
प्रवालपाटलच्छायेष्वधरोष्ठेषु योषिताम् ।
चुंबनव्रणनिर्मुक्तरक्तधारोपमावहाः ॥ १३ ॥
गाढालिंगनभग्नस्य कश्मीरस्य नतभ्रुवाम् ।
स्तनेषु रागं तत्प्रीत्येवोत्कुर्वाणाः कृतास्थितिम् ॥ १४ ॥
श्च्योतल्लाक्षारसाद्धातुरुचिसर्वस्वतस्कराः ।
द्यावापृथिव्योर्व्याप्ते प्रससू रविरश्मयः ॥ १५ ॥

उस समय जो बाल सूरजकी लाल किरणें चारो तरफ फैलने लगीं वे वनमें तो अशोक पल्लवके साथ मित्रता करती हुईके समान जान पडने लगीं, लाल फूलोंमें दुगुण सरीखी होगई। रक्तानदीके जलमें तलस्थित माणि-

र्योंकी दीप्ति ऊपर उठ आई सरीखी ज्ञात होने लगीं। हाथियों के शरीर पर पडनेसे कुंभस्थलमें लगाये गये सिंदूरके प्रवाहकी लोगोंको शंका होने लगी। मूंगाके समान पाटल कांतिवाले कामिनियोंके अधरोष्ठमें पड़ीं तो चुंबन करनेसे क्षत होनेकेकारण निकलती हुई रक्तधारा सरीखीं जंचने लगीं। कांताओंके स्तनों पर पड़ीं तो गाढ आलिंगन करनेसे छूटी हुई केसरकी लालिमाको पुनः प्रेमपूर्वक स्थापित करती सरीखी दीख पडने लगीं। इसप्रकार पिष्ट लाक्षारस आदि धातुओंकी कांतिको चुरानेवालीं सूरजकी किरणोंने आकाश और पृथ्वी दोनोंको व्याप्त करलिया॥ १०–१५॥

भास्वरोदयपीठस्थौ पृथिवीपतमोपहौ।
पादन्यासमकुर्वातामुच्चैर्मूर्धसु भूभृताम्॥ १६॥

देदीप्यमान सिंहासन पर विराजमान चक्रवर्ती वज्रनाभ और उदयाचल पर आये हुए सूरज दोनोंने भूभृत् (राजा व पर्वत) गणपर पादन्यास (पैर या किरण फैलाना) करना प्रारंभ कर दिया॥ १६॥

तेजसानुक्रमोष्णेन रथस्थौ रविचक्रिणौ।
आयातां दिगभिव्याप्तौ राजश्रीहारिणावुभौ॥ १७॥

धीरे २ बढ़ने हुये अपने तेजसे रथमें स्थित, राजाओं (चंद्रमा, नृप) की लक्ष्मीको हरण करनेवाले सूरज और चक्रवर्ती दोनों ही दिशाओंको व्याप्त करने लगे॥ १७॥

चचाल चक्रिणश्चम्वा चकितास्य चमूर्द्विषाम् ।
शिबिरान्निर्गमे तस्याः कायेभ्यो निर्ययाविव ॥१८॥ (?)

तेजोभिर्ववृधे तस्य सर्वदिक्षु प्रतिक्षणम् ।
आलिंगनादिवारिस्त्रीनिश्वासप्रसरोष्मणाम् ॥ १९ ॥

शत्रुओंकी स्त्रियोंके गरम गरम उच्छ्वासोंके आलिंगन करनेसे ही मानो उस चक्रवर्तीका तेज प्रतिक्षण दिशाओंमें फैलने लगा ॥ १९ ॥

अदृश्यो बलसंपाताज्जयमाशंसतो भिया ।
पृथिवीवाभवत्तस्य नूनं सेनापरिच्छदः ॥ २० ॥

सेनासे विजय चाहने वाले उस चक्रवर्तीका सैन्य डर-कर ही मानो पृथिवीके समान अदृश्य (जिसका अंत न देखा जा सके) होगया ।

सेनयाऽनूनया तस्य निसृष्टोद्धतभंगया ।
सीतोऽयेव सीतोदा प्रत्यासत्त्यनुरक्तया ॥ २१ ॥

उद्धतोंको नष्ट करनेवाली उस चक्रवर्ती की विशाल सेना रक्ता नदीके किनारे २ चलकर सीतोदाके तटपर जा पहुंची ॥ २१ ॥

तीरद्रुमावलीछन्नान् श्यामवारिस्तरंगिणी ।
उत्पश्येव तमायातमद्राक्षीत्मसवेक्षणा ॥ २२ ॥

तत्सैन्यतूर्यसंघातघातोत्थतुमुलध्वनिम्।
नादेयग्राहानिर्घोषः स्वपोषमपुषत्पुनः॥ २३॥

नील जलसे सुशोभित सीतोदा नदीने किनारेके वृक्षों के छलसे अपने कमलरूपी नेत्रों द्वारा उस आये हुये चक्रवर्ती को देखा और सेनाके बजते हुये बाजे आदि के शब्दोंको अपने हस्तियोंके शब्दोंसे और भी बढा दिया॥ २२--२३॥

जलेभपुष्करोद्गीर्णैरच्छातुच्छच्छटाजलैः।
नद्येवोत्तंभितास्तस्य ध्वजास्संनिधिहृष्टया॥ २४॥

जलहाथियोंसे शुंडा दंड द्वारा फेंके गये स्वच्छ जलकी जो छटाएं उठने लगीं वे चक्रवर्तीके पास आनेसे हृष्ट हुई सीतोदा द्वारा तानी गई ध्वजा सरीखीं मालूम होने लगीं॥

कूलवृक्षे निवस्तव्यं तत्र तत्र मनोहरे।
तरदेत्यसूचयत् सिंधुर्भंगभ्रूक्षेपणाद् ध्रुवम्॥ २५॥

अमुक अमुक मनोहर तटस्थ वृक्षोंके नीचे निवास कीजिये ऐसा अपनी लहररूपी भौंहों द्वारा सीतोदा चक्रवर्तीको कहती सरीखी जान पडने लगी॥ २५॥

तीरपर्यंतसंकीर्णपद्मरागमरीचिभिः।
पुरस्कृतानुरागेव निम्नगा तस्य निर्बभौ॥ २६॥

पद्मराग मणियोंकी दीप्ति जो किनारे तक फैल रहीथी वह शीतोदाका चक्रवर्तीके लिये आगे आया हुवा अनुराग सरीखा जान पडता था॥ २६॥

फेनलैरानवैर्व्योम्नि भंगैरुत्प्लुत्य पातिभिः ।
मुखैरन्वगात्तस्य हयसेनां महानदी ॥ २७ ॥

ऊंची उठ २ कर पडनेवाली फेन सहित शब्दोंको करती हुई तरंगोंसे सीतोदा नदी, मुखोंसे फैन डालते हुये कूद फांदकर चलनेवाले और हिनहिनाते हुये चक्रवर्तीके अश्वसैन्यकी नकल करती थी ॥ २७ ॥

तादृश्यगाधता तस्या महत्येव यदीच्छया ।
द्विस्तावा यदि निर्भक्ता वज्रनाभादयोप्यसौ ॥ २८ ॥ (?)
तत्पद्मिनीपलाशानामवकाशः किमुच्यते ।
तद्घटे चक्रवर्तिस्त्रीस्तना यत्रेमुरुद्घटाः ॥ २९ ॥

उस नदीकी पद्मिनियोंके पत्रोंकी विशालताका तो कहना ही क्या है, क्योंकि चक्रवर्तीकी रानियोंके स्थूल स्थूल स्तन उन पत्रोंके बने घडोंमें आ गये थे ॥ २९ ॥

का तदाताम्रपद्मानां गुणेयत्ता यदूहिरे ।
एकैकेन सकृच्चक्रिपाणिपादमुखश्रियः ॥ ३० ॥

ईषत् ताम्रवर्णवाले पद्मोंकी उस समय होनेवाली शोभाका क्या वर्णन किया जाय, जो उन सबने एक साथ चक्रवर्तीके हस्त, पाद और मुखकी लक्ष्मीको धारण करलिया ॥ ३० ॥

वेलावने समाश्वास्य स सेनां मानवाधिपः ।
रक्काद्वारेण सीतोदामुपतस्थौ रथास्थितः ॥ ३१ ॥

तत्राकृत्रिमसंतप्तचामीकरगृहोदरे ।
जिनदेवप्रतिच्छंदो भक्त्या तेनाभितुष्टुवे ॥ ३२ ॥

वह चक्रवर्ती तट वनमें सेनाको स्थापित कर रथमें चढ़ रक्ता नदीके द्वारसे सीतोदामें जा पहुंचा और उस जगह अकृत्रिम तपाये गये सुवर्णकीसी कांतिवाले मंदिरमें विराजमान जिनेंद्र भगवान की मूर्तिको नमस्कार कर इस प्रकार स्तुति करनेलगा ॥ ३१-३२ ॥

नमस्ते सार्व ! सर्वज्ञ ! सर्वोत्तमगुणात्मने ।
सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्त ! सर्वकैवल्यभूतये ॥ ३३ ॥

हे समस्त प्राणियोंके हितैषी, चराचर पदार्थोंको जानने वाले, सर्व सांसारिक झगड़ोंसे विनिर्मुक्त देव! आप सर्वोत्तम गुण स्वरूप हैं केवलज्ञानकी विभूतिसे भूषित हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥

प्रकृतिस्थ ! नमस्तुभ्यं प्रकृतिप्रत्ययात्मने ।
प्रकृत्युपरमेऽद्गीर्णपरमानंदमूर्त्तये ॥ ३४ ॥

हे स्वस्वरूपमें विराजमान देव ! आपके समस्त कर्म नष्ट होगये हैं अतएव परमानंद हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥

परमात्मानमानुत्य स इत्थं पार्थिवेश्वरः ।
रथेनाधिरथंसिंधुमतिचक्राम विक्रमी ॥ ३५ ॥

इस प्रकार परमात्माको नमस्कार कर वह चक्रवर्ती रथमें सवार होकर उस नदीमें चलने लगा ॥ ३५ ॥

शेषाक्षतैरिवोद्दामभृंगीमंगलगीतयः।
अवाकिरन् पुरस्तस्य प्रसूनैस्तटवल्लयः॥ ३६ ॥

जिस प्रकार हर्षमें आकर आनंदवृद्धिके लिये मंगल गीत गाये जाते हैं और शेष अक्षत बिखेरे जाते हैं उसी प्रकार उसनदीके तटकी जो लतायें थीं वे चक्रवर्तीके ऊपर अपने पुष्प वर्षाने लगीं और उनकी उत्कट सुगंधिसे आई हुई भ्रमरियोंके शब्दोंसे मंगल गीत गाती सरीखीं दीख पड़ने लगीं ॥ ३६ ॥

मुदमातेनिरे तस्य स्यंदने बद्धदृष्टयः।
हिमांबुजकुटीरस्थाः सोद्ग्रीवा हंसयोषितः॥ ३७

उस चक्रवर्ती के रथकी ओर टकटकी बांधकर हंसकांतायें हिम कमलरूपी कुटीरमें बैठी हुई ग्रीवा उठा देख देखकर हर्ष मनाने लगीं ॥ ३७ ॥

जलकुक्कुटसंशब्दं स निशम्य रतोत्सवे।
कांताकंठध्वनेः स्मर्ता व्यधत्त स्मेरमाननम् ॥ ३८ ॥

उस चक्रवर्तीने जब वहां जल कुक्कुटोंके शब्दोंको सुना तो रतोत्सवके समय होनेवाले कांताओंके स्वरकी याद आजानेसे मुस्कराहटपूर्वक हंसी हंसी ॥ ३८ ॥

तरुणारुणपद्मानि सरित्यच्छांभसि प्रभुः।
स्वलोचनप्रतिच्छंदसदृशान्यन्वलोकत ॥ ३९ ॥

स्वच्छ जलवाली उस नदीमें जो नवीन लोहित कमल खिल रहे थे वे चक्रवर्तीको अपने नयनोंकी प्रतिमूर्ति सरीखे दीख पड़ने लगे ॥ ३९ ॥

तटस्था रत्नभूस्तस्याः समुद्भ्राजिष्णुरश्मिभिः।
भयेन जिष्णवे तस्मै करार्पणमिवादधे ॥ ४० ॥

उस नदीकी रत्नमयी जो तटभूमि थी वह अपनी देदीप्यमान किरणोंसे डर कर ही मानो जयशील चक्रवर्तीको अपना हथ थमाती सरीखी मालूम पडने लगी ॥ ४० ॥

प्रातिबिंबगतः प्रेखदूर्मिभित्तिषु सर्वतः।
समावृत इवाधावत्तद्रथो रथकट्यया ॥ ४१ ॥

उठती हुई तरंगरूपी भित्तियोंमें प्रतिबिंबित चक्रवर्तीका रथ चोतरफा अनेक रथोंसे वेष्टित हुयेके समान दौडने लगा ॥ ४१ ॥

प्रत्यग्रवीचिपर्यायप्रतिमातारिणो हयाः।
स्वतः स्वतो जवेनैव सरथाः पुरतो ययुः ॥ ४२ ॥

आगै आगै होने वाली तरंगोंको पार करते हुये घोडे अपने आप वेगपूर्वक रथसहित जाने लगे ॥ ४२ ॥

गत्वा द्वादश वेगेन योजनानि नदीजले।

तस्थे रथेन केनापि स्तंभितेनेव भूपतेः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वेगपूर्वक रथ नदीके जलमें बारह योजन तक तो चला गया परंतु फिर कीले हुयेके समान वहीं ठहर गया ॥ ४३ ॥

स्यंदनस्य स्थलां वृत्तिमसहिष्णुं महीपतिम्।
भयगद्गदया वाचा जगाद रथचोदकः ॥ ४४ ॥
इतः परमियं भूमिर्न रथस्य नरेश्वर!।
अनादिवस्तुस्वाभाव्यमत्र विधिनियामकम् ॥ ४५ ॥
महत्यूर्जितप्रतापं त्वां प्रत्यवस्थातुमीश्वराः।
मनसापि कुतो नाम क्रियया देवमानवाः ॥ ४६ ॥

रथ हांकनेवालेने जब रथका गमन इसप्रकार स्खलित देखा तो भयभीत हो गद्गद वाणीसे असहिष्णु चक्रवर्तीको कहा—'महाराज! इससे आगे और रथ नहीं जा सकता क्योंकि अनादि वस्तुओंका स्वभाव ही ऐसा है। अति प्रतापशाली आपसे वैर ठाननेकी बात देव या मनुष्य मनमें भी नही लासकते क्रियाकी तो बातही क्या है? ॥ ४४-४६ ॥

आयुष्मन्! प्रेष्यतां तस्माद्बाणोविजयिनामभृत्।
बाणस्तेनैव साध्योऽसौ मागधो व्यंतराधिपः ॥ ४७ ॥

चिरंजीविन्! इसलिये तुम अपने विजयी नामका एक बाण मागध व्यंतरके पास भेजो उसीसे वह वश हो जायगा॥

आप्तभाषितमाकर्ण्य कृष्टमाकर्णगह्वरात् ।
स शरं मोचयामास धनुषा मनुषाधिपः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार आप्तभाषित सुनकरके चक्रवर्तीने धनुष पर बाण चढाया और कर्णपर्यंत खींचकर उसे छोडदिया ॥४८॥

तस्य निःपततो धाम्ना व्योम निःशेषगर्भितम् ।
भयान्निमीलनं चक्रे शीतोदादेवताद्दशाम् ॥ ४९ ॥
तत्तेजःप्रसरं द्रष्टुमक्षमाश्चक्षुषां पथि ।
उत्पुच्छकं जले मग्ना बभूवुर्जलपक्षिणः ॥ ५० ॥

बाणके तेजसे समस्त आकाश व्याप्त होगया, डरके मारे शीतोदा निवासी देवताओंकी आंखे मिच गई और देखनेमें असमर्थ हुये जलपक्षी पूंछ ऊपर कर जलमें डूब गये ॥ ४९-५० ॥

स बाणः समुपेत्याशु मागधस्य महौजसः ।
मणिहर्म्यशिरस्तुंगं जघान घनवर्मना ॥ ५१ ॥

वह बाण सीधा आकर तेजस्वी मागध व्यंतरके महल की चोटीमें लगा और उससे शिखर गिरपडी ॥ ५१ ॥

अमरास्तन्निपातोत्थध्वानसंपातपीडितान् ।
पिदधौ पाणिभिः कर्णान् भयाद्धाकारकारिणः ॥ ५२ ॥

देवता गण शिखिर गिरनेके शब्दको सुनकर डरगये और हा हा शब्द करते हुये हाथोंसे कानोंको ढकने लगे ५२

भूपतितं समादाय भूमिनाथस्य पत्रिणम् ।
आस्थानस्थायिपार्श्वस्थो व्यंतरेशं व्यदर्शयत् ॥ ५३ ॥

पृथ्वी पर पडे हुये उस चक्रवर्तीके बाण को मागध देव सर्वदा सभा स्थानमें रहनेवाले रक्षकने उठालिया और उसे अपने स्वामीको दिखलाया ॥ ५३ ॥

तद्दृष्टसमयोद्गीर्णक्रोधघूर्णद्विलोचनः ।
प्रोद्यत्कहकहाध्वानं प्रहस्येदमचीकथत् ॥ ५४ ॥
ईदृशी तादृशस्यैव युज्यते साहसक्रिया ।
यशसैवार्थितो नित्यं न प्राणैः प्राणभृत्प्रियैः ॥ ५५ ॥

बाणको देखते ही व्यंतरप्रभु क्रोधाविष्ट होगया उसने अपनी लाल २ आंखोंको चारोतरफ घुमाते हुये हंसकर कह-कहा ध्वनिमें कहा—'इस प्रकारका साहस उसी पुरुषका हो सक्ता है जो सर्वदा कीर्ति ही कीर्ति चाहता है और अपने प्राणोंकी कुछ पर्वा नहीं करता ॥ ५४-५५ ॥

विगाहमाना व्योमाग्रमद्य मत्कीर्तिवल्लरी ।
अनेनास्त्रप्रकांडेन किं न चंडेन खंड्यते ॥ ५६ ॥
तोमरप्रणिधस्तस्य जलातिक्रमकारिणः ।
अमी रत्नविशेषाः किं नोपस्थानं प्रकुर्वते ॥ ५७ ॥

समस्त आकाश मंडलको व्याप्त करने वाली मेरी कीर्ति रूपी लता क्या इस प्रचंड अस्त्रने खंडित न कर डाली? जल

मार्गका उल्लंघन कर आये हुये इस बाण चलानेवालेको क्या ये जो मेरे विशेष २ रत्न हैं वे उपस्थान (प्राप्त या परास्त न करेंगे ॥ ५६-५७ ॥

इति क्रोधोपहासाभ्यां यथार्थमेव भारतीम्।
अभिजल्पंतमाचख्युस्तमन्ये ख्यातपौरुषाः ॥ ५८ ॥
इयमत्युज्वला लक्ष्मीर्भवतः प्रथितोन्नतेः।
सौदामनीव जीमूतात् कस्य शक्या पृथक्क्रिया ॥५९॥
व्योमेवाक्रांतविश्वां ते बलाद् दुर्लंघ्यपौरुषाम्।
हठादाक्रष्टुमीष्टे कः श्रियं चंद्रकलामिव ॥ ६० ॥
तस्य का वा भवेन्न श्रीर्यस्तु ते संगरोत्सवे।
चंडदोर्दंडकंडूतिकंडूयनमरक्षमः ॥ ६१ ॥
असर्वनिहावार्यवीर्यख्यातेस्तवेदृशी।
मानवानुत्तमे तस्मिन्नाक्षेपोक्तिरयुक्तिका ॥ ६२ ॥
अतस्सुभटसंमर्दलब्धाविक्रमासिद्धयः।
ईप्सितार्थक्रियासिद्धौ देव ! प्रेष्यामहे वयम् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार क्रोध और उपहाससे यथार्थ ही वाणी कहते हुये उस मागध देव को प्रसिद्ध पौरुषवाले योद्धा लोग बोले—देव ! जिसप्रकार मेघसे बिजलीको कोई पृथक् नहीं कर सक्ता उसीप्रकार विशाल और निर्मल आपकी इस लक्ष्मी को कोई आपसे ले नहीं सक्ता। महाराज ! दुर्लंघ्य पौरुषसे विशिष्ट आपकी इस लक्ष्मीको चंद्रमासे चांदनीके

समान कौन हठात् छीन सकता है? जो पुरुष युद्धमें अपनी प्रचंड बाहुओंकी खुजलीको तुम्हारे साथ मिटानेमें समर्थ है उसके कौनसी लक्ष्मी न होगी। सैकडों देवताओंसे भी न जीते जानेवाले पराक्रमके धारक तुमको अनुत्तम मनुष्यके विषयमें इसतरहकी आक्षेप भरी बातें कहना उचित नहीं। इसलिये हे देव! योद्धाओं के संमर्दन करनेसे पराक्रमकी सिद्धिको प्राप्त हुये हम लोगोंको अभीष्ट अर्थ सिद्ध करनेकेलिये आज्ञा दीजिये ॥ ५८-६३ ॥

बहलप्रसृतोद्दामधूमप्रत्यूहलोचनः ।
दूरादभ्येत्य दावाग्निं कोतिक्रमितुमीश्वरः ॥ ६४ ॥

देव! चारो तरफ फैलते हुए धुएसे जिसकी आखें बंद हो गई हैं ऐसा कौन पुरुष दूरसे आकर दावाग्निका उल्लंघन कर सक्ता है ॥ ६४ ॥

शुष्कांबुतलमात्रस्थभ्राम्यत्तिमितिमिंगिलम् ।
करवाम यदीच्छा ते शीतोदाकुहरोदरम् ॥ ६५ ॥
निरस्य नीरसं वारिक्षारमर्णवगह्वरम् ।
संपादयेम संपूर्णं तव देव! यशोऽमृतैः ॥६६॥
मेरुमुन्मील्य भूगर्भात् प्रभावं तत्र शाश्वतम् ।
कीर्तिकल्पलतालंबस्तंभमुत्तंभयेम ते ॥ ६७ ॥
अपारभान्मतः शुभ्राः बलादाहृत्य मात्रलीः ।
हारीकृताभिस्ताभिस्ते भूषयेम भुजांतरम् ॥ ६८ ॥

हे देव! यदि आपकी इच्छा हो तो कहिये, इस शीतोदा नदीरूपी गुहाको समस्त जल शोखकर सिर्फ मकर मच्छ आदिसे ही युक्त रहने दें। अथवा कहिए खार जलसे भरे समुद्ररूपी गड्ढेको सब जल सुखाकर आपके यशरूपी अमृतसे व्याप्त करदें। अथवा आज्ञा दीजिये तो पृथ्वीमें से सुमेरु पर्वतको उखाडकर फेंक दें और उसकी जगह आपकी कीर्तिरूपी लताका आश्रयभूत कल्पवृक्ष जमादें और हुक्म हो तो अपार कांतिके धारक सूरजकी किरणों को बलपूर्वक छीनकर आपके वक्षस्थलमें बिठादें ॥६५–६८॥

धीरमित्यभिधायोच्चैराकारावि्ष्कृतोद्यमाः।
अभूवन्युद्धसंनद्धा मागधानीकनायकाः॥ ६९ ॥

इसप्रकार वचनोंसे अपने अपने पराक्रमको जतलाते हुये मागधदेवके सेनापति युद्धकी तयारियां करने लगे॥६९॥

प्रकोपताम्रया दृष्ट्या खड्गकस्याभिपश्यतः।
प्रागेवाजनि संग्रामात् स ध्रुवं लिप्तलोहितः॥ ७० ॥

देखते हुये खड्गधारी पुरुषकी क्रोधभरी लाल दृष्टि से वह संग्राम करनेके पहिलेही लोहित हो गया॥ ७० ॥

कैश्चिद्वज्रमया दंडा दृढमुष्टिनिपीडिताः।
स्वीचक्रुर्विक्रमोदार्र्यव्ययेव परिभ्रमम्॥ ७१ ॥

जिसप्रकार लोग पीडासे इधर उधर भागते फिरते हैं उसी

प्रकार किन्हीं किन्हीं पराक्रमी योद्धाओंने वज्रमय दंड अपने हाथोंमें खूबकडी मुट्ठी बांधकर थाम लिये ॥ ७१ ॥

दृढज्याकर्षिकर्मण्याः कोदंडं मंडलीकृतम् ।
जयश्रीसंप्रवेशाय दधुर्द्वारमिवापरे ॥ ७२ ॥

दृढज्याके खींचनेमें कर्मठ किन्हीं योद्धाओंने जय लक्ष्मीके प्रवेश करनेकेलिये द्वार सरीखे लगनेवाले मंडलाकार धनुषोंको हाथमें लेलिया ॥ ७२ ॥

रत्नसंवाहिनश्चान्ये तत्प्रभामध्यवर्तिनः ।
चकाशिरे भृशं दृश्यतेजःपल्लविता इव ॥ ७३ ॥

रत्नोंके धारण करनेवाले बहुतसे योद्धा उस समय मूर्तिधारी तेजसे पल्लवित हुयेके समान उन रत्नोंकी कांतिसे शोभित दीखपडने लगे ॥ ७३ ॥

केचिन्निसर्गनिस्त्रिंशा निस्त्रिंशान् दधतः करैः ।
प्रत्यासन्नरणप्रीत्या बभूवुर्द्विगुणा इव ॥ ७४ ॥

बहुतसे योद्धा एक तो पहिलेसेही निस्त्रिंश—स्वाभाविक क्रूरतावाले थे और इससमय रण पास आजानेसे. जब उनने निस्त्रिंश (खड्ग) धारण कर लिया तो दूने सरीखे होगये।

भास्वतः स्वप्रतापस्य परिवेषाभिवोचितं ।
गदावर्तनवैदग्ध्याद्वीराः केचिद्वितस्तरुः ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार तेजस्वी सूर्यके चारो तरफ परिवेष होता है

उसीप्रकार मागध देवके गदा फिरानेमें चतुर किन्हीं योद्धाओंने गदा फिराकर अपने देदीप्यमान प्रतापका परिवेष सरीखा बना दिया ॥ ७५ ॥

क्रोधहासोल्लसद्दंतदीप्तिभिस्तत्क्षणान्मुखम् ।
अभिषिक्तमिवोरस्थैर्विभ्रुर्विक्रमं भटाः ॥ ७६ ॥

उससमय सुभट लोग क्रोधमिश्रित हंसी हंसनेसे निकले हुये दांतोंकी कांतियुक्त मुखको तेजसे अभिषिक्त हुये पराक्रमके समान धारण करने लगे ॥ ७६ ॥

आपतन्मधुपालापैरालिप्तहरिचंदनाः ॥
केचिद्वाचालयामासुरिव स्वं प्रथमोद्यमम् ॥ ७७ ॥

किन्हीं २ योद्धाओंने अपने शरीरमें उससमय हरिचंदन का लेप कर रक्खा था और अतएव गुंजारते हुये भ्रमर उनके ओर पास फिरते थे सो उनसे वे अपने पहिले पराक्रमको कहलाते सरीखे मालूम पडते थे ॥ ७७ ॥

परे तु स्फुरितोद्दामकुंतदंतुरपाणयः ।
विरेजिरे नतिक्रम्य विक्रमांकुरिता इव ॥ ७८ ॥

किन्हीं २ योद्धाओंने चमकते हुये पैने भाले अपने हाथोंमें ले रक्खे थे इस लिये पराक्रमसे अंकुरित सरीखे मालूम पडते थे ॥ ७८ ॥

सिंहनादकृतः केचिदुद्वेलरणरंहसः ।

प्रायः पिशुनयामासुः गांभीर्यं शौर्यवारिधेः ॥ ७९ ॥

रण की शीघ्रता करनेवाले कोई योद्धा सिंहनादकर अपने पराक्रमरूपी समुद्रकी गंभीरता जतलाने लगे ॥७९॥

स्फारमास्फालयंति स्म स्वर्ग्याः केचिद् भुजैर्भुजान् ।
अमांतमंतः संग्रामरागं रोद्धुमिवोद्धताः ॥ ८० ॥

कोई कोई देवता अपने भीतर नही समाते हुये संग्रामके प्रेमको रोकनेकेलिये ही मानो उद्धत हो भुजाओंसे भुजाओंका आस्फालन (ताल ठोकने) करने लगे ॥ ८० ॥

रणरागोदयस्फीतगात्रस्फुटितभूषणाः ।
केचित्सत्यापयंते स्म नैर्ग्रंथ्यं युद्धदीक्षिताः ॥ ८१ ॥

युद्ध करनेमें दीक्षित हुये किन्ही योद्धाओंके संग्रामप्रेम उमग आया और उससे शरीर फूलजाने के कारण भूषण टूट पडे इसलिये उनने अपनी वास्तविक निर्ग्रंथता दिखलादी ॥

इत्थं परिषदा सार्द्धमुद्युक्तं परिषद्बलम् ।
निषिध्य कुलवृद्धास्तमवोचन्नविचारिणम् ॥ ८२ ॥

इस प्रकार अपने साथियोंके साथ तयार हुये उस अविचारी मागध देवको रोककर वृद्ध पुरुष बोले ॥ ८२ ॥

प्रभो ! तव किमुद्ग्राह्यं पुरः कर्तव्यवेदिनः ।
तथाप्यवसरोऽयं नः स्वाधिकारप्रवर्तने ॥ ८३ ॥

प्रभो ! आप समस्त कर्तव्य अकर्तव्य को जाननेवाले

है इसलिए हम क्या कहें ? तो भी इस समय हमें अपने अधिकारका मौका देख कर कहना पड़ता है ॥ ८३ ॥

अविविच्य क्रिया नैव श्रेयसे बलिनामपि ।
गजोऽपि निपतेत् गर्ते वृत्तस्तमसि चर्यया ॥ ८४ ॥

विना सोचे समझे काम करनेसे बलशाली पुरुषोंका भी कल्याण नहीं होता, देखिये ! अंधकारमें चलनेसे हाथी गड्ढेमें गिर पडता है ॥ ८४ ॥

अशक्यवस्तुविषयः प्रत्यवायकृदुद्यमः ।
अंघ्रिणा क्रमतोऽप्यग्निरंघ्रिस्फोटः स्फुटायते ॥ ८५ ॥

अशक्य पदार्थके विषयमें किया गया परिश्रम अवश्य प्रतिहत होजाता है जैसे कि अग्निको पैरसे कुचलनेवाले पुरुषका पैरही जलता है, अग्निका कुछ नही बिगडता ॥८५॥

स्वैरमन्यदातिक्रम्य प्रवर्तेताखिल बली ।
कालक्रमोपपन्ना तु नियतिः केन लंघ्यते ॥ ८६ ॥

बलवान् पुरुष दूसरे पदार्थों पर इच्छानुसार विजय पा-सक्ता है लेकिन कालक्रमसे प्राप्त हुये भाग्यको कौन टाल सकता है ॥ ८६ ॥

प्रवृत्तो व्यवहारोऽयं देव निश्चायमन्यथा ।
यदमूवन्भवद्वंश्याश्चक्रभृद्भ्यः करप्रदाः ॥ ८७ ॥

हे प्रभो ! यह सर्वदासे चला आया व्यवहार है कि आपके वंशज चक्रवर्तिकेलिये कर देते रहे हैं ॥ ८७ ॥

इत्याप्तवाचां प्रामाण्यात् प्रसन्नो मुक्तमत्सरः।
रथस्थमुपतस्थे स भूपमुं व्यंतरप्रभुः ॥ ८८ ॥
अनमाद्विनयोदारजयकारकृतांजलिः।
संबधुपरिवारस्स क्रमयोश्चक्रवर्तिनः ॥ ८९ ॥

मगधाधिपने अपने वृद्धपुरुषोंसे उक्त बात सुनी तो वैर छोड दिया और पृथ्वीके अधिपति चक्रवर्तीके पास आ पहुंचा और अपने बंधु स्त्री सहित चक्रवर्तीके पैरोंमें विनयमिश्रित जयकार बोलते हुये हाथ जोडकर नमस्कार किया ॥ ८८—८९ ॥

द्योर्ववर्ष तदा पौष्पीं वृष्टिमाकृष्टषट्पदाम्।
अधिचक्राम दिक्चक्रममंदो दुंदुभिध्वनिः ॥ ९० ॥
अनेकरागसुव्यक्तिश्रव्याभोगमनोहरम्।
रथांगपाणिना साकं मधुरं किन्नरा जगुः ॥ ९१ ॥
अनेन विकचाताम्रकुशेशयदृशा तदा।
आलुलोके तदाश्चर्यं नूनं निम्नगया तथा ॥ ९२ ॥

उस समय अपनी सुगंधसे भ्रमरोंको खींचनेवाली आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी, विस्तृत दुंदुभिध्वनिसे समस्त दिशायें गूंज उठीं और अनेक राग रागनियोंसे मिश्रित श्रवणोंको प्रिय लगनेवाले गीतोंको किन्नर गाने लगे एवं अपने फूले हुये लोहित कमल रूपी नेत्रोंसे इस आश्चर्यको नदी देखने लगी ॥ ९०—९२ ॥

आनीय सारवस्तूनि साकं तत्सायकेन सः।
इदं मभ्यर्थयता वाचा बभाषे पृथिवीश्वरम् ॥ ९३ ॥

कुंडलद्वयमेतत्ते मंडनं देव ! गंडयोः।
भास्वतोर्मध्यगस्येंदोर्लीलामातनुतां मुखे ॥ ९४ ॥

स्वतः स्वमान्यभूभारं बिभ्रतस्तव कंधरम्।
अयमालिंगतु स्फारो हारश्शेष इव प्रियः ॥ ९५ ॥

देव ! किं बहुना यन्नः कुलक्रमसमागतम्।
तदेव वस्तु सर्वं तदन्यत्र शुभकर्मणि ॥ ९६ ॥

मागध देवने बाणके साथ साथ बढिया बढिया पदार्थ चक्रवर्तीको भेटमें लाकर दिये और नम्रतापूर्वक कहा कि देव ! जो दो सूर्योंके मध्यवर्ती चंद्रमाकी शोभा हो सकती है वह ही दोनो गंडस्थलोंमें विराजमान इन दो कुंडलोंसे आपके मुखकी हो। पृथ्वीके भारको धारण करनेवाले आपके कंधेको यह देदीप्यमान हार, प्रिय शेषनागके समान आलिंगन करे। हे देव ! अधिक क्या ? यह ही सब वस्तुएं हमारे कुलक्रमसे शुभकर्ममें चली आई हैं और नहीं हैं॥९३—९६॥

इति प्रवर्त्तं संतोष्य प्रस्थाप्य च तमीश्वरः।
प्रत्याजगाम शिबिरं कुबेरोपमविक्रमः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार प्रार्थना करते हुये मागध देवको संतुष्ट कर

विदा करदिया और वहांसे कुवेरके समान पराक्रमी वह शिविरकी तरफ लौट आया ॥ ९७ ॥

वैजयंत्या पुनः सिंधुं प्रविश्य वसुधेश्वरः
देवं वरतनुं चक्रे विक्रमी स्वक्रमानतम् ॥ ९८ ॥

अलाव्यं कवचं नव्यं चूडारत्नमयत्नजम् ।
ददौ वरतनुस्तस्मै सुस्मेरं मणिकंकणं॥ ९९ ॥

इसके वाद उस चक्रवर्तीने वैजयंती द्वारसे सिंधु नदीमें प्रवेश किया और वहां भी अपने पराक्रमसे वरतनु देवको वश करलिया एवं उससे अभेद्य कवच, नवीन चूडारत्न और देदीप्यमान मणिकंकण भेटमें प्राप्त किये ॥ ९८–९९ ॥

रक्तोदया प्रविष्टस्य सीतोदां तस्य संभ्रमात् ।
सर्ववस्तुप्रदानेन प्रभासः प्रणतोऽभवत् ॥ १०० ॥

करदीकृतसीतोदावास्तव्यामरनायकः ।
प्रतस्थे विजयार्द्धाय विजयी विजयात्मजः ॥ १०१ ॥

रक्तोदाद्वारसे सीतोदामें प्रवेश कर चक्रवर्तीने प्रभास देवको अवनत किया और उसने भी वढिया २ वस्तुएं भेटमें दीं इसप्रकार सीतोदा नदीमें रहनेवाले देवताओंके स्वामियोंको वशमें कर विजयशील विजयाका पुत्र वज्रनाभ विजयार्द्धकी तरफ रवाना हुआ ॥१००–१०१॥

वहल्या तस्य वाहन्या तटे समतिवाहया ।

प्रव्यक्त च रक्तोदा गतप्रत्यागतक्रियाम् ॥ १०२ ॥

दोनो तटों पर चलनेवाली चक्रवर्तीकी सेनासे वह रक्तोदा नदी गत प्रत्यागत क्रिया करती सरीखी मालूम पडने लगी ॥ १०२ ॥

क्रमेणापश्यदासाद्य स राजा रजताचलम् ।
यशः स्वमिव संभूय पुरस्तात्समवस्थितम् ॥ १०३ ॥

चक्रवर्ती वज्रनाभने क्रमशः चलते २ सामने इकट्ठे हुये शरीरधारी अपने निर्मल यशके समान श्वेत विजयार्द्ध पर्वतको देखा ॥१०३॥

सतः प्रसृत्य प्राथिम्ना चुंबता ककुभां मुखम् ।
कुर्वाणं द्रव्यसंबंधगुणाख्यातिमिवान्यथा ॥ १०४ ॥

वह पर्वत अपनी लंबाईसे दिशाओंके मुखको चुंबन कर रहा था इसलिये द्रव्याश्रय गुण होते हैं इस बातको मिथ्या करता सरीखा जान पडता था ॥१०४॥

शिखरैर्ल्लिखिताशेषदिग्मुखैर्दृढपीवरैः ।
अनालंबमिवोत्तंभं बिभ्रतं व्योममंडलम् ॥ १०५ ॥

उसकी मजबूत और मोटी शिखरें बहुत ही ऊंची थीं इसलिये आश्रय विहीन आकाश मंडलको थामें सरीखी मालूम पडती थीं ॥१०५॥

प्रस्थभूम्यः समुद्भ्रांतैरभ्रकूटैश्च पांडुरैः ।

विहरंतमिव व्योम्नि गात्रैर्विद्यावलाश्रयम् ॥ १०६ ॥

उस पर्वतकी कूटों पर पांडुरवर्णके मेघ सदा चलते फिरते रहते हैं इसलिये आकाशमें विद्यावलसे बहुतसे शरीर धारण कर वह घूमता हुआ जान पडता था ॥१०६॥

भूभृत्सानुषु संभूतस्वच्छपानीयनिर्झरैः ।
जिगीषोस्तस्य दृष्टयेव भूयः प्रस्वेदकारिणम् ॥ १०७ ॥

उसकी सानुओं (शिखरों) पर जो निर्मल जलके झरने झरते थे उससे दिग्विजयी चक्रवर्तीके देखनेमात्रसे डरकर पसीनेसे तलवतल हो गया सरीखा जान पडता था ॥१०७॥

दधतं खेचरक्रीडाकुरंगाध्यासितोदरम् ।
पर्वणेंदुमिव क्वापि स्फाटिकोपलमंडलम् ॥ १०८ ॥

उसकी गुफाएं विद्याधरोंके क्रीड़ा मृगोंसे सुशोभित थीं और स्वयं स्फटिक पत्थरके समान श्वेत मंडलाकार था इसलिये पूर्णमासीके चंद्रमाके समान मालूम पडता था ॥ १०८ ॥

दूरप्रसृतया स्वस्य प्रभया वर्त्मगामिनाम् ।
प्रवाहयंतं संतृप्त्यै व्योमगंगामिवाग्रतः ॥ १०९ ॥

उसकी कांति आकाशमें बहुत दूर तक फैल रही थी इसलिये आकाशगामियोंकी तृप्तिके लिये आकाश गंगाको बहाता सरीखा दीख पडता था ॥१०९॥

स्फीतपार्श्वतया व्योम्नि विकाशस्थितिलब्धये ।

प्रोत्सारयंतमापन्नाः ककुद्भित्तीरिवानिशम् ॥ ११० ॥

विजयार्ध पर्वत अपने दोनों पसवाडोंसे बहुत दूरतक लंबा था अतएव आकाशमें अधिक अवकाश प्राप्त करनेके लिये विघ्न डालती हुई दिशारूपी भित्तियोंको हटाता सरीखा जान पडता था ॥ ११० ॥

शुभ्रदीप्तितिरोभाव्यपरभागतयान्वितम् ।

ग्रसमानमिवाजस्रमापातुकपतत्रिणः ॥ १११ ॥

उसका पश्चिम भाग श्वेत कांतिको तिरोभूत करनेवाला था इसलिये ऊपर पडते हुये पक्षियोंको निरन्तर खाता सरीखा मालूम पडता था ॥ १११ ॥

विशदाभित्तितटगप्रतिबिंबप्रयोजनम् ।

दर्पणग्रहणे यत्नं श्लथयंतं नतभ्रुवाम् ॥ ११२ ॥

उसका भित्तितट निर्मल और चमकीला प्रतिबिंब पडने लायक था इसलिये स्त्रियोंको दर्पण देखनेकी आवश्यकताको कम करता जान पडता था ॥ ११२ ॥

स्फुरदातपसंपृक्तसूर्यकांतोद्गतानलम् ।

दर्शयंतं स्वगात्रेषु तत्प्रतापमिवाश्रितम् ॥ ११३ ॥

उस पर जो सूर्यकांत मणियां थीं और धूपके कारण वे जलती थीं सो उनसे अपने शरीरमें आश्रित प्रतापको दिखलाता सरीखा मालूम पडता था ॥ ११३ ॥

एकशो निर्मलानेकसानुभित्तिगताकृतीन्।

बहुरूपभृतो विद्या वारयंतामिव द्रुमान्॥ ११४॥ आदिकुलकम्

उस विजयार्द्ध पर्वतकी निर्मल अनेक शिखररूपी भित्तियोंमें परछाहीं पडनेसे एक वृक्ष भी बहुत रूपमें दीख पडता था इसलिये बहुरूपिणी विद्याओंको वह धारण करता सरीखा जान पडता था॥ ११४॥

तत्पर्वतवनोपांते विशश्राम नरेश्वरः।

आर्यखंडगतास्तत्र भूभृतस्तु निषेविरे॥ ११५॥

उस पर्वतके समीपस्थ वनमें चक्रवर्ती ठहर गये और आर्य खंडके राजा लोग उसकी वहां सेवा करने लगे ११५

विजयार्धकुमारोऽपि तत्प्रभावेन चोदितः।

आनर्च तं भयानम्रस्तेन भद्रासनार्चितम्॥ ११६॥

श्वेतातपत्रभृंगारहारिविष्टरचामरैः।

करप्रदानं निर्वृत्य निजधाम जगाम सः॥ ११७॥

विजयार्धपर्वतवासी विजयार्ध कुमार उस चक्रवर्तीके प्रभावसे आया और भयसे नम्रीभूत हो उसकी पूजाकी एवं श्वेतछत्र, झाडी, सिंहासन और चमर ये चार वस्तुएं भेंटमें देकर अपने घर वापिस चला गया॥ ११६-११७॥

भूषणानि भुवां पत्ये चतुर्दश महौजसे।

अदायिषत भीतेन कृतमालादिवौकसा॥ ११८॥

विना येन नयेनाविभाव्यते न गुहामुखं ।
तस्मै स च तमाचख्यौ तेमधीरुरुधीमते ॥ ११९ ॥

आद्यंतपादगतप्रत्यागतम्[1]

महातेजस्वी उस चक्रवर्तीको कृतमाल देवने भयभीत हो चौदह भूषण दिये और जिस उपायसे गुहाका द्वार खुल सकता है वह उपाय भी सरलचित्तवाले उसने उस विशाल बुद्धिवाले चक्रवर्तीको बतला दिये ॥ ११८-११९ ॥

सेनानीश्चक्रिसंदेशादारूढो हयमुत्तमम् ।
दंडरत्नधरस्तूर्णमाजिहीत गुहांतिकं ॥ १२० ॥

चक्रवर्ती वज्रनाभकी आज्ञा ले सेनापति दंडरत्न हाथमें ले श्रेष्ठ घोडे पर चढा और शीघ्रही गुहाके पास जा पहुंचा।

स्वामिनाम त्रिरुच्चार्य दृढबंधनबंधुरं ।
कपाटपुटसंधानं दंडाग्रेण जघान सः ॥ १२१ ॥

सेनापतिने पहिले अपने स्वामीका नाम तीनवार उच्चारण किया और फिर दृढ रीतिसे जुडे हुये किवाडोंको दंडरत्नके अग्रभागसे चोट मारी ॥ १२१ ॥

ईहावहमुखक्षेन गदर्या विदितालयं ।
गुहागृहमुखं तेन विदधे विहृताश्रयं ॥ १२२ ॥ गोमूत्रिका ।

---

१ इस श्लोकका पहिला और चौथा पाद उल्टा और सीधा दोनों तरहसे पढा जा सकता है ।

यावदन्वागतस्तीव्रो न गुहोष्मा स वेगिना ।
अश्वेनालंघयद् दूरमन्यालंघ्यपराक्रमः ॥ १२३ ॥

मुखसेही भीतरी अभिप्रायको जान लेनेवाले उस सेनापतिने भीतर स्थानको जानकर गुहाका मुह गदासे खोल दिया और जब तक अतिगरम गुहाकी बाफ न आ पाई उससे पहिले ही वेगपूर्वक चलनेवाले घोडेके साथ बहुत दूर जा पहुंचा ॥ १२२--१२३

तुरंगी चतुरंगी च म्लेच्छनिर्जयनोद्यमी ।
स्वभावेन स्वभावेन प्रतस्थे पृतनापतिः ॥ १२४ ॥
तं म्लेच्छाः सर्वभावेन समरेऽसमरोचिते ।
भग्नाः शरण्यमाजग्मुः पीडने पीडनेरिताः ॥ १२५ ॥

म्लेच्छ लोगोंको जीतनेका उद्यम करनेवाला वह सेनापति अपना स्वाभाविक गमन कर म्लेच्छोंमें जा पहुंचा और वे म्लेच्छ गण भी अपनेसे अधिक प्रभाव वालेके साथ छिडे हुए उस युद्धमें हार खा गये एवं पीडासे घबडा कर उसकी शरणमें आ इकट्ठे हुये ॥ १२४–१२५ ॥

समदस्त्रीप्रदानेन समदस्त्री स संयुगे ।
मनुजः स्वामिनः स्वैरमनुजग्राह तानयं ॥ १२६ ॥
तेभ्यो द्रविणमादाय मनोमदनवाहितं ।
आययौ स नृपोपांतमनोमदनवाहितम् ॥ १२७ ॥

चक्रवर्ती वज्रनाभका सेनापति जब म्लेच्छ राजाओंकी

विजय कर चुका तो भेंटमें स्वामीके लिये आई हुई कन्याओं र अपरिमित धनको साथमें लेकर वापिस जहां चक्रवर्तीके डेरे थे लौट आया ॥ १२६-१२७ ॥

शांतोष्मणि गुहागर्भे स सम्राट् तत्र सेनया।
अगादशक्यसंख्यानां सुधियां स्वरसेनया ॥ १२८ ॥
भित्तिलेख्यौ विरेजाते काकणीमणिनिर्मितौ।
तत्र रुक्मसरे जाते पुष्पदंतौ तमोपहौ ॥ १२९ ॥
सा सेना समयामास गुहासिंधोरुभौ तटौ।
सा सेना समयामास सन्नाहे चक्रवर्तिनः ॥ १३० ॥

गुहाकी गर्मी जब शांत हो गई तो उसमें चक्रवर्तीने अपनी सेनाके साथ २ प्रवेश किया और अंधकारमें जब मार्ग सूझनेका कोई उपाय न दिखलाई पडा तो काकणी और चूडामणिरत्न द्वारा सूर्य और चंद्रमाके दो प्रतिबिंब उकेरे जिससे उजाला ही उजाला हो गया एवं गुफामें जो सिंधु नदी वह रही थी उसके दोनों किनारों पर वह सेना चलने लगी ॥ १२८-१३० ॥

विहितारिविदानेन विदाऽनेन ततो जगत्।
यशसा वेष्टितो मानवेष्टितोऽमा नवेष्र्यया (?) ॥ १३१॥
तस्याजनत एवोग्रा हेमकारस्य सैनिकाः।
यशोहिमकरस्यासन् संग्रामाय समुद्यताः ॥ १३२ ॥

मात्राच्युतकम्।

व्यूहं विरचयामास सर्वतोभद्रमात्मनः ।

येन सेनापतिः कामं सर्वतो भद्रमाप्तुतिः ॥ १३३ ॥

उग्र हेमकार और यशोहिमकरके सैनिक लोग विना इसकी सामर्थ्य जाने ही संग्राम करनेके लिये उद्यत हुये । यह देख कर सेनापतिने सर्व प्रकारसे कल्याण करनेवाले सर्वतोभद्र नामक व्यूहकी रचना की ॥ १३२ । १३३ ॥

रथेनपृथुलाताम्रपताकाभिर्द्विषं बले ।

कृतांतस्येव जिह्वाभिः समियः प्रविभेजिरे ॥ १३४ ॥

उस समय रथों पर जो बडी बडी ईषत् ताम्र वर्णकी पताकायें फहरा रहीं थीं वे शत्रुओंकी सेनामें यमराजकी लहलहाती जिह्वा सरीखी मालूम पडती थीं ॥ १३४ ॥

बभूव युद्धमुद्भ्राम्यदस्त्रतद्बलयोर्द्वयोः ।

मंदस्यंदविनिर्मुक्तमदस्यंदवहद्गजं ॥ १३५ ॥

विंदुच्युतकं ।

हेमयोगभृतो व्यूह्यवाजिनो भीमहेषिताः ।

प्रसस्रू रणभूपृष्ठे मध्यमूयोगमागताः ॥ १३६ ॥

गूढचतुर्थकं ।

जिसमें खूब अस्त्र शस्त्र चल रहे हैं ऐसी उन दोनों शत्रुओंकी सेनामें युद्ध होने लगा और व्यूहके हिनहिनाते हुये घोडे मध्यमें आजानेके कारण रण भूमिमें पडने लगे ॥

कृततुर्यरवाक्रोशा पृतनाक्षोदपीडिता ।
पांशुच्छद्मोत्पपातेव स्वस्थानाद्वियदुर्वरा ॥ १३७ ॥

उस समय सेनामें रण भेरी बज रही थी और आघात से धूलि आकाशमें उड रही थी इसलिये मानो सेनासे पीडी जानेके कारण शब्द करती हुई पृथ्वी अपनी जगहको छोड आकाशमें उड रही है ऐसा मालूम पडता था ॥१३७

सद्यो वाद्यरवो व्योम्नि जजृंभे धीरमुच्चरन् ।
सद्योवाद इवास्थास्नु संगरोद्वेगकारणम् ॥ १३८ ॥

अक्षरच्युतकम् ।

उस समय आकाशमें जो धीर गंभीर बाजोंका शब्द होने लगा उससे अस्थायी युद्ध होनेके कारण उद्विग्न आकाश चिल्लाही रहा है मानो ऐसा मालूम होने लगा ॥१३८॥

अरीणामुत्तमांगानि निशितानततोमरैः ।
चिच्छेद निश्चयात्कश्चित् व्योमस्थैर्विनतोमरैः ॥ १३९ ॥
तरवारिभृतः सद्यो वीराः कातरवारिणः ।
का निःकंपेति रे वाचो भटैस्संपेतिरे परैः ॥ १४० ॥
अंतःशून्या वहन्नागपाशसंनहनाहवाः ।
अनवद्धा घनध्वानैर्वाणैः केचित् प्रजह्रिरे ॥ १४१ ॥
अन्तःशून्या बृहन्नागपाशसंनहनाहवाः ।
अनवद्धा घनध्वानैः कोणैः केचित्प्रजह्रिरे ॥ १४२ ॥

अक्षरव्यत्ययः ।

अस्त्रैरिषुधियो गाढाकृष्टैरप्यन्यकैर्हताः ।
स वैरिषु वियोगादकृष्टो दत्वाऽभ्यगुर्भृतेः ॥ १४३ ॥

उस रण भूमिमें देवताओंसे नमस्कृत कोई कोई योद्धा तो अपने नोकीले पैने बाणोंसे शत्रुओंके शिर छेदने लगे, कोई तरवारधारी भटोंसे 'अरे कैसी दया!' आदि शब्द पुकार २ कहने लगे, कोई निर्दयी नागपाश धारण किये हुये घनध्वनि वाले वाणोंसे, कोई लाठियोंसे और कोई तूणीरसे बलपूर्वक खीचे गये अन्य अस्त्रोंसे शत्रुओंको घायल करने लगे ॥ १३९–१४३ ॥

वितेनुर्वसुधाचक्रं वरवारणवाजिनः ।
आहवे निहतास्साकं वृत्तया रथकटचया ॥ १४४ ॥
अपवर्गः ।

उस समय सैकडों घोडे हाथी आदि मारे गये थे हजारों रथ तोडे गये थे इसलिये उन सबसे रणभूमि व्याप्त हो गई थी ॥ १४४ ॥

निस्त्रिंशच्छिन्नमूलग्नशिरसो विषयं दृशोः ।
अरिमभ्यगुरुच्छस्त्राः कबंधाः शौर्यशालिनाम् ॥ १४५ ॥

किन्हीं किन्हीं भटोंके तीक्ष्ण खड्गसे शिर काट लिये गये थे तोभी उनके शस्त्रोंको उठाये हुए कबंध (रुंड) सामने स्थित शत्रुओंकी तरफ जारहे थे ॥ १४५ ॥

असहिष्णुतया युद्धे चिलातावर्तभूभृतः ।

पूर्वमाराद्वदश्यानामहींद्रानचुलस्मरुः ॥ १४६ ॥

अकचवर्गः।

अमी मेघमुखा व्योमव्याप्तवारिमहारवम्।
ववर्षुर्विपुलोच्छ्राया गिरिडंबरगापेकम् ॥ १४७ ॥

इसप्रकार युद्धमें जब उन चिलात और आवर्त दोनो म्लेच्छ राजाओंने पार न पडती देखी तो अपने पूर्व आराधित देवोंका उनने स्मरण किया और वे देव आकाशको व्याप्तकर वडी भारी गर्जनाके साथ जलवृष्टि करने लगे ॥

विकीर्णचर्मरत्नस्थं कटकं चक्रवर्तिनः।
छत्रं जुगोप तद्वृष्टेः प्लवमानं महाजले ॥ १४८ ॥

उस वर्षाके महाजलमें डूवती हुई चक्रवर्तीकी सेना विस्तीर्ण चर्मरत्नपर वैठाई गई और ऊपर तने हुए छत्रने उसकी रक्षा की ॥ १४९ ॥

वज्रसूचीमुखोद्भिन्नछत्रधारगतांवुना।
तत्सर्वं नृपतेर्वैचमकुर्वन् तत्समीपगाः ॥ १४८ ॥
किं केनेत्यसहे तीक्ष्णं कथयत्यथ राजनि।
क्षितिप्रस्तं जलं यज्ञे नवास्ते तदरातयः ॥ १५० ॥

निरोष्ठ्यः।

वज्रकी सूईसे छिन्न छत्रकी धारसे जब जल आने लगा तो समीपवर्ती लोगोंने चक्रीसे यह वृत्तांत कहा जिसे सुनकर उसे वडा भारी क्रोध उत्पन्न हूआ और क्या है? किसने

किया आदि तीक्ष्ण गुस्साके वचन जब चक्रवर्तीने कहे तो शत्रु लोग डरकर नम्र हो वश गये ॥ १४९—१५० ॥

सारवस्तुप्रदानेन म्लेच्छैर्विनतमौलिभिः ।
सारवस्तुप्रभातूर्यै रक्तोदा देवता ययौ ॥ १५१ ॥

साभिषिच्य तमुर्वीशं रिपुसंभद्रमासनम् ।
दीप्ररत्नमयं तस्मै प्रददौ भद्रमासनम् ॥ १५२ ॥

इस प्रकार म्लेच्छ जब वश हो गये तो उन्होंने वढिया वढिया वस्तुएं भेटमें दीं । इसके वाद रक्तोदावासिनी देवीने उस चक्रवर्तीका अभिषेक कर रत्नमयी मनोहर आसन दिया ॥ १५१-१५२ ॥

निषधं प्राप्य गोशीर्षचंदनाद्यैस्तदीशिना ।
अनुजग्राह स पश्चात्पूजितो दिव्यभेषजैः ॥ १५३ ॥

इसके वाद वह चक्री निषधाचल पर पहुंचा और वहां के निवासी देवने भी दिव्य औषधियोंसे अभिषेक कर हरि चन्दन आदि भेटमें दिये ॥ १५३ ॥

रक्ता देवी नृसिंहाय तस्मै सिंहांकमासनम् ।
भयाददायि याताय कृत्वा प्रागभिषेचनम् ॥ १५४ ॥

रक्ता देवीने उसका अभिषेक किया और उसके भय से सुन्दर एक सिंहासन भेटमें दिया ॥ १५४ ॥

सदैवमानवानीकैराययौ वृषभाऽचलम् ।

सदेवमानवानीयोऽनुतस्थावन्यजन्मनि ॥ १५५ ॥
तत्रालिख्य समुद्रामशववीर्यश्रुतादिकम् ।
सकांडकप्रपाताख्यगुहापार्श्वमुपाययौ ॥ १५६ ॥

इस प्रकार म्लेच्छ खंडकी विजय कर वह चक्रवर्ती देव और मनुष्योंकी सेनाके साथ वृषभाचल पर आया । वहां आकर उसने अपने गोत्र वीर्य आदिका नाम लिखा और फिर कांडकप्रपात नामकी गुहाके समीप जा पहुंचा ॥

अदायि तस्मै स्त्रीरत्नं नयते गगनेचरैः ।
अतोऽदायि नतोदारैरयत्नंदायिने नरैः ॥ १५७ ॥

पृतनापतिना पार्श्वे मंडलाधिपमंडलीम् ।
निर्जित्योद्घाटितद्वारां स गुहामत्यगात्प्रभुः ॥ १५८ ॥

विद्याधरोंका विजय कर उसने स्त्री रत्नकी प्राप्ति की और इस प्रकार सेनापतिके द्वारा समस्त नृपमंडलीको जीतकर खोली गई गुहा उसने पार की ॥ १५७-१५८ ॥

ताम्रमालस्तमासाद्य भृंगारच्छत्रचामरैः ।
अपूजयत्समेतोऽन्यैरादरात्तत्र चामरैः ॥ १५९ ॥

चक्रवर्तीको आया जान ताम्रमाल देव अनेक देवोंके साथ आया और झारी छत्र एवं चमर प्रदान कर उसकी पूजाकी ॥ १५९ ॥

ऊर्जस्वलां म्लेच्छकुलस्य लक्ष्मीं निर्जित्य विश्वां पृतनेश्वरेण ।

पतिर्भुवामश्वपुरं प्रतस्थे समुन्नत: किंनरगीतकीर्तिः ॥ १६० ॥

इसप्रकार समस्त म्लेछ खंडकी उन्नतिशालिनी लक्ष्मीको अपने वश कर सेनापतिके साथ २ वह किन्नरोंसे गाई गई कीर्तिवाला चक्रवर्ती अपनी जन्मभूमि अश्वपुर की तरफ लौटने लगा ॥ १६० ॥

वियदविरलयानव्यंतरैर्व्योमगाहै-
श्चलति सकललक्ष्मीधाम्नि निर्भक्तिसीम्नि ।
नरतुरगरथैभैरुच्चलत्तूर्यघोषै-
रखिलमवनिचक्रं व्यानशे मानवेशे ॥ १६१ ॥

समस्त सांसारिक लक्ष्मीका निवासस्थान वह चक्रवर्ती जिस समय अपने नगरकी तरफ लौटने लगा तो उस समय व्यंतरोंकी सेना तो आकाशको व्याप्त कर चलने लगी और पृथ्वीचक्र बजते हुये बाजोंके साथ २ मनुष्य घोडे हाथी और रथोंसे व्याप्त होगया ॥ १६१ ॥

तेजस्वानुदयी दयार्णवनिधिर्गीर्वाणसेव्यक्रमः
क्रीडानिर्जितषड्विभागवसुधाचक्रस्स चक्रेश्वरः ।
प्राप्य प्रौढमहोत्सवं हयपुरं पौरैः समभ्यर्चितो
दीर्घं बंधुसुहृत्समूहसदृशीं पुण्यादभुक्त श्रियम् ॥ १६२ ॥

दयाका समुद्र, देवों द्वारा सेवनीक, क्रीडामात्रसे भरतक्षेत्रके छहखंडोंका जीतनेवाला, वह तेजस्वी भाग्य

शाली चक्रवर्ती जिस समय अश्वपुरमें आया तो नगर वासियोंने बडाभारी उत्सव कर स्वागत किया और उसके बाद वह अपने पुण्योदयसे बंधुमित्रोंके समूहमें समान लक्ष्मी का भोग करने लगा ॥ १६२ ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते
महाकाव्ये वज्रनाभचक्रवर्तिदिग्विजयव्यावर्णनं नाम
सप्तमः सर्गः ।

इस प्रकार श्रीवादिराजसूरिविरचित श्रीपार्श्वनाथ जिने-
श्वरके चरितको वर्णन करनेवाले महाकाव्यमें वज्र
नाम चक्रवर्तीके दिग्विजयको वर्णन करनेवाला
सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवां सर्ग।

विकस्वरांभोरुहसन्निभाननं घनस्तनोर्चमितहेमयाष्टिकम् ।
मनो मुदं तस्य ततान संततं नतभ्रुवां षण्णवतेः सहस्रकम् ॥

विकसित कमलके सदृश मुखवाली, घनस्तनोंसे युक्त और सुवर्णकीसी आभासे सुशोभित छ्यानवे हजार रानियां उस चक्रवर्तीको आनन्दित करने लगीं ॥ १ ॥

चतुःपराशीतिकलक्षसंख्यया महागजेंद्राश्च मिता मदोद्धवाः ।
व्यभासंयस्तद्भवनांगणाक्षितिं समुद्भ्रमद्भृंगमदांबुपिंछलाम् ॥

उस चक्रवर्तीके चौरासी लाख मदोद्धत हाथी थे और वे ऊपर घूमते हुये भ्रमरोंसे युक्त अपने मद जलकी धारासे व्याप्त भवनांगणकी पृथ्वीको सदा सुशोभित किये रहते थे ॥ २ ॥

जात्यश्वकोटयश्च सखेलयाना दशाष्ट चोत्कृष्टजवाः प्रतीताः ।
अशेषदिक्षारगताः प्रतेनुः प्रसह्य तद्वैरिमनःप्रकंपम् ॥ ३ ॥

तीक्ष्णवेगके धारक अठारह करोड घोडे और उतने ही सवार उस चक्रवर्तीके थे जिससे कि वैरियोंका मन सदा कंपित होता रहता था ॥ ३ ॥

प्रयानमन्मौलिभरेण नित्यं निष्पीडितावुद्भिकवाब्जलीलौ ।
बभूवतुस्तच्चरणौ प्रणांकौ द्वात्रिंशता राजसहस्रकेण ॥ ४ ॥

उस वज्रनाभके खिले हुये कमलके समान दोनों चरण

भयसे नम्र मस्तकवाले बत्तीस हजार राजाओंसे पीडित होते थे ॥ ४ ॥

प्रभाविरत्नास्थितिरत्नसंचयं सुवर्णधान्यादि च तस्य धीमतः ।
विभज्य पूज्यस्य मतं महीभृतां नवापि नित्यं निधयो वितेनिरे ॥५॥

उस चक्रवर्तीके नवनिधियां थीं और वे उसके इच्छानुसार सुवर्ण धान्यादि तथा प्रभावशाली रत्नोंके समूहको अपने २ नियोगानुसार दिया करती थीं ॥ ५ ॥

चतुर्दशानुत्तमरत्नराजितां स बिभ्रदुद्दामगुणाश्रयां श्रियम् ।
वसंतलक्ष्मीगुणसंदिदृक्षया जगाम पौरैर्वनपालचोदितः ॥ ६ ॥

सर्व श्रेष्ठ चौदह रत्नोंसे सुशोभित उत्कृष्ट गुणशालिनी लक्ष्मीका स्वामी वह चक्रवर्ती एक दिन नगरनिवासियोंके साथ वनमालीसे प्रार्थित हो वसंतऋतुकी शोभा देखनेके लिये गया ॥ ६ ॥

वनप्रवेशे मधुसंभृतश्रीर्महीभुजो दृष्टिपथाग्रवर्ती ।
चूतोऽहरच्चित्तमुदात्तगीतभृंगावलीमंजुलमंजरीकः ॥ ७ ॥

वनमें प्रवेश करने पर चक्रवर्तीकी दृष्टि वसंतऋतुके आगमनसे विशेष शोभायुक्त हुये आमके पेडोंकी तरफ गई और सुगंधिके लोभी भ्रमरों की गुनगुनाहटसे युक्त उनकी मंजरियोंसे उसका मन मुग्ध हो गया ॥ ७ ॥

प्रवालमागेद्गदनादिविभ्राद्रियमानांकुरचारुशालम् ।

अवाप्य विश्वं सहकारिणं त्वां जयेत्सहेलं सहकार ! मारः ॥८॥

प्रवाल (कोंपल) के बोझको धारण करनेसे खिन्न, और नवीन उगे हुये अंकुरोंसे सुशोभित डालियोंवाले तुम सरीखे सहायकको प्राप्त कर हे आम्र ! निश्चयसे कामदेव समस्त संसारको क्षणमात्रमें जीत लेगा ॥ ८ ॥

विकासलीलासुरभं मनोभवो भवंतमभ्यस्यति संश्रितो धनुः ।
वसंतमाकंद ! कथं तदन्यथा शिलीमुखोत्पातनिपात्यानित्यता ॥९॥

हे वसंतके हर्षोत्पादक आम्र ! सुलभ रीतिसे विकसित (फूल जाने या खिच जाने) हो जाने वाले आपरूप धनुष को पाकर यह कामदेव धनुष चलाना सीखता हुआ मालूम पडता है, नहीं भला ! वार २ शिलीमुखों (बाण या भ्रमरों) का गिरना कैसा ? ॥ ९ ॥

तदस्त्रसूचीसदृशैर्दिशां मुखे ससन्मुखैराम्र ! सुकर्मपत्रकैः ।
भवानतस्तानपि कान्न लंघयेन्नवांकुरैः किंकरकान्मनोभवः ॥१०॥

हे आम्र ! अस्त्रसूचीके सदृश दिशाओंके मुखकी तरफ उन्मुख हुये तुम्हारे जो सुकर्मरूप पत्र (बाण) के समान पत्र (पत्ते) और नवीन अंकुर हैं उनसे कामदेव किन दोनों को न जीत लेगा ॥ १० ॥

भवानपि त्वं सहकारजातिः सर्वौवनानामसि कल्पवृक्षः ।
तनोषि तेषां यदशक्यलोभ्यं तनूदरीणामभिमानभंगम् ॥ ११ ॥

तुम आम्र जातिके वृक्ष होकर भी युवा पुरुषोंकेलिये कल्पवृक्ष हो क्योंकि तुम्हारे प्रतापसे अलभ्य कृशोदरियों का अभिमान भंग हो जाता है ॥ ११ ॥

ध्रुवं त्वमुद्दीपयासि स्मराग्निमालोलशाखां मलयानिलेन ।
प्रवासिनां चेतसि चूत ! सत्यं प्रजंति मूर्च्छामतियौवनस्थाः १२

मलय पर्वतकी पवनसे चंचल ज्वालावाली कामाग्निको निश्चयसे ही तुम प्रवासी लोगोंके हृदयमें उद्दीपित करते हो, जिससे कि वे यौवनके भारसे दबे हुये मूर्छित हो जाते हैं ॥

अयं मनोभूः सहकारमंजरीरुदस्त्रयत्येव लघु प्रवासिनः ।
प्रियाः प्रियेतेति समादिशन्निव तदाश्रयी कूजति मत्तकोकिलः १३

यह कामदेव आम्र मंजरियोंको निश्चयसे अपना अस्त्र बनाता है और ' हे प्रवासी प्रियतमो ! आओ आओ ' इसप्रकारकी घोषणा करते हुएके समान उसपर कूजती हुई कोकिलें मालूम पडती हैं ॥ १३ ॥

रजःक्षरंतीः सहकार ! सांप्रतं समुद्वहः पल्लवरक्तमंजरीः ।
मुखासवामोदलसन्मधुव्रता विचेतसे तुभ्यमपि प्रभुः स्मरः ॥१४॥

जिस प्रकार कामी पुरुष मद्पान की हुई रजस्वला भी स्त्रीका संग करने लगता है उसीप्रकार हे सहकार ! तुम भी रज (पराग) को छोडनेवाली बौर (आमके फूल) की सुगंधसे आये हुए भ्रमरोंसे वेष्टित लाल २ पल्लवोंकी मंजरियोंको

धारण करते हो इसलिये मालूम पडता है कि कामदेव तुम सरीखे अमनस्कों पर भी अपना प्रभाव डाल देता है ॥ १४ ॥

इति स्म चूतं मनसेव जल्पन्ननल्पसौभाग्यगुणं गुणज्ञः ।
प्रियासहायः सहितो वयस्यैर्वनेऽवनीशो विजहार हृद्ये ॥ १५ ॥

इसप्रकार महासौभाग्यशाली आम्रवृक्षोंकी मनही मनमें तर्कणा करनेवाला वह गुणज्ञ राजा अपनी सहधर्मिणी एवं मित्रों सहित उस वनमें शैर करने लगा ॥ १५ ॥

नतभ्रुवामाननगंधगृध्या मधुव्रतैस्तत्क्षणमुक्तपुष्पाः ।
अवाप्य लज्जामिव कंपमाना नता बभुवुर्वनभूमिवल्ल्यः ॥१६॥

उस समय वनकी लतायें जो पुष्पोंके भारसे नम्र हो गई थीं वे ऐसी मालूम पडती थीं मानो वनमें विहार करनेके लिये आई हुई स्त्रियोंके मुखकी सुगन्धिसे लता पुष्पों को छोडकर आये हुये भ्रमरोंको देखकर वे लज्जित होकर ही नम्र हो गई हैं ॥ १६ ॥

कृतानुयोगा व्रततीषु योषितः प्रियैः स्वसंवीक्षणलोलुपेक्षणाः ।
स्वभावमुग्धाः स्मितमेदुराननैरमूरदृश्यंत मुहुर्द्रुमांतरैः ॥ १७ ॥

उस समय स्त्रियां लताओंमें दत्तचित्त थीं और बार २ अपने २ पतियोंकी तरफ भी देखती जाती थीं इसलिये स्वभावसे मुग्ध उन पत्नियों को पेडोंमें छिपे हुये पति मुस्करा २ कर देखते थे ॥ १७ ॥

व्यधत्त काचित् तरुपल्लवानां न संग्रहं नापि ततो व्यरंसीत् ।
प्रसारिताताम्रकरैव तस्थौ तच्छेदमज्ञानवबुध्य मुग्धा ॥ १८ ॥

कोई स्त्री उस समय न तो पेडके पत्ते तोड सकी और न उस तोडनेसे विरक्त ही हुई क्योंकि वह यथार्थमें तोडना न जानती थी इसलिये अपने सुकोमल लाल हाथोंको पसारे ही खडी रही ॥ १८ ॥

कुचौ कयाचिद्विनिवेशयंत्या तदग्रयोश्चूतनवप्रवालान् ।
न्यधायिषातामिव मन्मथस्य सचित्तधामाग्रिमहेमकुंभौ ॥ १९ ॥

उस समय किसी स्त्रीने अपने स्तनोंके अग्रभाग पर नवीन आम्र पल्लव लगा लिये थे इस लिये उसके वे स्तन कामदेव के चित्तरूपी घरके अग्रभाग पर सुवर्ण कलश सरीखे जान पडते थे ॥ १९ ॥

तनूकृतैः केसरिदीर्घपल्लवैः भुजौ निजौ कश्चन योजयन्युवा ।
प्रियां सपत्नीनखवर्मशंकया समत्सरां स्मेरमुखो निरैक्षत ॥२०॥

सूक्ष्म किये गये केसरके लम्बे २ पत्तोंसे किसी युवाने उससमय अपनी बाहुएं युक्त कर ली थीं इसलिये सौतके नखक्षतकी आशंकासे जब उसकी स्त्री क्रुद्ध हो गई तो उसने मुस्करा कर उसकी तरफ देखा ॥ २० ॥

जगाल कस्याश्चन हस्तसंग्रहादशोकजन्मा नवपाटलच्छदः ।
नतभ्रुवस्तत्करपाटलद्युतेरिवातिरेकं बहुलं पदे पदे ॥ २१ ॥

किसी ललनाके हस्त स्पर्शसे अशोकवृक्षका नवीन लाल कोंपल टूट पडा सो वह उसके हाथोंकी लालिमाका आधिक्य ही मानो टपक पडा है ऐसा मालूम होने लगा ॥ २१ ॥

अप्राप्नुवन्कोपकृतः प्रियायाः दंतच्छदं कश्चन चाटुशौंडः ।
तवाधरोऽयं न किमित्यमीक्षया चामूच्छदं ताम्ररुचिं ददंश ॥२२॥

कारण वश क्रुद्ध हुई अपनी प्यारीका जब किसी चाटुकार कुशल युवाने अधरपान न पाया तो लाल कांतिवाले आम्र पल्लव को ही उसने 'देख यह क्या तेरा अधर नही है ?' कह कर दस लिया ॥ २२ ॥

काश्चित्पलाशैः सहकारयष्टेरुवाच मुग्धां स्त्रियमंगलग्नैः ।
गात्रं दलंतीं स्मरबाणभेदाद् दीक्षस्व मे मांसलमांसपेशिम् ॥२३॥

प्रियामवस्थाप्य पुरः पराङ्मुखीं तदंगकामांघ्रिनिवेशलीलया ।
अधस्तरोस्तत्कुसुमैः सुगंधिभिः बबंध तस्याः कवरीं युवापरः २४

उस समय कोई युवा तो आम्रके वृक्षके साथ लगे हुये पलाश पत्रोंसे अपने शरीरका दलन करनेवाली अपनी मुग्ध प्रियतमासे कहने लगा कि कामदेवके बाणोंके निशानसे मेरी इस मांसल मांसकी बोटीको बचाओ और कोई अपनी प्यारी को अपने सामने बिठाकर पेडके नीचे सुगंधित २ पुष्पोंसे उसकी चोटी गूंथने लगा ॥ २३–२४ ॥

निगूह्य केशेष्वथ चापपाणिना सखीं प्रियस्कंधगतांघ्रिपल्लवा ।

स्वयं सपत्नीजनसंनिधौ वधूर्लुलाव शाखाग्रिमभूतमंजरीः ॥२५॥
मनोज्ञताऽस्मादपि तस्य तस्मात् तस्येति प्रादिश्य विकाशिवृक्षान्
स्वेच्छारतो कश्चन निश्चितात्मा निनाय जायां विजनप्रदेशं ॥२६॥

उस समय कोई वधू अपनी सौतके सामने ही अपने प्रियतमके कंधेपर चढकर डालियोंके अग्रभागसे मंजरियोंको तोडने लगी और कोई युवा पुरुष 'इस पेडसे वह अधिक सुंदर है उससे वह अधिक सुंदर है' आदि बहानोंसे अपनी प्यारीको एकांतमें ले जा पहुंचा ॥ २५-२६ ॥

बहुप्रसूनाभरणाभिरामा तरुप्रवालस्तरणे निषण्णा।
उपांत्यवर्तिन्यचकाच्च काचित् प्रिये वसंते वनदेवतेव ॥ २७ ॥

नाना प्रकारके पुष्पोंसे बने हुये आभरणोंसे भूषित कोई स्त्री पेडोंके पत्तोंपर बैठी हुई वसंत रूपी प्रियतमके पास आई वन देवता सरीखी सुशोभित होने लगी ॥ २७ ॥

विसृष्टवन्यप्रसवोदरास्थितेर्मधुव्रतानां निवहादभिद्रुवात्।
मनोरमामोदमुखारविंदया कयाचिदभ्राम्यत सत्वरं प्रिया ॥ २८ ॥

किसी स्त्रीके मुख कमलसे अत्यंत गहरी सुगंध छूट रही थी इसलिए पुष्पोंको छोडकर भ्रमर उसपर पडने लगे और वह उनके भयसे इधर उधर जल्दी २ भागने लगी ॥ २८ ॥

मनोज्ञमाल्यं दयितेन यच्छत् प्रिया सपत्नीगुणनामचोदिता।
ह्रिया कृताऽसूयमभूदवाङ्मुखी तमुद्वहंतीव हृदि व्यवस्थितम् २९

अपने प्रियतम द्वारा मनोहर पुष्पमालाको देते हुए जब सपत्नीके गुण और नामकी बात सुनी तो कोई स्त्री लज्जा और ईर्ष्या से भर गई एवं हृदयस्थ उसको उद्वहन करती हुईके समान अधोमुखी होगई ॥ २९ ॥

प्रसूनवल्लीमवलंब्य कश्चित् कांतासखीनां निकटं जगाम ।
उद्धृत्य शाखामभिधातुकामश्चित्तस्थतत्कार्यमिव प्रियायाः ॥३०॥

किसी युवाने उस समय पुष्पमंजरी तोडली और वह अपनी प्रियतमाके चित्तस्थ उस कार्यके कहने की इच्छासे ही मानो उसकी सखियोंके पास पहुंचा ॥ ३० ॥

लतालतांतादवचीयमानादास्यांबुजं स्मेरमितान् द्विरेफान् ।
निरास नारी स्वरमात्रबुद्धा दंतप्रभापांडिमगर्भगूढान् ॥ ३१ ॥

इकट्ठे किये लता पुष्पोंसे उड उडकर भ्रमर किसी २ स्त्रीके प्रफुल्लित मुख कमल पर पडने लगे और वे जब दांतों की प्रभामें छिप जानेके कारण स्वरसे पहिचाने गये तब कहीं उसने उडाये ॥ ३१ ॥

नितंबदेशश्लथसूक्ष्मवाससं भुजा उदस्योद्गमसारहारिणीम् ।
आलोकयन् कश्चन कामिनीं युवा रसान्निवृत्तप्रसवग्रहोद्यमः ३२

भुजाओंको ऊपर उठाकर पुष्पोंको तोडनेवाली किसी स्त्रीके नितंबदेशसे सूक्ष्म वस्त्र स्खलित हो गया तो कोई कामी पुरुष उसे देखकर रसमें भर जानेके कारण फूल तोडनेसे ही बंद हो गया ॥३२॥

प्रपादयंतं जवतस्तदासनं भयेन हिंदोलगता नितंबिनी ।
रतिक्रियाधिक्यपणप्रतिज्ञया निवारयामास कृतांजलिः प्रियम् ३३

उस समय जोर जोरसे झोटा देते हुए अपने पतिको भयसे झूलेपर बैठी हुई किसी स्त्रीने अधिक रति क्रियाकी प्रतिज्ञाकर रोका ॥ ३३ ॥

पुष्पल्लतागर्भगृहप्रविष्टाः स्त्रीपुंसरत्युत्सवकंठशब्दाः ।
अवापुरुच्चैर्न वहिः प्रचारं परिभ्रमद्भृंगरवाभिरुद्धाः ॥ ३४ ॥

फूलोंवाली लताओंके घरमें प्रविष्ट स्त्री पुरुषोंके रति समय होनेवाले शब्द, भ्रमते हुए भ्रमरोंकी झंकारसे बाहिर सुनाई न पडने लगे ॥ ३४ ॥

वधूरधासीन्मधु कौसुमं तां त्रपा जहौ तत्क्षणमेव दक्षः ।
चुचुंब तस्याः परितोष्ठबिंबं सख्यः परावृत्तमुखीबभूवुः ॥ ३५ ॥

किसी स्त्रीने उससमय पुष्प मधु पीलिया इसलिये उसकी लज्जा चली गई और पतिने उसका ओष्ठ बिंब पीलिया यह देख सखियोंने मुंह फेरलिया ॥ ३५ ॥

अगायि चक्रेश्वरकीर्तिरुत्तमा वधूवरैश्चंदनवीथिषु स्थितैः ।
निरीत्य नागैर्द्रुमकोटरोन्मुखैः मदित्सयेवोन्मणिभिश्च शुश्रुवे॥३६॥

चंदन वीथियोंमें स्थित वधूवर उस समय चक्रवर्तीकी उत्तम कीर्तिका गान करने लगे और मणियोंसे सुशोभित पेडोंकी खोलार (कोटर) के सांप उन्मुख हो सुनने लगे॥

क यासि मत्प्राणसमाविलोचनश्रियं स्वमुन्मुष्य मृगीति कश्चन ।
प्रयुज्य पाणिं हरिणीमनुव्रजन् मनागरुद्ध प्रियया विकोपया ३७

मेरी प्राणप्यारीके नयनोंकी लक्ष्मीको चुराकर हे मृगी ! तू कहां भगी जा रही है ऐसा कहता हुआ कोई युवा पुरुष हरिनीके पीछे दोडना ही चाहता था कि कुपित हुई पत्नीने उसे रोक लिया ॥ ३७ ॥

तलं मदंघे: कठिनाश्मघृष्टया प्रतुद्यते तत्प्रविलोकयेति ।
निनाय काचिन्नयनोपकंठं पत्युस्सपत्नीजनसंनिधाने ॥ ३८ ॥

सौत पास रहनेसे उस समय किसी स्त्रीने यह कह कर कि 'मेरे पैर कडी कंकरियोंसे कैसे छिल गये हैं, ये जरा देखो तो सही' अपने पतिके सामने कर दिये और वह आंखे पासमें ला कर उन्हें देखने लगा ॥ ३८ ॥

मितप्रहारेण नवप्रसूनैः केलीविलासप्रविवर्धितेन ।
भंजन्मनः किंचन दंपतीनां यथार्थनामाऽजनि पुष्पबाणः ॥ ३९ ॥

केलिविलासके समय होनेवाले पुष्पप्रहारसे दंपतियोंके मनको कामदेव पीडा देने लगा इसलिये वह उस समय यथार्थमें पुष्पबाण दीखपडने लगा ॥ ३९ ॥

रहःपरामृष्टतदंघ्रिपल्लवं प्रमोदयंतं कुपितामिव प्रियाम् ।
लता जहासेव नवप्रसूनकैर्युवानमंतर्गतभृंगनिःस्वनैः ॥ ४० ॥

कुपित हुई प्रियाको प्रसन्न करनेके लिये ही मानो एकांतमें उसके पादरूपी पल्लवोंको छूने वाले युवाओंको प-

नकी लतायें, भीतरमें बैठे हुये भ्रमरोंके शब्दोंसे युक्त पुष्पों-से हंसती सरीखी जान पडने लगीं ॥ ४० ॥

ध्रुवं तदा चक्रधरस्य तद्वने विनोदलीलाप्रविलोकनेच्छया ।
अनीरदस्यामनुचेर्विविश्वता नभस्तमालस्य शिरोऽवरुह्यता ॥४१॥

उस समय चक्रवर्ती वज्रनाभकी विनोद क्रीडाको देखनेकी इच्छासे ही सूरज मेघ रहित आकाशके शिरपर चढ गया था । भावार्थ-मध्याह्न होगया ॥ ४१ ॥

बहिर्गताः प्रागवनीरुहाणां छाया रवेस्तापमिवासहन्त्यः ।
प्रविश्य शाखामयमंडपानां तलेष्वदोषेतरशीतलेषु ॥ ४२ ॥

उस समय सूरजके तापको सहन करनेमें असमर्थ हुई के समान वृक्षोंकी छाया रात्रिके तुल्य शीतल शाखामंडपोंके भीतर जा रहने लगी ॥ ४२ ॥

कुचेषु कांताराविहारखिन्ना नतभ्रुवामाननचंद्रबिंबात् ।
लावण्यसिंधोरिव पूर्तिशेषैर्घर्मोदबिंदुप्रसरैर्निपेते ॥ ४३ ॥

वनक्रीडा करनेसे खिन्न हुई कामिनियोंके मुखरूपी चंद्रबिंबसे पसीनेकी बूंदें टपक टपक कर कुचोंपर पडने लगीं और वे लावण्यरूपी समुद्रके लवालव भर जानेसे चूते हुए लावण्य रस सरीखी जान पडने लगीं ॥ ४३ ॥

नखंपचे पांशुलवर्त्मनि स्त्रियो नितंबभारादिव मंथरैर्गतैः ।
प्रियोपसंव्यानतिरोहितातपाः शनैर्बभूवुस्तरुमूलसंश्रयाः ॥ ४४ ॥

उस समय ऊपरसे तेज धूप पड रही थी और नीचे

मार्गकी धूलि गरम हो गई थी इसलिये अपने नितंब-स्थ-
लके बोझसे ही मानो धीरे २ चलनेवाली स्त्रियोंके ऊपर
उनके पतियोंने दुपट्टा तान रक्खा था और इस तरह उन्हें
पेडोंके तले ले आये थे ॥ ४४ ॥

उद्दारतोयेरुहगंधबंधुरस्तरंगसंगेन शनैश्चरन्मरुत् ।
कृतश्रमं वन्यविनोदलीलया जलाशयाय प्राजिघाय भूभुजम् ॥४५॥

इस समय खिले हुए कमलोंकी उत्कृष्ट सुगंधसे सुगं-
धित, तालाबकी तरंगोंसे मिश्रित होनेके कारण शीतल, मंद
मंद चलने वाले पवनने वनविहार करनेसे थके हुये उस
चक्रवर्तीको जलाशय (तालाव) की तरफ प्रेरित कर
दिया ॥ ४५ ॥

म्लायत्प्रवालच्छविरूढतापा प्रसर्पितन्यामसवेक्षणेषु ।
अभिव्यनक्ति स्म वियोगदुःखं ध्रुवं तदा चक्रभृतो वनश्रीः ॥४६॥

मध्याह्नकी अत्युष्ण धूपके कारण वनवृक्षोंके पल्लव
म्लान हो गये थे और पुष्प मुरझा गये थे इसलिये जिस
प्रकार अपने पतिके वियोगसे जायमान दुःखको म्लान-
कांति व नेत्राश्रुओंके द्वारा नायिका प्रगट करती है उसी
प्रकार वनलक्ष्मी चक्रवर्तीके वियोगसे उत्पन्न हुये दुःखको
प्रगट करती सरीखी जान पडने लगी ॥ ४६ ॥

स्वच्छांबुसच्चारुसरोवरस्य रोधोगतास्चक्रधरस्य कांताः ।
उत्फुल्लपद्मेषु ववंधुरात्ममुखप्रतिच्छंदमनांसि मुग्धाः ॥ ४७ ॥

स्वच्छ जलसे भरे सुंदर तालावके तट पर जिस समय चक्रवर्तीकी रानियां पहुंचीं तो वे मुग्ध होनेके कारण वहां फूले हुये कमलोंको अपने मुखका प्रतिबिंब ही समझने लगीं ॥ ४७ ॥

निरूप्य राजार्पितनित्यहृद्यतां महासरःश्रीर्वनितामुखश्रियाम् ।
अतद्गुणाः कैश्चन चारुवारिजैरधोमुखत्वं त्रपयेव संदधे ॥४८॥

उस तालावमें कोई कोई कमल नीचेको मुख कर लटक रहे थे सो वे ऐसे मालूम पडते थे मानो चक्रवर्तीकी रानियोंके मुखकी मनोहरतासे लज्जित हो तालाब लक्ष्मीने ही यह अपना मुख नीचा कर लिया है ॥ ४८ ॥

विकस्वरांभोरुहगर्भनिस्सरन्मधुव्रतश्रीर्मधुरस्वराद्गमैः ।
उपेयुषस्स्वामुपभोक्तुमिच्छया प्रियं जगादेव नृपस्य सद्मनि ४९

जिसप्रकार श्रेष्ठ पुरुषके घर पर आजानेसे सज्जन पुरुष मधुर शब्दोंसे उसका स्वागत करते हैं उसीप्रकार अपनी इच्छासे उपभोग करनेकेलिये उपस्थित हुये चक्रवर्तीको प्रफुल्लित कमलोंसे निकल कर भ्रमर अपने मीठे २ शब्दों द्वारा स्वागत करते जान पडने लगे ॥ ४९ ॥

कस्याश्चिदंभः प्रथमं प्रविश्य प्रियेण वक्त्राभिमुखं प्रयुक्तम् ।
स्वजात्ययोग्यं बत मत्सराग्नेरन्याशये त्विंधनतामियाय ॥ ५० ॥

किसी पुरुषने जलमें घुसकर एक अपनी स्त्रीके मुंह की तरफ जल फैंका तो दूसरीके हृदयमें उस जलने अपने

स्वभावसे सर्वथा विपरीत मत्सरतारूपी अग्निको जलाने वाले ईंधनका रूप धारण कर लिया ॥ ५० ॥

पद्मे किमत्रापि सुगंधतेति मुग्धांगनां कश्चन वंचयित्वा।
तद्गंधयत्नेन चुचुंब वक्त्रं निगूढकायं पयसा परस्याः ॥ ५१ ॥

उस समय किसी पुरुषने जलसे अंतर्हित शरीरवाली अपनी भोलीभाली स्त्रीके मुखका यह कह कर कि 'क्या इस कमलमें भी गंध है ?' सूंघनेके बहाने चुंबन कर लिया ॥

आदिस्तनोत्संगमनंगमुग्धया न्यधायिषातां पृथुपद्मकुड्मले।
अबुध्यतैनां सुरभिं रतोत्सवे चतुःस्तनीकामदुघामिव प्रियः ५२

उस समय किसी कामिनीने बडे बडे पद्मकुड्मल अपने स्तनों पर लगा लिये थे इसलिये उसके पतिने उसे रतोत्सवमें चार स्तनोंसे युक्त, अभीष्ट देने वाली सुरभी गाय समझा ॥ ५२ ॥

गृहीतमंभः प्रसरं पदे पदे निरूप्य तस्मिन् दशनच्छदच्छविम्।
करेण काचिद् व्रणुनोदजालिका प्रकीर्णशोणांबुजपत्रशंकया ॥ ५३ ॥

जगह जगह जलमें अपने अधरोष्ठकी परछाईं देख कर किसी स्त्रीने चारो तरफ फैले हुए लोहित कमलके पत्र समझे इस लिये वह उन्हें हाथसे संग्रह करनेकी चेष्टा करने लगी ॥ ५३ ॥

आः किं न सूक्ष्मं वरदर्शनीयं प्रियस्य दृष्टेर्जघनं निषेद्धुम्।
आगच्छदच्छं कुचदघ्नमंभः काचिन्नाहंकृतज्ञातकामा ॥ ५४ ॥

किसी स्त्रीने पतली साडी पहिन रक्खी थी इसलिये जलसे आर्द्र हो जानेके कारण उसका जब जघन भाग दीखने लगा तो पतिकी दृष्टिसे छिपानेके लिये वह छातीपर्यंत गहरे पानीमें घुस गई ॥ ५४ ॥

करांबुजे रागवती दधाना वपुश्च पुंसां नयनाभिरामम्।
लक्ष्मीरिवावर्चत लीलयैका ततस्ततः पद्मवने मृगाक्षी: ॥ ५५ ॥

लोहित कर कमलों और मनोहर शरीरको धारण करने वाली कोई मृगनयनी स्त्री लक्ष्मीके समान इधर उधर उस तालाबमें क्रीडा करती शोभित होने लगी॥ ५५ ॥

अवस्त्रमूर्वो: स्थितमंभसा द्वयं दिदृक्षति प्रेयसि तत्करेण।
विदग्धया मंडुकपाददक्षया बभूव तावत्कलुषीकृतं पय: ॥ ५६ ॥

जलमें वस्त्र रहित हुये उरु भागको जब पतिने देखना चाहा तो किसी चतुर स्त्रीने अपने सजनेका जल शीघ्र ही खुवीला कर दिया ॥ ५६ ॥

अनुव्रजद्वारि तनूलघुक्रिया ततार काचिद्विकचांबुजानना।
जना: पुनस्तामनुलोक्य मेनिरे विनोदयंतीं जलदेवतामिव ॥५७॥

प्रफुल्लित कमलके समान मुखवाली कोई स्त्री उस समय अपनी शरीरकी चपलतासे जलके साथ २ तैरनी लगी इसलिये उसे लोग क्रीडा करती हुई वनदेवता सरीखी समझने लगे ॥ ५७ ॥

करेण दीर्घेण मृणालयष्टीराकृष्य वंशोन्नतमूर्तिरेक: ।

करीव पर्यायवशादयच्छत् कामी गजास्त्रिभ्य इव प्रियाभ्यः ५८

किसी पुरुषके तीन स्त्रियां थीं और वह तीनोंको नंबर वार मृणाल यष्टि खींच खींच कर देता था इसलिये वह अपने शुंडादंडसे हथिनियोंको मृणाल देनेवाले गजके तुल्य जान पडता था ॥ ५८ ॥

नीलाश्मरश्मिप्रसरांधकारे तीरे परादृश्यमनंगवश्यैः ।
वधूषु तत्कर्म वरैर्वितेने निशीव योग्यं यदपोढशंकैः ॥ ५९ ॥

उस तालाबका तट नील मणियोंसे निर्मित होनेके कारण अंधकारसे युक्त था इसलिये कामसे पीडित बधू वरोंने वहां निःशंक हो रात्रिमें होनेवाली समस्त क्रियायें कीं ॥

अनेकराजन्यकयंत्रपीडितप्रकामदीर्घामलवारियष्टिभिः ।
चिरादभूदागतचक्रिभर्तृका विमुक्तवेणीप्रकरेव दीर्घिका ॥ ६० ॥

जिसप्रकार प्रोषितभर्तृका स्त्रीकी वेणी (केशपाश) पतिके आनेपर हाथोंसे खोली जाती है उसीप्रकार चक्रवर्तीरूपी पतिके आनेपर अनेक राजपुत्रोंके यंत्रोंसे पीडित अति दीर्घ निर्मल जलरूपी भुजाओंसे उस बावडीकी वेणी (जलप्रवाह) विभक्त की गई ॥ ६० ॥

मनोज्ञमेतन्मुखतस्तवेत्यतः कृतस्मिते भर्तरि कोपि कोपिनी ।
बभंज तत् कंजमतोऽपि षट्पदाः प्रणद्य जग्मुर्व्यधिका इवासवः ॥

उस समय मुस्करा कर किसी पुरुषने अपनी स्त्रीसे जब यह कहा कि तेरे मुखसे यह (कमल) सुंदर है तो

उसे (स्त्रीको) गुस्सा चढ आई और कमलको तोड मरोड डाला एवं गुंजारते हुये उस कमलसे भ्रमर उडने लगे सो वे उस कमलके प्राण सरीखे जान पडने लगे ॥ ६१ ॥

स्तनौ नलिन्याः परिहृत्य काचित् पत्रेण तोयोक्षितमुत्तरीयम् ।
अवीक्षमाणा प्रियमन्वरौत्सीत् त्वया गृहीतं क नु तस्करेति ६२

किसी स्त्रीका सूक्ष्म वस्त्र जलमें भींग जानेके कारण शरीरसे चिपक गया था इसलिये स्तनोंको कमलिनीके पत्रोंसे ढक कर वह उसे ढूंढने लगी और जब कहीं न देख पाया तो पतिको चोर बनाकर 'तुमने ही ले लिया है, कहां है बताओ' कह तंग करने लगी ॥ ६२ ॥

रतोत्सवे ताभिरिवाभियुक्तं नुतं पतीनां धरहासहेतिम् ।
विकल्पयन्तः खलु चक्रवाकास्त्रपावनम्रा विदधुः पुरंध्रीः ॥६३॥

रतिके समय अपनेसे अभियुक्तके समान स्तुत, पतियोंके रूईके समान श्वेत हास्यकी विडम्बना करनेवाले चक्रवाकोंने किन्हीं स्त्रियोंको लज्जासे अवनत कर दिया ॥६४॥

प्रियस्य कंठं परिरभ्य पीडितं भयादिवागाधजलऽ्यवस्थितेः ।
चकार काचिद्रत बालिका रवं शकुन्तकोलाहलगर्भदुःश्रवम् ॥६४॥

कोई स्त्री उससमय अगाध जलमें चली जानेके कारण भयसे अपने पतिके गलेमें लिपट गई और पक्षियोंके कोलाहलसे मिश्रित होनेके कारण दुःखसे सुने जानेयोग्य शब्द करने लगी ॥ ६४ ॥

नतभ्रुवोऽन्या नखवर्मगोचरं युवानुयोगं न्यपादितेत्यनुत्तरम्।
सरस्तरन्मद्भुजयोर्युजिक्रियामदुद्रुवन्विद्रुमवल्लितं तव (?) ६५

निरीक्ष्य कांतानुनयानुबंधं तरंगशय्यासु रथांगनाम्नः।
कवोष्णनिश्वासमताम्यदन्तर्घनस्तनी काचिदवश्यकांता ॥ ६६ ॥

तरंग रूपी सेज पर अपनी प्रियाके अनुनयको करने वाले चक्रवाक को देखकर कोई निविडस्तनी स्त्री अपने अधीन पति न होनेके कारण मन ही मन खिन्न हो गरम गरम श्वांस छोडने लगी ॥ ६६ ॥

लीलाजनस्नानकुतूहलस्त्रीकुचद्रुवत्कुंकुमपंकिलांभाः।
चक्रेशसंयोगकृतानुरागमाविश्चकारेव सरोवरश्रीः ॥ ६७ ॥

उस समय जल क्रीडा करती हुई स्त्रियोंके कुचोंसे जो कुंकुम छूट गई और उससे तालावका जल रंगीला होगया सो उससे चक्रवर्तीका संगम होजानेके कारण तालावकी लक्ष्मीने अपना अनुराग प्रगट किया है ऐसा मालूम पडने लगा ॥ ६७ ॥

कुतूहली चक्रधरस्य योषितां जलाशयोऽसौ जलकेलिवैभवम्।
विनिद्रनीरेरुहनेत्रपंक्तिभिर्निसर्गसौंदर्यभृतामिवैक्षत ॥ ६८ ॥

स्वाभाविक सौंदर्यको धारण करनेवाली चक्रवर्तीकी रानियोंने जो उस समय अपना जलक्रीडा करनेका कौशल दिखलाया उसे खिले हुये अपने कमल रूपी नेत्रोंसे सरोवर देखने लगा ॥ ६८ ॥

विसृष्टपत्रांबुजकुड्मलस्तनां समुल्लसत्सारसकंठनिस्वनाम् ।
निसर्गरम्यामभिरम्य निर्जहौ नृपः स दीर्घं नवदीर्घिकांगनाम् ६९

उस समय स्वभावसे ही मनोहर पत्र कमल और कुड्मल (कलिका) रूपी स्तनोंसे विशिष्ट, सारसोंकी मनोहर कंठध्वनिवाली वापीरूपी नायिकाको चक्रवर्तीने बहुत देर तक रमण करानेके बाद छोडा ॥ ६९ ॥

उत्कंठकांग्यः कुचपद्मकोशा व्यालोलनेत्रालिगणास्तरुण्यः ।
समन्वगच्छन् चलितं तटाकात् सप्रेमनिघ्ना इव तन्नलिन्यः ७०

तालाबसे चक्रवर्तीके चलने पर साथमें पद्मकोशके समान सुंदर स्तनोंसे युक्त उत्कंठित अंगवाली और भ्रमरके समान चंचल नेत्रोंकी धारिकायें रानियां भी चलने लगीं सो वे पद्मकोशरूपी स्तनोंवाली, इधर उधर घूमते हुये भ्रमर रूपी नेत्रोंसे विशिष्ट उस तालाबकी नलिनी ही प्रेमके वशीभूत हो साथ २ चल रही हैं ऐसा मालूम पडने लगा ॥७०॥

मुखेन लक्ष्मीं कमलावरुद्धां बलादिवादाय गते नरेंद्रे ।
वारांनिधिश्चानुतरंगशाखः शब्दायमानः पुनरुज्जहार ॥ ७१ ॥

चक्रवर्तीके चले जानेपर तालाब जो शब्द करने लगा सो कमलोंमें अवरुद्ध लक्ष्मीको जबर्दस्ती छीनकर चक्रवर्ती मुखद्वारा लेगया है, इसलिये अपने तरंगरूपी हाथोंवाला वह चिल्ला ही रहा है ऐसा मालूम होने लगा ॥ ७१ ॥

पथा स तेनैव निवृत्य भूपतिस्तमेव चूतं पुनरप्यलोकत ।
नवप्रसूनच्यवनामनोहरं जनावलुप्ताक्षितिकीर्णपल्लवम् ॥ ७२ ॥

इस प्रकार वन विहारकर चक्रवर्ती जब वापिस नगर की तरफ लौटने लगा तो उसने पहिले जो हरे भरे आमके पेड देखे थे वे ही इससमय नवीन बौर (फूल) के गिर जानेसे बदसूरत और मनुष्यों द्वारा तोडे गये पत्तोंसे पृथ्वी को व्याप्त किये हुये देखे ॥ ७२ ॥

मतिस्ततो भव्यशिखामणेरभूद्विरक्तिधर्मा विषयेंद्रियादिषु ।
न शाश्वते वस्तुनि दत्तदृष्टयस्तदात्वहृद्येषु भवंति गृध्नवः ७३

उसे देख कर भव्य शिरोमणि उस चक्रवर्तीका मन इंद्रिय विषयोंसे विरक्त होगया सो ठीक ही है जो पुरुष नित्य पदार्थोंमें दृष्टि देते हैं वे क्षणमात्र मनोहर लगनेवाले पदार्थोंमें लालसायुक्त नहीं होते ॥ ७३ ॥

वयो नवं कांतमिदं वपुस्तत् सुखे जवा इव स्मरार्ताः (?)।
हितात्प्रमाद्यंति परं न जानंत्यतर्कितोपास्थितमंतकस्य ॥ ७४ ॥

तनोत्यविद्वान् मृगवद्विमोहं विद्वान् स्वविद्या मृगतृष्णिका चेत् ।
वितीर्यतां तर्हि विवेकदीप्तैस्तुल्यंजालिस्सत्यजलांजलिर्वा ॥ ७५ ॥

उस चक्रवर्तीने मनमें विचारा कि "यह नवीन उम्र और मनोहर शरीर 'विनाशीक' है तो भी कामसे पडित ये जीव अपना हित करनेमें प्रमाद करते हैं और बिना सूचनाके शिर पर आचढनेवाले यमराजको भूल जाते हैं" इन विषयोंमे मूर्ख लोग ही मृगतृष्णामें (चमकीली बालुमें) मृगकी भांति विमोहित होते हैं विद्वान नहीं, वे तो स्वरूप

को जान कर मृग तृष्णा ही समझते हैं और जब यह बात है तब विवेकसे दीप्त पुरुषों द्वारा क्यों न उन विषयोंको जलांजलि दी जाय ॥ ७५ ॥

यदि प्रियासायदि नाशि यचलं गुणाच्छिदे यद्युपतापसंचये ।
अनात्मनीनं तत एव तर्हि तद् वृथैव धिग्धिग् विषयोन्मुखं सुखम्

विषयजन्य सुख पराधीन है, नष्ट हो जानेवाला है गुणोंका नाशकर देता है, पश्चात्ताप कराता है और अत एव आत्माका वैरी है इसलिये उसे बार २ धिक्कार है ॥ ७६ ॥

इति स्वनिर्वेदविधेयया धिया विधाय राज्यं निजपुत्रगोचरम् ।
स भूपतीनां निवहेन सेवितो वनं प्रतस्थे वनजोपमाननः ॥७७॥

इसप्रकार विरक्तबुद्धिवाले उस चक्रवर्तीने अपना राज्य-भार पुत्रको दे दिया और स्वयं बहुतसे राजाओंके साथ वन चलागया ॥ ७७ ॥

क्षेमंकरं प्राप्य यतिप्रवीरं तपः समाधाय नृपप्रवीरः ।
जगाम दीर्घं नियमस्थमार्गे निस्त्रिंशधारामुखतुल्यसर्गे ॥ ७८ ॥

वनमें जाकर उस चक्रवर्तीने क्षेमंकर मुनिराजसे तप ग्रहण किया और तलवारकी धारपर चलनेके समान कठिन कठिन यम नियमोंको धारण करने लगा ॥ ७८ ॥

रसानलावासदुरंतदुःखं चिरंतनारातिरदस्य तस्य ।
किरातजातौ गुणवर्जितायां कुरंगनामाऽजनि तुंगकायः ॥ ७९ ॥

कमठका जीव जो अजगर पर्यायसे छठे नरक गया था वह वहांके अनंत दुःखों का भोगकर निकला और गुण-हीन किरातजातिमें विशाल शरीरका धारी कुरंग नामका किरात हुआ ॥ ७९ ॥

विरक्तिमात्मा विपुलाद्रिसंश्रये समाधिमास्थाय शिलातले स्थितम् ।
अपश्यदुन्मीलितवैरया दृशा सकृत् स पापर्द्धिगतो यतीश्वरम् ८०

अलब्धशीलं तमुपेत्य लुब्धको गुणव्यपोढेन गुणव्यपाश्रयं ।
निपातयामास यतिं स पातकी भृतं सपत्राकरणेन पत्रिणा ॥८१ ॥

उस पापीने विपुलाचल पर्वतपर एक दिन जाकर शिलाके ऊपर समाधि लगाकर खडे हुथे उन वैरागी मुनिराजका देखा और उन्हें देखते ही वैरके वश उसने धनुप पर वाण चढा कर छोडा जिससे कि मुनिराज गिर पडे ॥ ८०-८१॥

बली स भंजन्नतिबालिशस्तनूं तनूकृतां नियमैस्तपोभृतः ।
अलब्ध मुक्तं मुनिराजपंजरं न तस्य शुभद्गुणवस्तुगोपनं ॥८२॥

उस महामूर्ख भीलने यम नियमोंसे कृशीभूत हुई मुनिराजकी देह को निर्जीव तो कर दिया पर उसमें जो श्रेष्ठ २ गुण छिपे थे उन्हें वह न पासका ॥ ८२ ॥

चहन्नरत्निद्वयमात्रदेहं देहं स मुक्त्वा मुनिचक्रवर्ती ।
सुभद्रचेतास्तु सुभद्रमध्यग्रैवेयकं प्राप्य चिरं विरेजे ॥ ८३ ॥

चक्रवर्ती मुनिराजने अपनी मनुष्यपर्याय की जब

देह छोड दी तो दो अरत्नि प्रमाण ऊंची सुभद्र नामक मध्य ग्रैवेयकमें दूसरी देह प्राप्त करली और वे वहां अहमिंद्रोंके सुख भोगने लगे ॥ ८३ ॥

स सप्तमं शुष्मिमृतोऽनुहंता कैवर्तकः श्वभ्रमगादुभौ तौ ।
सुखेन ते तीव्रतयान्वभूतां सप्ताधिकं विंशतिमर्णवानाम् ॥ ८४ ॥

मुनिराजका मारनेवाला भील आयुके अंतमें जब मरा तो वह सातवे नरकमें पहुंचा और इस प्रकार वे मुनिराज और दुष्ट भील दोनों ही पहिला सुख एवं दूसरा दुखकी तीव्रताका सत्ताईस सागर तक भोग करने लगे ॥ ८४ ॥

अथ द्विषन्मुख्याहिमांशुराहुर्बभूव राजा खलु वज्रबाहुः ।
पुराविदो येन कृताधिपत्यामनन्ययोध्यां कथयंत्ययोध्याम् ॥८५॥

इसके वाद वैरी रूपी चंद्रमाको राहुके समान अयोध्या नामकी नगरीमें वज्रबाहु नामका राजा था जिसके शासन कालमें अयोध्या वास्तवमें अयोध्या—दूसरोंसे अजेय थी ॥

अधीतविद्यस्तु विविच्य वर्तितां स तत्प्रतापस्य कथं प्रवेचिका ।
अनागतं तेन जगद्विगाहितं यदावहे तद्गुत एव देहिरे ॥ ८६ ॥

विद्यायोंका ज्ञाता वह राजा तो विवेचना पूर्वक कार्य करता था पर अज्ञानी उसके प्रतापमें विवेचना शक्ति न थी जिससे कि वह युद्धमें नहीं भी सामिल होनेवाले लोगोंको भयभीत कर देता था ॥ ८६ ॥

नृपो विमुंचन्नवमंतु केवलं प्रवृद्धसस्यां कुरुते वसुंधरां ।
उपस्तुता तस्य गुणैरसौ पुनस्तदैव सर्वं सुपुवे मनीषितम् ॥ ८७

इंद्र तो जब नवीन जल वर्षाता है तब पृथ्वी पर केवल धान्य उपजते हैं परंतु इस राजाके गुणोंसे उपस्तुत पृथ्वी उसी समय और समस्त ही मनोरथोंको प्रसन्न करती थी ॥ ८७ ॥

आन्वीक्षिकी वात्मविदः प्रभेव दीपस्य मूलेव सुरद्रुमस्य।
हृद्यावदीप्ता च गुणान्विता च प्रभाकरी तस्य बभूव कांता ॥८८॥

आत्मस्वरूपके ज्ञाताको जिस प्रकार आन्वीक्षिकी विद्या (अध्यात्मशास्त्र) प्रिय होती है दीपकको जिस प्रकार उसकी प्रभा दीप्त करती है और कल्पवृक्षके जिसप्रकार जड़-मूल रहती है उसी प्रकार उस वज्रबाहु राजाके प्रिय, दीप्त और गुणोंसे सुशोभित प्रभाकरी नामकी रानी थी ॥८८॥

तामुद्वहन्नाहितपत्रशोभां रसोपपन्नामविपन्नपद्माम्।
करैर्दिशामाक्रमिता बभासे नृपस्स नित्यं नलिनीमिवार्कः ॥८९॥

जिसप्रकार करों-किरणोंसे दिशाओंको व्याप्त करने-वाला सूरज पत्रोंकी शोभासे युक्त, रसीली और पद्मोंसे सुशोभित नलिनीको धारण करता सुशोभित होता है उसी प्रकार करसे दिशाओंको व्याप्त करनेवाला यह राजा भी सुंदर नेत्रोंके पलकोंको धारण करनेवाली, सर्व रस संयुक्त और लक्ष्मीसे सहित इस रानीको धारण कर सुशोभित होने लगा ॥ ८९ ॥

ततो न तन्वी स्मरभोगमात्मनस्तमेव भोगं प्रणयादबुध्यत।
भतृद्रागस्स च तां न च स्त्रियं निजप्रियां प्रीतिप्रबुद्ध चाक्षुषीं ॥९०

वह रानी प्रेमकी अधिकतासे उस राजाको अपना भोक्ता न समझ भोगस्वरूप ही समझती थी और रागी राजा भी उसे अपनी प्रिय स्त्री न समझ मूर्तिधारिणी आंखोंके गोचर हुई प्रीति ही समझता था ॥ ९० ॥

उदात्तमूर्द्धा स तया कृतोदयं,दधौ दिवांकादहमिंद्रमागतम् ।
शतक्रतोः प्रातरभीष्टवाहया दिशा सहस्रांशुमिवोदयाचलः ॥९१॥

जिस प्रकार प्रातः कालमें पूर्व दिशासे उदित होने पर सूरजको उदयाचल पर्वत धारण करता है उसी प्रकार उस वज्रनाभि चक्रवर्तीके जीव अहमिंद्रको मध्य ग्रैवेयकसे च्युत होने पर उस रानीके द्वारा राजाने धारण किया ॥९१ ॥

पादापतत्पार्थिवचक्रमुच्चैराक्रांतसिंहासनमुन्मदेभम् ।
स भूभृदात्मानमतीव दीप्तं सुपुत्ररत्नप्रसवेन मेने ॥ ९२ ॥

उस पुत्र रत्नके जन्मसे राजाको अपार आनंद मिला वह अपने को उसी समयसे समस्त राजन्य समूहका स्वामी समझने लगा ।

तस्योदये कांतरुचेरिवेंदोर्नवा प्रतीचीव भृतं नृपश्रीः ।
चकार सर्वावयवानुरक्ता कृतप्रणामांजलिजीवलोकम् ॥ ९३ ॥

जिस प्रकार मनोहर कांतिवाले चंद्रमाके उदय होनेपर अनुरक्त- लाल हुई पश्चिम दिशा समस्त मनुष्योंसे हाथ जुड़वा प्रणाम कराती है उसीप्रकार इस तेजस्वी पुत्रके उत्पन्न होनेसे अनुरक्त हुई राजलक्ष्मीने समस्त संसारसे नमस्कार कराया ॥९३॥

विभक्तिशीतोष्णसुखक्रमावहाः प्रसादिनश्चोदितमंदमारुताः ।
अहर्विभावस्तमवर्द्धयन् क्रमादमुक्तपार्श्वाः परिचारिका इव ॥९४॥

जिसप्रकार सेवा शुश्रूषा करनेवाले पुरुष सर्वदा समीपमें रह सेवा करते रहते हैं उसीप्रकार उस राजकुमार की अपने अपने क्रमसे ठंडी गरमी और मंद मंद पवन को धारण करनेवाले दिन सेवा करने लगे ॥ ९४ ॥

अथा च यावच्च निगूढशैशवं नृपात्मजांगानि निगूढतामगुः ।
तथा च तावच्च तदीयविद्विषां सभंगमंगश्लथतैव पप्रथे ॥ ९५ ॥

ज्यों ज्यों इस पुत्रकी शिशु अवस्था बीतती जाती थी अंग बढते जाते थे त्यों त्यों वैरियोंके अंगोंकी संधियां शिथिल होती चलती थीं ॥ ९५ ॥

अजस्रमाह्लादनहेतुभावादयं जनानाममलस्तु चंद्रः ।
इदं तु चित्रं यदय समग्रः किं चेदलब्धालवयां कलाभिः ॥९६॥

सर्वदा लोगोंको आल्हाद करनेवाला होनेसे यह सचमुच चंद्रमा मालूम पडता था पर इसमें यह विलक्षणता थी कि जिस प्रकार उस चंद्रमाकी कला घटती बढती होती रहनेसे वह कभी पूरा और कभी अधूरा दृष्टि गोचर होता है उस प्रकार यह न था, यह तो सर्वदा संपूर्ण और कलाओंकी बढवारीसे युक्त था ॥ ९६ ॥

तथैव नूनं नृपनंदनस्य पादौ च पाणी च मुखं च तस्य ।
विस्तीर्णवक्षःस्थलकेलिवासक्रीडागतश्रीपरिवारपद्माः ॥ ९७ ॥

राजपुत्रके हाथ; पैर और मुख, कमल सरीखे थे सो उससे ऐसा मालूम पडता था मानों इस राजपुत्रका जो विस्तीर्ण वक्षस्थल है उसमें क्रीडा करनेकेलिये लक्ष्मी आई है और उसके साथ यह परिवार आया है ॥ ९७॥

समानमानंदननामविभ्रतस्तदस्य भूनंदनयौवनोत्सवे ।
सपत्ननिश्वाससमीरणैस्समं पृथू च दीर्घौ च बभूवतुर्भुजौ ॥९८॥

इस पुत्रका नाम गुणोंके अनुसार आनंद (आनंद देने वाला) रक्खा गया था और ज्यों ज्यों इसकी युवावस्था समीप आती चलती थी त्यों त्यों वैरियोंकी गरम २ श्वांस के साथ इसकी दोनों बाहु भी मोटी और लंबी होती चलती थीं ॥ ९८ ॥

अलंघ्यमन्यैरतिसर्वमानवं तमुन्नतानामवनामकारणम् ।
स्वबुद्धिवश्यं समपश्यदन्वहं प्रतापमात्मीयमिवापरं नृपः ॥ ९९ ॥

शत्रुओं द्वारा अलंघनीय उद्धतोंको नमानेवाले और सर्व मनुष्योंमें श्रेष्ठ इस बुद्धिमान पुत्रको राजा वज्रबाहु उक्त गुणोंसे युक्त अपना मूर्तिधारी दूसरा प्रताप सरीखा समझने लगा ॥ ९९ ॥

ततस्तृतीये जरयापहार्ये विरक्तचेता वयसि क्षितीशः ।
सितातपत्रं स्वसुताय दत्त्वा वनं तपस्थानरुचिः प्रतस्थे ॥ १०० ॥

इसके बाद अपना तीसरापन आजानेसे राजाने वि-

रक्त हो राज्यका भार इसके सुपुर्द कर दिया और स्वयं तपस्या करनेकेलिये वनमें चला गया ॥ १०० ॥

आनंदने नग इवोदयधाम्नि राज्यं
प्राज्यं तुषारकरबिंबमिवोज्जगाम ।
दीर्घं करेषु विदधौ कुमुदानुकूल्यं
किं तु क्रमादपि दिशं न परां प्रपेदे ॥ १०१ ॥

जिसप्रकार उदयाचलपर आजानेसे चंद्रबिंब ऊंचा उठता चलता है और अपनी किरणोंसे कुमुदोंको प्रफुल्लित करता रहता है उसी प्रकार जब आनन्द पुत्रके अधिकारमें राज्य आकर पडा तो वह (राज्य) भी खूब विस्तृत होगया और अल्पकरसे पृथ्वीको प्रसन्न कर दिया परन्तु जिसप्रकार चन्द्रमा धीरे धीरे पश्चिम दिशाको प्राप्त होजाता है उस प्रकार इसका राज्य दूसरे तरफ न गया ॥ १०१ ॥

अधिकावनिमितायां तस्य तंडेन भूमौ
भिय इव विनिपाता सर्वदिग्भ्यो निवृत्ताः ।
उपरि स परिरेभे पार्थिवेष्वत्युदात्तः
स्थितिसुखमधिगंतुं कल्पवल्ल्येव लक्ष्म्या ॥ १०२ ॥

राजा आनन्दके प्रतापसे जब पृथ्वी वश होगई तो समस्त दिशाओंसे ईति भीति आदि विघ्न विदा होगये और उदात्त वह कल्पवल्लीके समान लक्ष्मीके साथ स्थिति सुखको

प्राप्त करनेके लिए उपक्रम करने लगा ॥ १०२ ॥

आज्ञाव्याहृतवीरपार्थिवनमन्मूर्द्धस्थरत्नावली—
ज्योतिश्चक्रवितानतोयविकसत्पादारविंदद्वयः।
ताराशुभ्रयशःप्रवेशधवलाः कुर्वन् दिशाः सर्वदा
गीर्वाणावनतक्रमः स बुभुजे भूरिश्रियं भूपतिः॥१०३॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते
महाकाव्ये आनन्दराज्याभिनन्दनं नाम
अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस राजाके चरण कमल उस समय आज्ञा द्वारा बुलाए गये वीर राजालोगोंके नमते हुए मुकुटोंकी तेजरूपी जलमें प्रफुल्लित होने लगे, ताराओंके समान शुभ्र अपने यशके विस्तारसे दिशाएं व्याप्त करदीं और देवों द्वारा पूजित वह लक्ष्मीका भोग करने लगा ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीवादिराज आचार्य द्वारा विरचित इस
श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरित महाकाव्यमें आनंद राजाके
राज्यका वर्णनकरनेवाला आठवां सर्ग
समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नौमा सर्ग ।

पूर्वपुण्यपरिपाकनिर्मितश्रीविवेकविपुलः स भूपतिः।
सर्वमंगलनिकेतनं जिनश्रीमहं व्यधित कामदोऽर्थिनाम् ॥ १ ॥

पूर्व जन्ममें पैदा किये पुण्य कर्मके उदयसे राजलक्ष्मी के भोग करनेवाले विवेकी उस राजा आनन्दने समस्त मंगलोंका उत्पादक जिनयज्ञ प्रारंभ किया ॥ १ ॥

तं पुनर्जिनमहं दिदृक्षवः तत्त्वनिश्चयनमुज्जिघृक्षवः ।
स्वस्थसौख्यमभिनिर्दिविक्षवः तत्पुरे समुदगुर्मुमुक्षवः ॥ २ ॥

उस जिनोत्सवको देखनेके लिये बडे २ तत्त्व जिज्ञासु आत्मिक सुखको प्राप्त करनेके इच्छुक मोक्षके अभिलाषी पुरुष इकट्ठे होने लगे ॥ २ ॥

वन्यवत्र्संगतयश्च तीव्रसंवेगिनश्च शिखिपिच्छपाणयः ।
दुष्यदिंद्रियमदद्विपव्रजध्वंसंयमनकर्मकर्मठाः ॥ ३ ॥

उस जिनोत्सवको देखनेकेलिये वनमें वास करनेवाले संसार शरीरसे सर्वथा विरक्त, मत्त इन्द्रिय रूपी हाथियोंको वश करनेमें खूब निपुण मयूर पिच्छको धारण करनेवाले मुनिगण आने लगे ॥ ३ ॥

व्यूहसद्गुणमणीनसद्गदा मुक्तिवर्त्मनि विपत्रयायिनः ।
निर्भयास्तदपि कामतस्कराद्दूरदर्शनबलापसारिणः ॥ ४ ॥

वे मुनिजन समस्त सद्गुणोंके स्वामी थे, अशुभवाणीसे

युक्त थे, मुक्तिमार्गमें निर्भय विना किसी सवारी–सहायकके गमन करते थे तो भी दूरसे दर्शनबलको चुरानेवाले कामरूपी चोरसे निर्भय थे ॥ ४ ॥

मार्गणान्वयविवेकिनः क्रियारोपितास्थिरगुणाः सुवंशजाः ।
श्लिष्टदार्यतनवश्च संगरस्थायिनश्च दृढधर्ममूर्तयः ॥ ५ ॥

वे धर्मकी साक्षात् मूर्ति जान पडनेवाले मुनिराज चौदह मार्गणाओंके विवेकी थे, चारित्र पालनेमें तत्पर, श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुये प्रतिज्ञा पालन करनेमें दृढ और क्षीण-काय थे ॥ ५ ॥

शश्वदभ्यसन्निस्पृहक्रिया वृत्तिपंचकनिरोधचंचवः ।
संयमस्थिरपदप्रवर्तनाल्लब्धरम्यविलसद्विभूतयः ॥ ६ ॥

सर्वदा निस्पृहताका अभ्यास करनेवाले वे मुनि पांचों इंद्रियोंके निरोध करनेमें पूर्ण तत्पर थे और संयमको साव-धानीसे पालन करते रहनेसे नाना प्रकारकी मनोहर ऋद्धि-योंके स्वामी थे ॥ ६ ॥

कामनिग्रहनिराकुलं मनो बोधयंत इव भोगनिस्पृहाः ।
सर्वतः स्वमनवद्यतागुणं सूचयंत इव चांबरत्यजः ॥ ७ ॥

कामदेवके निग्रह करदेनेसे निराकुल हुयेके समान वे भोगोंमें निस्पृह थे और अपने निर्दोष गुणको दिखलाते हुयेके समान वस्त्रोंके त्यागी थे ॥ ७ ॥

तीव्रयोगपवनप्रवर्तनाद् बाह्यकर्मपटलोपमावहम् ।
दुर्वहामलमशक्यशौचकायकमापेनतालिप्तविभ्रतः ॥ ८ ॥

उन मुनियोंके स्वभावसे ही अपवित्र अतएव किसी प्रकार भी पवित्र न हो सकने वाले शरीर पर स्नान का त्याग होनेसे मैल जम रहाथा सो उससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो अति कठोर तप और दुर्धर ध्यान रूपी आंतरंगिक पवनके माहात्म्यसे कर्ममल ही ऊपर आगया है॥८॥

भूरिजन्मजलधिं परीषहग्राहलीढतनवोप्यविक्लवाः ।
पारसंनिधिनिरूपणात्समुत्साहिता इव लघूत्तितीर्षवः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार समुद्र को तैर कर पार करनेवाला मनुष्य जब तट को अपने समीप देखता है तो मकर मच्छों से तिरस्कृत होने पर भी उत्साहसे शीघ्रता पूर्वक तैरने लगता है उसी प्रकार वे मुनिगण परीषहरूपी मकर मच्छोंसे बार बार तिरस्कृत होते थे तो भी किसी प्रकारसे हताश न हो ज्ञान ध्यानमें तत्पर थे और उन्हें अपने संसार रूपी समुद्र का अंत समीप दीख पडता था इसीलिये उत्साहसे उसे शीघ्र पार करते जान पडते थे ॥ ९ ॥

भूपतिर्यतिसमूहमुल्लसद्भक्तिबंधुरमथाभिवंद्य तम् ।
तत्पतिं पुरुमतिः पुरस्कृतप्रश्रयो वचनमित्यवोचत ॥ १० ॥

इसप्रकारके गुणोंसे सुशोभित मुनिसंघको राजाने भक्तिभावसे नमस्कार किया और संघपतिसे विनयपूर्वक इस प्रकार प्रार्थना की ॥ १० ॥

शुद्धबोधजठरप्रवेशनंभावितानवधिकंश्रुतोदधेः ।
स्वल्पकायलघुघटोद्भवस्य ते वस्तु किंचिदविगाह्यमस्ति किम् ॥११॥
तत्प्रसीद मम वस्तुसंशयं छिंद तेन च निरुंधि कल्मषम् ।
तद्वचोनिचयशाणतेजसा भव्यचित्तमणिशुद्धिकारिणा ॥ १२ ॥

प्रभो ! यद्यपि आपका शरीर छोटा है तो भी ज्ञान रूपी उसके उदरमें अपरिमित शास्त्ररूपी समुद्र समागया है इस लिये ऐसा कोईभी पदार्थ नहीं है जो आपसे अविदित हो। अतः स्वामिन ! प्रसन्न हूजिये और भव्य लोगोंके चित्तरूपी मणिको शुद्ध करनेवाले अपने वचनरूपी शाणके तेजसे मेरे संशयको दूरकर पापपुंजको नष्ट कीजिये ॥ ११-१२ ॥

कृत्रिमेतरविभेदसंभृतं जैनबिंबमखिलं ह्यचेतनम् ।
तत्कथं मुनिजनेन कथ्यते भक्तिमज्जनमनीषितप्रदम् ॥ १३ ॥

भगवन् ! जिनेंद्र भगवान के प्रतिबिंब कृत्रिम और अकृत्रिम दो तरहके हैं और वे दोनो ही अचेतन होते हैं इसलिये कृपाकर कहिये कि वे किस प्रकार भव्य लोगोंके मनोरथोंको सिद्ध कर देनेवाले होते हैं क्योंकि अचेतन (जड) किसीका भला बुरा नहिं कर सक्ता ॥ १३ ॥

अस्तु वा तदकृताः कुतो मताः केचनेह भुवने जिनालयाः ।
ईदृगेव रचना न शक्यते तद्गता च ननु जैनशासने ॥ १४ ॥

दूसरे-जैन शासन में बहुत जगह अकृत्रिम (बिना बनाये) जिन मंदिर कहे हैं परंतु ऐसी रचना तो कभी हो

नही सक्ती क्योंकि विना बनाई हुई कोई वस्तु ही नहीं है इसलिये उसका भी कृपा कर समाधान कहिये ॥ १४ ॥

कामधेनुरिव दीव्यती तमस्तोमनाशि वसुमत्यधीश्वरम् ।
निर्मुमोच नविपाकरम्यधर्मामृतं यमभृतां नु भारती ॥ १५ ॥

इस प्रकार उस पृथ्वीनाथ के प्रश्नको सुन कर कामधेनु के समान अंधकार समूहको नाश करने वाले सदा रमणीय धर्मरूपी अमृतको मुनि महाराज की वाणीने छोडा अर्थात् उत्तर दिया ॥ १५ ॥

सर्ववस्तुसमवायिवेदनः सन्नपि स्वयमनंजनो जिनः ।
किं जनस्य कुरुते तदर्पिता भक्तिरेव खलु कल्पवल्लरी ॥ १६ ॥

राजन् ! जिनेंद्र भगवान यद्यपि समस्त लोक अलोकको जाननेवाले हैं तो भी वे स्वयं निर्लेप हैं। वीतराग होनेसे जानते सब हैं परंतु करते कुछ भी नहीं लेकिन उनमें की गई जो भक्ति है वह कल्पलताका काम देती है। भावार्थ—कल्पलता जिसप्रकार अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करती है उसीप्रकार जिनभक्ति भी समस्त मनोरथों को सफल करती है ॥१६॥

किं च किं चतुरचित्तचिंतया वस्तुशक्तिरविचारचारिणी ।
कल्पितप्रदमबुद्धिमत्तया कल्पपादपमुपालभेत कः ॥ १७ ॥

इसका भी कारण यह है कि वस्तुओं में शक्ति अपरिमित और तर्क के अगोचर होती है जैसे कि कल्पवृक्ष अचेतन होता है तो भी प्रार्थना करने पर सब कुछ दे देता है इसे, मूर्खतासे कौन स्वीकार न करेगा ? ॥ १७ ॥

बधसत्यपि गरुत्मदाकृतिर्भावितोरगविषव्यथामुचे ।
दुष्कृतापहृतये न कल्पते किं पुनः प्रतिकृतिर्जगद्गुरोः ॥ १८ ॥

और भी जिस प्रकार गरुड के अनुपस्थित रहने पर उसकी मूर्ति का ध्यान करने मात्र से ही सांप का विष जब दूर हो जाता है तब क्या उसीप्रकार जगद्गुरु अर्हंत भगवानकी मूर्तिका ध्यान करनेसे पाप दूर नहिं हो सक्ते ? भावार्थ—अवश्य दूर हो जाते हैं ॥ १८ ॥

बंधनस्थगितसूक्ष्मपुद्गलस्कंधमक्षरमिदं प्रचक्षते ।
बंधुरेव स पुनर्मनस्विनः संधिविग्रहविधौ विधित्सते ॥ १९ ॥

सूक्ष्म पुद्गल स्कंधोंसे बने हुए अक्षर यद्यपि जड होते हैं तो भी वे मनस्वी लोगों को संधि और विग्रह करानेमें सहायक होते हैं। इसलिये जड जिन मूर्तिकी भक्तिसे भी सुख मिल सक्ता है ॥ १९ ॥

द्रव्यकर्तृकसमत्वयोजना युज्यते न जिननित्यवेश्मसु ।
तादृशी हि सुविवेकयंत्रकैस्तेन तेष्वकृतकत्वनिर्णयः ॥ २० ॥

जिनेंद्र भगवान के जो नित्य अकृत्रिम चैत्यालय हैं उनमें अन्य पदार्थोंके समान ये भी बनाये गये हैं ऐसी समता करना ठीक नहीं, क्योंकि वे अनादि होनेसे नित्य हैं ॥ २० ॥

संति ते सुरविमानसंनिभाः सर्वलोकनिलये जिनालयाः ।
अन्यकर्मकृतानित्यवृत्तयः प्रस्फुरन्मणिविचित्रमूर्तयः ॥ २१ ॥

देवताओं के विमान सदृश वे जिन मंदिर समस्त सं-सारमें जगह जगह हैं उनमें देदीप्यमान मणियोंकीसी वि-चित्र मूर्तियां है और भव्य लोगोंके कर्म माहात्म्यसे वे सदा कालसे चले आये हैं ॥ २१ ॥

यत्र ते न भगवद्गृहा न ताः संति चामरविमानपंक्तयः ।
दीप्तदीप्तिमयमंडलोदरोद्भासिभागवतबिंबभूषणाः ॥ २२ ॥

देवताओंके जितने विमान हैं उन सबमें वे अकृत्रिम अत्यंत शोभायमान जिनबिंब विराजमान हैं। ऐसा कोई विमान ही नहीं है जहां स्वस्वरूप से सुशोभित जिन भ-गवानकी मूर्ति न हो ॥ २२ ॥

इत्यनुत्तवसमुद्रसंभवं तस्य वागमृतमुर्व्वरापतिः ।
आदरातिविवृतश्रवःस्फुटैः स पपौ परमनिर्वृतेः पदम् ॥ २३ ॥

इसप्रकार उन मुनि महाराजके उत्तर रूपी समुद्रसे उ-त्पन्न हुये वचन रूप अमृत का उस राजा ने अत्यंत आदर से अपने श्रवणरूपी पुटों से पान किया और उससे उसे महासुख की प्राप्ति हुई ॥ २३ ॥

प्रातरुद्यति ततः प्रभृत्ययं तद्गतस्य महतस्तमोपहे ।
अर्घ्यमंजलिघटोपनीतमभ्युज्जहार जिनराजवेश्मनेः ॥ २४ ॥

वह राजा देवोंके प्रत्येक विमानमें जिनमंदिरकी सत्ता जान कर प्रति दिन सवेरे ही सूर्यदेव के विमानमें वि-राजमान जिनेंद्र भगवानकी मूर्ति को अंजलिद्वारा अर्घ प्रदान करने लगा ॥ २४ ॥

तत्र धर्मरसिके सति प्रजाः संपदो निरविशन्निरंतराः ।
निर्वृतांभसि तरौ हि तस्य शाखा भवंति सफलप्रक्लृप्तयः ॥२५॥

उस धर्मप्राण राजाके शासन समयमें प्रजाको सर्वदा नवीन नवीन सुख संपत्तियोंकी प्राप्ति होने लगी। सो ठीक ही है जिस वृक्षकी जडमें सदा जल दिया जाता है उसकी शाखाओंपर सदा फल लगा ही करते हैं॥ २५ ॥

पुण्यकृत् स्वयमकृत्सदर्शनोऽगण्यसेव्यगुणराशिरप्ययं ।
भण्यतां बुधजनैः कथं हि षाड्गुण्यमेव मनसा दधाविति॥२६॥

पुण्यात्मा वह अद्वितीय राज अगणित सेवनीय गुणोंका स्वामी था तो भी राजाओंके योग्य छह गुणोंको ही धारण करता था। भावार्थ—इंद्रिय जय आदि राजाओंके छह गुणों-के सिवा अन्य बहुतसे गुणोंका वह अधिपति था ॥ २६ ॥

दंडमुद्धरसुदस्य जाग्रता क्षत्रमंडपतले कृपालुना ।
तेन धेनव इवाररक्षिरे सर्वथा सुखशयालवः प्रजाः ॥ २७ ॥

जिसप्रकार गौओंकी रक्षा सर्वदा दंड (लाठी) को हाथ में उठा (धारण)कर सावधानीसे की जाती है उसी प्रकार वह कृपालु राजा शांतिपूर्वक वास करती हुई अपनी प्रजाकी रक्षा दंड (कर) को उठा कर करने लगा । भावार्थ—प्रजा पर असह्य कर वह न लगाता था ॥ २७ ॥

तुंगसाहसमनंगसंनिभं तं प्रति प्रविदधुः दिगंगनाः ।
रंतुमिच्छव इवावकृष्य रत्नावभासुरकरप्रसारणं ॥ २८ ॥

वह राजा अत्यंत साहसवान था, कामदेवके समान सुंदर था इसलिये उसके साथ रमण करने की इच्छा से ही मानो दिशा रूपी स्त्रियोंने अपने रत्नोंसे देदिप्यमान कर आगे बढादियेथे। भावार्थ–करद्वारा सब दिशा उसके वश हो गई थीं ॥ २८ ॥

भूमिभृत्सु स विभज्य साशितः शासनेन कृतसीमभुक्तिकं।
युज्य दैवमनुतिष्ठुपत् स्थिरेषतनुराज्य दैवतां ॥ २९ ॥ (?)

क्षुण्णवर्त्मगमनादनश्यतामग्रतोऽमृतरसष्टुवायितम्।
शासनेन खलु तस्य नश्यतां विप्रकीर्णविषकंटकायितम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य सनातन निर्दोष मार्ग पर चलते थे उनके लिये तो उसका शासन अमृत के तुल्य आनंद दायक था और जो उससे भ्रष्ट हो कुमार्ग पर चलते थे उनकेलिये विषैले कांटोंके समान दुःखद था ॥ ३० ॥

तस्य भित्तिषु दिशां यशश्च विक्रांतशत्रुविजयक्रमागतं।
आददे नवसुधाविधाकृतस्फारमातिथिविलासडंबरम् ॥ ३१ ॥

विक्रमी शत्रुओंके जीतनेसे उस राजाका यश दिशाओंमें चारो तरफ फैल गया था और चंद्रमा की चांदनीसे सुशोभित होनेवाली तिथि (पूर्णमासी) कासा उसने विलास पालिया था ॥ ३१ ॥

प्रातरेव जिनदेवतास्तवं संविधाय स कदाचिदीश्वरः।
आदर्शादिकमलोकयत्पुरः स्फारचारुमुकुरोदरे वपुः ॥ ३२ ॥

इंद्रनीलरुचिरोमविस्तरे मस्तके पलितसूचयः क्वचित् ।
तेन संददृशिरे निशामयश्यामिकास्पृश इवेंदुरश्मयः ॥ ३३ ।

एक दिन वह राजा प्रातःकाल जिनदेवकी स्तुति कर सामने रक्खे हुये विस्तृत सुंदर दर्पणमें अपना शरीर देख रहा था कि इंद्रनील मणिके समान श्याम केशोंसे सुशोभित अपने शिरमें उसे काली रातिमें चंद्रमाकी किरणोंके समान श्वेत कुछ बाल दीख पडे ॥ ३२–३३ ॥

तन्निबद्धपलितांकुरं शिरः प्रत्यबुध्यत स बुद्धिमत्प्रियः ।
तत्क्षणे विदलितं जरद्वयःकालसर्पदशनांकुरैरिव ॥ ३४ ॥
इत्यऽमन्यत जरी शिरस्ययं लग्न एव सितबाललीलया ।
उल्लसन्मदपरिद्विलासिनीहासरुंद्ररुचिबंधुपांडिमा ॥ ३५ ॥

बुद्धिमानोंके प्यारे उस राजाने अपने शिरको जब उन सफेद बालों से घिरा देखा तो वह बुढापे रूपी सांप के दांतों से काटा हुआ अपनेको समझने लगा । उसने सोचा कि मत्त विलासिनी स्त्रियों के हास का मित्र होनेसे ही यह श्वेतपना सफेद वालों के छलसे मेरे सिर पर आ चढा है ॥ ३४–३५ ॥

मुंच मां तरुणि भोगलालसे तावदंत्यवयसा विरूपकम् ।
यावदेव न जुगुप्सया त्वयि स्मेरचारुवदनो वधूजनः ॥ ३६ ॥
वज्रबाहुमभिषिच्य स क्षिते रक्षणाय तनयं ततो नृपः ।
निर्जितप्रसवकार्मुकैर्वृतो राजभिर्वननिवासमन्वगात् ॥ ३७ ॥

'हे तरुणि भोगलालसे ! मेरा रूप वृद्धावस्था से विगड रहा है इसलिये जब तक तेरी तरफ युवतियां न हंसें उससे पहिले ही मुझे छोड दे, इस प्रकार की भावना से प्रेरित हो उस-राजाने पृथ्वीकी रक्षाका भार अपने वज्रबाहु पुत्र को अभिषेक कर दे दिया और स्वयं कामके बाणोंको जीतने वाले राजाओंके साथ वनमें चला गया ॥ ३६–३७ ॥

निर्विमुच्य दलितस्पृहागुणग्रंथिरंगबहिरंगमंडनम् ।
आददे स निधिगुप्तिसंनिधौ बोधगोचरतमोपहं तपः ॥ ३८ ॥

उस राजाने ममत्व परिणाम का सर्वथा मर्दन कर समस्त बहिरंग परिग्रहों का त्याग कर दिया और निधिगुप्त गुरु के पास तप धारण करलिया ॥ ३८ ॥

सर्वनिस्पृहतयैव तन्वतस्तन्मुनेः सुचिरमात्मभावनाम् ।
अन्यदेव सुखमुद्बभूव यत्स्वार्गिणां न च न चापवर्गतः ॥३९॥

समस्त परिग्रहोंमें निस्पृहता होनेसे उन मुनिका मन आत्मस्वरूप के चिंतवनमें लीन होगया और उससे जो सुख प्राप्त होने लगा वह देवों तकको अप्राप्य था ॥ ३९ ॥

ईश्वरः प्रणिधिना तनूकृतक्लेशवैशसमयामयो मुनिः ।
अंतरात्मनि समाधिभावनामाधित स्थिरपदेन चेतसा ॥ ४० ॥

वह मुनिराज शरीरसे तो सर्व प्रकारकी परीषहों को जीतने लगे और अंतरात्मामें समाधिभावनाका दृढ चित्तसे आराधन करने लगे ॥ ४० ॥

भावयन्भगवदर्हदर्पितं नित्यशः प्रणवमंत्रमुत्तमम् ।
अंतरायविजयादवागमत् प्रत्यगात्मगुणचारुचेतनाम् ॥ ४१ ॥

भगवान् अर्हंत द्वारा निर्दिष्ट पंच नमस्कार मंत्रका सर्वदा ध्यान धरते हुये उन मुनिने अन्तरायोंका विजय कर आत्म गुण स्वरूप जो चेतना है उसको प्राप्त करलिया ॥ ४१ ॥

बद्धकर्ममलघातहेतुमभ्यस्यतश्च नियमाद्यमादिकम् ।
आविवेकमति तस्य योगिनो ज्ञानदीप्तिरभवत्प्रकर्षिणी ॥ ४२ ॥

पूर्वमें बांधे हुये कर्ममलको नष्ट कर देनेवाले नाना प्रकारके यम नियमोंको सदा पालन करनेवाले उन मुनि महाराजके ज्ञान ज्योति अत्यन्त दीप्त होगई ॥ ४२ ॥

निर्व्युदस्य स वितर्कबाधनं तद्विपक्षपरिभावनाबलात् ।
तीर्थकृत्त्वमहिमोदयावहां भावनामवहदंतरात्मनि ॥ ४३ ॥

विपक्ष भावनाओंको मानेसे वितर्क बाधाओंका निरसन कर वे मुनिमहाराज अपने हृदयमें तीर्थंकर नामकर्मकी उपयोगिनी दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओंका चितवन करनेलगे

तीव्रसामयगुणानुबंधिनस्तस्य भौतिकमभूत्कृशं वपुः ।
शुद्धदर्शनरसायनश्रिया तत्पुनर्गुणमयं व्यवर्द्धत ॥ ४४ ॥

उत्कट आत्मगुणोंके प्राप्त करनेवाले उन मुनिराजका भौतिक शरीर तो कृश (पतला दुबला) हो गया था और सम्यग्दर्शन रूपी रसायनसे उत्पन्न गुणरूपी शरीर बढ गया था ॥ ४४ ॥

एकदा तनुविसर्गपूर्वकं योगतत्परमना महामुनिः ।
चित्रलेख इव सुस्थितोऽभवत् क्षीरपूर्वकमरण्यमाश्रितः ॥ ४५ ॥
संयमस्य चरमस्य दुर्वहं निर्वहंतमनुविसयावहाः ।
अत्यव्यस्तविनयाद्दिवौकसो देवतास्तमनमन्मनास्विनम् ॥ ४६ ॥

एक समय वे मुनिराज क्षीरारण्य वनमें कायोत्सर्ग धारण कर चित्रमें उकेरे हुयेके समान निश्चल खडे थे और तीव्र संयमका आचरण करनेसे आश्चर्यपूर्वक देवता लोग उनके चरणोंको नमस्कार करते थे ॥ ४५-४६ ॥

तत्क्षणस्मृतिगतप्रसंगतो दृश्यते स स भवांतरद्विषा ।
निर्विमुच्य नरकं वनोदरे तत्र केसरिषु जन्मजग्मुषा ॥ ४७ ॥

उसी समय नरक वासको छोडकर तिर्यंच गतिमें प्राप्त हो सिंह पर्याय धारण करने वाले सर्वदाके वैरी कमठके जीवने उनको देखा ॥ ४७ ॥

क्रोधभीमकुटिलभ्रुवा मुहुस्तेन घर्घरमकारि गर्जितं ।
वृद्धिमद्भयफलाय तद्वनक्रोशयायिमृगयूथशाब्दितैः ॥ ४८ ॥

उन मुनिराज को देखकर उस सिंहने क्रोधसे अपनी भोंहें टेढी करलीं, भय प्रदान करने वाले चीत्कारको कर वन को गुंजा दिया और वहांके जानवरोंको शब्दित कर शोर मचा दिया ॥ ४८ ॥

यज्जिहिंस तमपांशुलं हरिस्तत्कथं नु कथयामि निर्भयः ।
पापकृच्चरितजल्पनादपि श्रेयसे भवति यत्प्रतिच्युतिः ॥ ४९ ॥

उसके बाद उस सिंहने मुनिराजके ऊपर जो अत्याचार किया उसको शब्दोंसे मैं कैसे कहूं, कारण पापी जीवों के आचरित कामों का वर्णन करने से भी पुण्य की हानि हो जाती है। भावार्थ—जिस मुनिमारण रूप पाप को हम कहने में भी अटकते हैं उसे उस हत्यारेने कर डाला ॥४९॥

अध्युवास नरकं स केशरी जीवितस्य विनतौ तमःप्रभम् ।
दुःखितो भवति यद्युदासितो तत्र किं पुनरसत्क्रियापरः ॥५०॥

सिंह अपनी आयुके अन्तमें मरकर तमःप्रभानामक छठे नरकमें पहुंचा सो ठीकही है, असत्कर्म करते जीवोंको देखकर जो उदासीन रहता है उसेभी जब दुःखकी प्राप्ति होती है तब जो उसको करनेही वाला है उसे क्या न होगा? ॥

तद्विमुच्य वनहिंसुदूषितं निर्मलेन मनसा मुनिर्वपुः ।
आनतामरनिवासिनामथमुद्बभूव सुकृती स ईश्वरः ॥ ५१ ॥

हिंसक जंतु सिंहके आक्रमणसे दूषित शरीरको छोड कर वे मुनिराज अपने निर्मल मनके माहात्म्यसे आनत स्वर्गमें जा देवोंके अधीश्वर होगये ॥ ५१ ॥

वैद्युतं मह इवैकसंहतं तद्वपुर्वहलदीप्तिबृंहितम् ।
अप्यनंगमदमंथरामरीलोचनप्रियमजायत स्फुटम् ॥ ५२ ॥

बिजलीकी चमकके समान महातेजस्वी उनका शरीर हुआ और वह कामके मदसे मत्त देवांगनाओंके लोचनोंको अति प्रिय लगने लगा ॥ ५२ ॥

कामिनीचरणकिंकिणीरवैरेकदा रतिविलासकेलिषु।
आददे समुदमुन्मदः क्वणन्मन्मथद्विरदडिंडिमोपमैः ॥ ५३ ॥

सिंहविष्टरगतः स लीलयालोकयद् द्युपतिलोकवेष्टितः।
एकदा वितिमरो दिवौकसः संभ्रमेण जयकारकारिणः ॥ ५४ ॥

एकवारममरीस्तनस्तनोत्तानितोऽरमत सोऽमरैस्समम्।
श्रव्यगीतकलकंठकिन्नरव्रातदत्तरसनिर्भरेक्षणः ॥ ५५ ॥

आनत स्वर्गमें उत्पन्न हो वह मुनिका जीव कभी तो शब्दायमान कामरूपी गजकी डिंडिमका अनुकरण करनेवाले देवांगनाओंके नूपुरोंकी ध्वनिसे आनंद लेने लगा, कभी देवोंसे वेष्टित हो सिंहासन पर बैठकर अपने जय जय कार करनेवाले देवोंको देखने लगा, कभी कानोंको प्रिय लगनेवाले गीतोंको गाने हुये किन्नर किन्नरियोंके समूहमें रमने लगा ॥ ५३–५५ ॥

अत्यजन्निह वनौकसः क्लमं लीलया स वनितासखः क्षणम्।
पारिजातकुसुमाभिवासितः स्पंदितोपवनमंदमारुतैः ॥ ५६ ॥

स्वर्गमें उस मुनिके जीवने जो वनवासके दुःखको नहीं छोड़ा इसलिये ही मानो वह मंद मंद उपवनकी पवन द्वारा पारिजात कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी सुगंधिसे सुगंधित किया गया ॥ ५६ ॥

भाविनीमनुपगां जवादसौ मोहयन्मणिगृहं न्यवीक्षत। (?)
प्रत्यवेक्ष्य मुमुहे मुहुस्तया तद्वपुः सबहु तत्र विंबितं ॥ ५७ ॥

सिंधुकेलिकृतये कदाचन व्योमवाहितविमानपंक्तिभिः।
तेन देवनिवहेन गच्छता जंगमेव नगरी विनिर्म्ममे॥ ५८॥

कभी वह देव नदीमें क्रीडा करनेके लिये देवोंके साथ साथ विमानोंसे आकाशको आच्छादित कर जाने लगा और उससे जंगम (गमन शील) नगरीकी रचना करता सरीखा मालूम पडनेलगा ॥ ५८ ॥

वारिधौ तरलितो विभासुरस्त्रीवृतो जलविलासकेलये।
व्योमतः स निरमज्जदेकदा वारिवाह इव विद्युतावृतः॥ ५९॥

जलक्रीडा करनेकेलिये आकाशसे उतर वह देदीप्यमान शरीरवाली देवांगनाओंके साथ २ जब जलमें डुबकी लगाता तो बिजलीसे वेष्टित मेघ ही मानो डूबरहा है ऐसा मालूम पडता ॥ ५९ ॥

अर्धतुर्यसदरत्निसंमितं श्वासि मासि दशमे दधद्वपुः।
सोऽन्वभुंक्त दिविजेंद्रवैभवं विंशतिं विमलधीरुदन्वताम्॥ ६०॥

इसप्रकार उस मरुभूतिके जीवका शरीर साढ़े तीन अरत्नि (हाथसे कुछकम) ऊंचा था। दशवे महीनामें श्वांस लेताथा और उसकी आयु बीससागर प्रमाण थी। भावार्थ— वह उस आनतस्वर्गमें इतने समय तक देवेंद्रके भोग भोगने वाला था ॥ ६० ॥

तस्य वत्सरसहस्रविंशतिव्यत्ययस्मृतिगतामृताशिनः।
सन्निधानमगमद् गुणोदधेरत्यसारभवसागरावधिः॥ ६१॥

वह बीसहजार वर्षमें एकवार स्मृति द्वारा अमृतका आहार
रता था और गुणोंके समुद्र स्वरूप उसके अति असार
सार (जन्ममरण) रूपी समुद्रका अंत बिल्कुल समीप आ-
का था ॥ ६१ ॥

त्र सत्यवसरे स लीलया वेपतेस्म हरिविष्टरं हरेः ।
र्मतीर्थमवतारायिष्यतस्तस्य संशदिव पश्चिमं वयः ॥ ६२ ॥
यथावदवधाय संभ्रमादासनात्सपदि सप्तकं गतम् ।
ं ननाम जयकारपूर्वकं मौलिकूटनिविडाहितांजलिः ॥ ६३ ॥

जब उसकी आयु छहमास बाकी रह गई तो आगे होने
ाले तीर्थंकरकी सूचना देतेहुयेके समान इंद्रका आसन
म्पायमान हो उठा और अवधिज्ञानसे यथार्थ बातको स-
झकर वह (इंद्र) सिंहासनसे उठा एवं सात पैंड चलकर
पने मुकुटसे सुशोभित शिरपर अंजलि रख जय २ शब्द
रतेहुये नमस्कार किया ॥ ६२ –६३ ॥

त्क्षणस्मरणमात्रसंगता संजगाद सुदिशां कुमारिकाः ।
ेवतास्वकुलगोत्रशेखरश्रीकरामलजडाशयाश्रयः ॥ ६४ ॥
ाविनीं भुवनभर्तृमातरं मर्त्यलोकतिलकायताकृतिम् ।
क्तिबंधुरमुपाघ्वमन्वहं विश्वसेननृपतेर्मनःप्रियाम् ॥ ६५ ॥

देवताओंके अधिपति इंद्रने जब तीर्थंकरका जन्म होना
मीप जाना तो दिक्कुमारिकाओंका स्मरण किया और वे
सी समय वहां आ उपस्थित हुईं। इन्द्रने उनको आज्ञा दी

कि मर्त्य लोक की तिलक स्वरूप आगामी होनेवाले तीर्थंकरकी माता होनेवाली विश्वसेन राजाकी प्रधान रानीकी प्रति दिन सेवा शुश्रूषा करो ॥ ६४–६५ ॥

आज्ञयामरपतेरखर्वया दुर्वहस्तनभरा वरांगनाः।
अंग जग्मुरभिवाराणसि ताः स्वर्गतो मदनवारणासिताः ॥ ६६ ॥

अपने स्वामी इन्द्रकी अप्रतिहत आज्ञाके अनुसार वे सुस्तनी देवांगनायें स्वर्गसे वाराणसी (बनारस) की तरफ रवाना हुईं ॥ ६६ ॥

अप्रकाशवपुषस्तलोदरीं तामवेक्ष्य खलु दिव्ययोषितः।
इत्थमस्तुवत विस्मिताविदः स्फीतमत्प्रमदमन्थरेक्षणाः ॥ ६७ ॥

बनारस आकर वे रणवासमें पहुंचीं और वहां अपने शरीरको छिपाकर कृश उदरसे सुशोभित महारानीको देख विस्मित होगईं और टकटकी लगा आनन्दपूर्वक उसकी स्तुति करने लगीं ॥ ६७ ॥

यन्नमस्याति सतीमिमां तृषात् कियच्च सदृशं मृगीदृशः। (?)
संहतिः स्वयमियं हि तावतामेकशस्तव पदं हि ये गुणाः ॥ ६८॥

नैशमेव नयनाभिरामया बध्यते नवसुधारुचे रुचा।
विद्ययेव निरवद्यवृत्तया चेतसं च सुदृशा जगत्तमः ॥ ६९ ॥

नयनोंको मनोहर लगनेवली चंद्रमाकी चांदनीसे तो केवल रात्रिका ही अंधकार नष्ट होता है परंतु इस महारानीके दर्शन से तो जिसप्रकार निर्दोष चारित्रसे भूषित

विद्यासे चित्त और संसार सब जगहका अंधकार नष्ट होजाता है उसी प्रकार सब अंधकार नष्ट होगया ॥ ६८-६९ ॥

सुभ्रुवो नु वदनेन बंधुना पद्मसारविजयी निशाकरः ।
संविभागविधिनेव यत्तयोः कांतिसंपदुभयोः प्रवर्तते ॥ ७० ॥

सुंदर भ्रकुटी वाली महारानीके मुखके साथ साथ ही चंद्रमाने कमलवनको जीता था इसीलिये मानों इन (चंद्रमा और इस रानीके मुख) की कांतिरूपी सम्पत्ति बराबर है। भावार्थ जिसप्रकार चंद्रमाकी कांति है उसीप्रकार इस महारानीके मुखकी भी है ॥ ७० ॥

मुख्यसौरभसमीरसंगतस्पंदिताधरसरागपल्लवा ।
निर्मलस्मितसुधानवोद्गमा स्पर्द्धते मधुवनश्रिया वधूः ॥ ७१ ॥

इस रानीके लाल अधर पल्लव, मुखकी सुगंधित पवनसे कंप रहे हैं। निर्मल मुस्कराहट रूपी सुधाका प्रसव कर रहे हैं इसलिये मधुवनकी लक्ष्मीके साथ यह स्पर्द्धा ही मानो कर-रही है ऐसा मालूम पडता है ॥ ७१ ॥

बालिकातरलनेत्रयुग्मनिष्ठ्यूतनिर्मलमयूखलेखया ।
सिंधुवारकुसुमावतंसनग्रंथनामिव करोति कर्णयोः ॥ ७२ ॥

इस अल्पवयस्क रानीके नेत्रोंकी कांति कर्णतक पहुची हुई है इसलिये सिंधुवार (वृक्षविशेष) के पुष्पोंसे यह कानोंकेलिये माला ही गुथ रही है ऐसा मालूम पडता है ॥ ७२ ॥

आलि पश्य मृगलोचनाकुचौ तारहारविषलेहिनौ तकौ।
कौत्तिबंधुरकुहचरांगिणीचक्रवाकमिथुनायिताविमौ ॥ ७३ ॥

हे सखि ! इस मृगनयनीके कुचोंको देखो, ये सुंदर हार स्वरूप विषंततुका आस्वादन (स्पर्श) करनेवाले नदीके चक्रवाक दंपतीसे जान पडते हैं ॥ ७३ ॥

कोमलाकृतिमृणालशंकया लीलयोन्नमितकंठकंदलाः।
सुंदरीकरनखत्विषोऽमलाः केलिहंसशिशवो लिहंत्यमी ॥ ७४ ॥

इस सुंदर महारानीके नखोंकी निर्मल कांतिको ये क्रीडा करनेकेलिये पाले हुये हंसोंके बच्चे कोमल कोमल मृणाल तंतु समझ रहे हैं और अतएव अपनी गर्दन उठा उठाकर ये उन नखोंको चाट रहे हैं ॥ ७४ ॥

भाति तन्वघिनितंबमंडलं गात्रमध्यकुचभृन्नतभ्रुवः।
पीवरस्तबकभारमुल्लसद्वल्लिमध्यमिव मूलबृंहितम् ॥ ७५ ॥

इस नतभ्रूका शरीरके मध्यभागमें स्थित कुचोंको धारण करनेवाला नितंब मंडल स्थूल पुष्पोंके गुच्छोंको धारण करनेवाली और जडमें फैली हुई लताके मध्यभाग सरीखा सुंदर जान पडता है ॥ ७५ ॥

अक्वणन्मणिमनोज्ञमेखला बालहंसवनिता विराजते।
विश्वसेनमनुजेश्वरांगना निम्नगा जघनसैकतस्थली ॥ ७६ ॥

यह महारानी शब्द करने वाली जो मनोज्ञ मणियोंकी करधनी अपने कटिभागमें पहिने हुये है उससे ऐसा मालूम

पडता है मानो विश्वसेन महाराजकी प्रियतमा रूपी नदीके जघन स्वरूप सैकतस्थलमें हंसिनी विहार कर रही है॥ ७६॥

चंकनत्कनकतोरणच्छविस्फारमूरुयुगलं मृगीदृशः।
कामगंधगजबंधनोचितस्तंभगौरवगुणं प्रपद्यते॥ ७७॥

चमकते हुये सुवर्णके तोरणोंकीसी कांति वाले विशाल इस मृगनयनीके जो ये उरु युगल (दोनो जंघा) हैं वे कामरूपी गंधहस्तिके बांधनेके योग्य स्तंभ सरीखे सुंदर जान पडते हैं॥ ७७॥

न त्वियं सुतनुरप्सरोगता गत्वरी न कमलाकरादसौ।
केन चैवमनयोरियं पुनः पादयोरकृत पंकजश्रियम्॥ ७८॥

सतनु महाराणी ब्रह्मदत्ता न तो जलभरे सरोवरमें उत्पन्न हुई है और न सरोवर छोडकर कमला कहीं जानेवाली है फिर न मालूम इस प्रकार कैसे उसके चरणोंने कमलकी शोभा धारण कर ली॥ ७८॥

कांतिशृंखलितदिग्वधूदया निर्मलापि तुहिनद्युतेः कला।
न प्रशस्ततमयोपमयिते.... जगति यद्द्वितीयया॥ ७९॥

अपनी कांतिसे दिशारूपी वधुओंको प्रकाशित करने वाली चंद्रमाकी निर्मल चांदनी इस महारानीके साथ उपमा नहीं पा सकती क्यों कि उसके समान संसारमें दूसरी कोई थी ही नहीं॥ ७९॥

संभ्रमावनतमस्तकास्तु तां संनिधाय सुरनायिकाः स्तुवाम्।
बद्धभारममजन्ननाधिपा तत्प्रियैकपरतंत्रया धिया ॥ ८० ॥
आनिनाय सुतनोरसायनं तासु काचन चकोरलोचना।
येन सामृतमयीव निर्बभौ सेवितेन दयितावनीपतेः ॥ ८१ ॥

इसप्रकार आश्चर्य पूर्वक मस्तक नवा स्तुति कर वे देवांगनाये अपने स्वामीकी आज्ञानुसार गाढ़ भक्तिसे उस महारानीकी सेवा करने लगी। कोई तो उनमेंसे उसको रसायन (उबटन)ले आई जिसे लगाकर वह विश्वसेनकी प्रियतमा अमृतमयी सरीखी सुशोभित होने लगी ८०-८१

हेमनालकमलेतराऽकरोत्तत्पुरो मुकुरुचारुमंडलम्।
तन्मुखप्रतिमयोदरस्थया यस्य सृष्टिरगमत्कृतार्थताम् ॥ ८२ ॥

किसी दिक्कुमारीने उस महारानीके सामने सुंदर गोल दर्पण ला रक्खा और उसके भीतर जो महारानीके मुखका प्रतिबिंब पडने लगा उससे उस दर्पणका जन्म सार्थक होगया सरीखा जान पडने लगा ॥ ८२ ॥

हारयष्टिमकृतेतरा गले सुभ्रुवः स्फुरितवृत्तमौक्तिकाम्।
अत्यशोभत यया तदाननं तारकावृतमिवेंदुमंडलम् ॥ ८३ ॥

किसी देवीने उस रानीके गलेमें देदीप्यमान गोल मणियोंसे सुशोभित हार पहना दिया और उससे उस रानीका मुख ताराओंसे वेष्टित चंद्रबिंब सरीखा अति सुन्दर जंचने लगा ॥ ८३ ॥

अंगुलीदलविलासघट्टनालीढतालकलवल्लकीगणे ।
रागराजमुदपादयत्परा पंचमं युवतिचित्तरंजनम् ॥ ८४ ॥

किसी कुमारिकाने अंगुलीके घट्टनसे जब मनोहर वल्लकी बाजा बजने लगा तब युवति स्त्रियोंको अत्यन्त आनंद देनेवाला मनोहर पंचमस्वर आलापना प्रारंभ कर दिया ॥ ८४ ॥

किन्नरग्रथितबंधुबंधुरग्रामरागरुचिरांगहारया ।
अन्ययाभिरुरुचे नतभ्रुवे सुभ्रुवा रचितलास्यलीलया ॥ ८५ ॥

जिस रागको आलापन करना था उसीके अनुसार किन्नर देवोंद्वारा गुथे हुए भूषणोंको धारण करनेवाली किसी कुमारिकाने रानी ब्रह्मदत्ताको प्रिय लगनेवाला नाच नाचना प्रारंभ कर दिया ॥ ८५ ॥

राजराजनियमानुबंधिभिर्बंधुरं नभसि निर्मितामरैः ।
हेमवृष्टिरभवन्नृपांगणे यत्प्रभाकपिशिता दिशोऽखिलाः ॥ ८६ ॥

कुबेरकी आज्ञामें चलनेवाले देवोंने आकाशसे राजा विश्वसेनके आंगनमें हेमवृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया जिसकी चित्र विचित्र प्रभासे समस्त आकाश रंग विरंगा हो गया ॥ ८६ ॥

विश्वदिक्प्रकटपाटलच्छविप्रस्फुटोल्लसितवाडवानलः ।
निष्पतन्मणिमरीचिमंगुरो व्योमवारिधिरलं व्यराजत ॥ ८७ ॥

चारो दिशाओंमें फैली हुई जो सुवर्णमयी वृष्टिकी पाटल

वर्णोंकी कांति रही हुआ वडवानल उसका धारक और जो चमकदार मणियां पडती थीं उससे भंगुर आकाशरूपी समुद्र उस समय बडा ही शोभित होता था ॥ ८७ ॥

अन्वितान्वितविपातिनूतनानेकरत्नरुचिमेचकं नभः ।
आदधौ तनुभृतामभित्तिकं चित्रमेतदिति विस्मितां मतिं ॥ ८८॥
आस्खलन्निपतदिंद्रनीलनिर्भाससजालवहलांधकारिते ।
भानुमानुभिरभावि भावितव्योमनि क्वचिदकांडकुंठितैः ॥ ८९ ॥

लगातार पडने वाले नवीन रत्नोंसे रंग विरंगा दीख पडनेवाले आकाशने लोगोंकी बुद्धिको उससमय विस्मित करदिया और विना किसी प्रकारकी रुकावटके धडाधड पडती हुई इन्द्र नीलमणियोंकी कांतिसे अधंकारित आकाशमें सूरजकी किरणें असमयमें ही कुंठित हो गईं ॥ ८८-८९ ॥

पद्मरागमणिपाटलोत्कटोद्योतगर्भनतमंबरं क्वचित् ।
जातरागमिव जातु निर्बभौ चापतन्निधिनिबद्धतृष्णया ॥ ९० ॥

उससमय आकाशमें पद्मराग मणियां बरस रही थीं और उनकी प्रभासे आकाश पाटल वर्णसा हो रहा था इसलिये गिरती हुई निधियोंमें आकाश को लालसा हो गई है अतः यह रागी (प्रेमयुक्त; लाल) होगया है मानो ऐसा मालूम पडता था ॥ ९० ॥
दूरवारिदपथावपातिनि स्वच्छतोयमपि नोज्ज्वलं निधौ ।
तत्र मूलमुदपादि सर्वतः पीत....ममथपंदरं ॥ ९१ ॥

दूरसे आकाशसे गिरने वाली सुवर्ण मयी वृष्टि पीला जल सरीखी जान पडती थी और समस्त आकाश उससे पीला होगया था ॥ ९१ ॥

रुद्धपिंगरुचिरंगरोधसो रत्नरागनिविडस्थितिर्निधिः।
भर्तुकाम इव मेरुरागमत् स्वामिनं त्रिदिवतोऽवतारिणम् ॥ ९२ ॥

उत्कृष्ट पीलेपनसे चारो ओरसे अतिशय मनोहर रत्नोंकी कांतिसे दृढ वह सुवर्णमयी वृष्टि ऐसी जान पडती थी मानो स्वर्गसे आने वाले भगवान जिनेन्द्रके पोषणके लिये साक्षात् मेरु पर्वत ही आकर उपस्थित होगया है ॥९२॥

तस्य सौधकलधौतवाहिनः कथ्यते कथमविच्छदिर्निधेः।
तृष्णयापि यदभावि कामिनां यत्परिग्रहविधावशक्तया ॥ ९३ ॥

सुवर्णमय गृहोंको करदेनेवाली निधियोंकी उससमय इतनी वर्षा हुई कि ग्रहण करने वालोंकी तृष्णा भी उनके ग्रहण करनेमें अशक्त होगई ॥ ९३ ॥

भक्तिबंधुरपुरंदरागमैरंगणावतररत्नवृष्टिभिः।
स्वैरभावि दिवसैर्मनोहरैर्भूमिवल्लभचकोरचक्षुषः ॥ ९४ ॥

महाराज विश्वसेन की चकोरनयनी महारानीकेलिये वे दिन बडे ही मनोरम थे। उन दिनोंमें भक्तिभावसे नम्र दिक् कुमारियां उसकी सेवा करती थीं और आंगनमें रत्नों की वर्षा होती थी ॥ ९४ ॥

अनिमिषवनिताभिर्नित्यमाराध्यमाना
निरुपमगुणलक्ष्म्या बंधुरा ब्रह्मदत्ता ।
रुचिरशयनसुप्ता रात्रिपाश्चात्यभागे
स्फुटतरमुपलेभे षोडशस्वप्नसारान् ॥ ९५ ॥

देवांगनाओंसे नित्य प्रति सेवित अनुपम गुणोंकी खानि महारानी ब्रह्मदत्ताने मनोहर कोमल सेजपर शयन करते हुये एकदिन रात्रिके अंतिमभागमें स्पष्ट सोलह शुभ स्वप्न देखे ॥

आस्थानावनतारिमौलिविलसत्पादारविंदाय वै
राज्ञे तत्सकलं न्यवेदयदधःसिंहासनार्धस्थिता ।
तस्य सोऽप्यऽवदज्जिनस्तव भवेत्पुत्रस्त्रिलोकीपतिः
सा चानंदमयीव तत्क्षणमभूदुद्यत्प्रमोदश्रिया ॥ ९६ ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वजिनेश्वरचरिते
महाकाव्ये दिग्देविपरिचरणं नाम नवमः सर्गः ।

सवेरे नित्य क्रियाओंसे निवृत्त होकर महारानी राजसभामें गई और वहां आधे सिंहासन पर बैठकर वे स्वप्न, शत्रुओंके मुकुट मणिकी आभासे चमचमाते हुये चरणकमल वाले अपने पति राजा विश्वसेनकी सेवामें कहे । राजाने उनका फल तीन लोकके अधिपति श्रीजिनेन्द्रभगवान का जन्म होना बतलाया महारानीको यह जानकर महा आनन्द हुआ ॥९६॥

इसप्रकार श्रीवादिराज आचार्य द्वारा विरचित
श्रीपार्श्वनाथजिनेश्वरके चरित महाकाव्यमें
दिक्कुमारिकाओंकी सेवाका वर्णन करनेवाला
नौवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशवां सर्ग ।

अथ दिविजवधूपवित्रकोष्ठं जठरनिवासमुपेतमानतेंद्रम् ।
अवहद् दयिता नृलोकभर्तुः खनिरिव सारमणिं निगूढकांतिम् ॥१॥

जिसप्रकार छिपी हुई कांतिको धारण करने वाली उत्कृष्ट मणिको, खानि अपने उदरमें धारण करती है उसी प्रकार मनुष्य लोकके स्वामी राजा विश्वसेनकी प्रियतमाने आनत स्वर्गसे आये हुये भगवान पार्श्वनाथके जीव आनतेन्द्र को छप्पन कुमारिकाओं द्वारा शुद्ध किये गये अपने उदरमें धारण किया ॥ १ ॥

अधिवसति जगद्गुरौ मृगाक्षी निजमुदरं नितरामिवाचकाशे ।
उपनततपनोदयप्रसंगाद्भवति हि रुच्यतमा पुरंदराशा ॥ २ ॥

जिस प्रकार पूर्वदिशा प्रतापी सूर्यके उदयसे अत्यन्त मनोहर दीख पडती है उसीप्रकार राजा विश्वसेन की प्रिया भी भगवान् जिनेन्द्र को अपने उदरमें धारण करने पर अत्यन्त शोभित होगयी ॥ २ ॥

अहमहमिकया स्वभावशुभ्रैरनुववृधे वनितागुणैर्मनोज्ञैः ।
जिनवरमुदरे तदा वसंतं स्वयमिव सेवितुमागतैरनंतैः ॥ ३ ॥

जिससमय भगवान जिनेन्द्रने माता ब्रह्मदत्ताके उदरमे निवास किया उससमय स्वभावसे ही उज्वल महा मनोहर स्त्रियोंमें होनेवाले अनंते गुण 'आगे मैं तो आगे मैं' इस रीतिसे अपने आप माता ब्रह्मदत्तामें बढने लगे सो ऐसे

जान पडने लगे मानों भगवान जिनेंद्रकी ही सेवा करनेके लिये आये हैं। अर्थात् भगवान जिनेंद्रको हृदयमें धारण करते ही माता ब्रह्मदत्ता अनंते गुणोंकी खानि बन गई॥ ३॥

अधिनतजठराशयोऽपि देवस्स खलु विभज्य निरूपयांबभूव।
प्रविलसदनुपल्लवद्विजोऽथ त्रयमयदृक्तितयेन विश्ववेद्यः॥ ४॥

अन्य स्त्रियोके गर्भमें बालक रहने पर उनका उदर बढ जाता हैं। भगवान जिनेंद्रके गर्भमें रहते भी माता ब्रह्मदत्ताका उदर जरा भी वढा न था तथापि उसके पेट पर जो त्रिवली थी उससे मति श्रुत अवधि ज्ञान रूप तीन प्रकारके नेत्रोंका अनुमानकर समस्त लोकको भगवान जिनेंद्रका गर्भ में होना निश्चित था॥ ४॥

प्रतिवसदपि तद्वपुः पवित्रं परमभवत्सुरसे नहीनधाम्नि।
भवति हि कमलं न पंकदिग्धं नियतिवशाद्यदि नाम पल्वलस्थं

जिसप्रकार उत्पत्तिके नियमसे कमल तलाव में उत्पन्न होता है तथापि कीचडसे उसका संबंध नहीं रहता। वह कांतिमान निर्मल ही दीख पडता है उसीप्रकार यद्यपि गर्भमें बालकके रहते स्त्रियोंका शरीर फीका पड जाता है परंतु भगवान जिनेंद्रके गर्भमें रहते भी परम पवित्र माता ब्रह्मदत्ताका शरीर जरा भी फीका न पडा। उसकी सुरस कांति और भी वढ गई॥ ५॥

सुतमुजमरणीव देवदेवं नृपवनिता सुषुवे जगत्पवित्रम्।

अवतमसविभेदसाधुकारस्फुरितरुचिप्रसवावृतांगयष्टिम् ॥ ६ ॥

जिसप्रकार बांससे देदीप्यमान अग्नि पैदा होती है उसीप्रकार समस्त जगतमें पवित्र और अंधकार नाश करने वाली मनोहर किंतु देदिप्यमान कांतिसे व्याप्त शरीरके धारक भगवान जिनेंद्रको माता ब्रह्मदत्ताने जना ॥ ६ ॥

उपनतमुखसुप्रसन्नदिक्कं नियमितसर्वरजःकणानुबंधम् ।
जिनवरजनने जगत्समस्तं क्षणमिव मुक्तमभूदमुक्तरागम् ॥ ७ ॥

तीन लोकके नाथ भगवान जिनेंद्रके जन्मते समय धूलि के कणोंके नियमित हो जानेपर समस्त दिशा निर्मल हो गईं उससमय क्षणभरके लिये समस्त जगत शांत होगया और उसके आनंदका पारावार न रहा ॥ ७ ॥

नवपरिमलसौरभावकृष्टभ्रमदलिमेचकितान्मरुत्पथाग्रात् ।
अविरलबहला सुरद्रुमाणां नृपतिगृहे निपपात पुष्पवृष्टिः ॥ ८ ॥

उस समय मनोहर सुगंधिसे खींचे गये जो भन भनाट करते हुए भ्रमर उनके संबंधसे चित्र विचित्र और उत्कृष्ट सुगंधिको धारण करनेवाले कल्प वृक्षोंसे जायमान पुष्पोंकी वर्षा आकाशसे राजा विश्वसेनके मंदिरमें होने लगी ॥ ८ ॥

जय जय भगवज्जिनेंद्रचंद्र त्रिभुवनजीवनिकायनित्यबंधो ।
श्रुतिपथमधुरा सरस्वतीयं गगनतले सकले समुत्ससर्प ॥ ९ ॥

तीनों लोकके विनाकारण बंधु हे भगवान जिनेंद्रचंद्र आप जय वंते रहें इसप्रकार कानोंको अतिशय प्यारे लगने वाले शब्द समस्त आकाशमें व्याप्त होगये ॥ ९ ॥

जिनजननमवेत्य देवराजः प्रचलत्पीठतया सहामरेन्द्रैः ।
उदितसद्धनवर्त्मना प्रतस्थे निटिलनिवेशितपाणिपद्मकोशः ॥१०॥

भगवान जिनेद्रके जन्मके कारण ज्योंही इन्द्रका आसन कम्पायमान हुआ त्योंही अवधिज्ञानके बलसे उसने भगवान जिनेद्रके जन्मका निश्चय कर लिया । उन्हे हाथ जोड परोक्ष नमस्कार किया और देवोंके साथ बहुत शीघ्र आकाश मार्गसे बनारस की ओर चल दिया ॥ १० ॥

परिपतदमरद्रुमप्रसूनैश्चलदिभपर्वतमुद्रिताखिलाशम् ।
अमरनटीलतासहस्रैर्वनमिद जंगममंबरं बभूव ॥ ११ ॥

उससमय चारो ओर कल्पवृक्षोंके पुष्प बिखरते थे । चलते हुए हाथीरूपी पर्वतोंसे समस्त दिशाएं व्याप्त थी और हजारों देवांगनाएं उससमय लता सरीखी जान पडती थीं इसलिये आकाश उससमय चलता फिरता वन सरीखा मालूम पडता था ॥ ११ ॥

अनिमिषमणिभूषणाभिसर्प्पद्विविधरुचिप्रसरावरुद्धदिक्कं ।
जलधरपथमदभ्रमभ्रशून्यं शतमखचापमयं व्यधत्त विश्वम् ॥१२॥

देवोंके चित्रविचित्र मणियोंके भूषणोंकी कांतिसे उससमय समस्त दिशा व्याप्त थीं इसलिये मेघरहित समस्त आकाश उससमय इन्द्र धनुषकी तुलना करता था । इन्द्रधनुषके समान चित्र विचित्र दीख पडता था ॥ १२ ॥

श्रिय इव सदृशो विभक्तलास्या कृतपदसंधिभिरुद्दिरेऽवरुंदैः ।

प्रविकचकलधौतपत्रपद्मैर्गगनसरोवरतत्क्षणोपलब्धैः ॥ १३ ॥

सुवर्णके पत्रोंसे शोभित तत्काल वर्षेहुए फूले कमलोंपर नृत्य करनेवाली देवांगना उससमय साक्षात् लक्ष्मी जान पडतीं थीं ॥१३॥

प्रविलसदमरेंद्रपद्मरागस्फुरदुरमालिमरीचिवीचिगर्भम् ।
मधुरामिव विनिशम्य देवगीतं किशलयितं रसिकं नभो बिभासे ॥१४॥

उससमय देवोंकी देदीप्यमान पद्मरागमणियोंकी बनी- हुई मालाओंकी लाल लाल किरणोंसे सब ओर व्याप्त हुआ रसिक आकाश ऐसा जान पडता था मानो देवोंके महा मनो- हर प्यारे गीतोंके सुननेके कारण यह नवीन नवीन कोपलों से व्याप्त होगया है। अर्थात् पद्मराग मणियोंकी लाल २ किरणें नहीं थीं कोपल थीं ॥ १४ ॥

घनपथमुकुरोदरावकीर्णैः कनकदलैर्विलसन्महोत्पलौघैः ।
रतिमधुरतया दधे दिवौकोयुवतिमुखप्रतिबिंबविभ्रमश्रीः ॥ १५ ॥

सुवर्णमयी पत्रोंसे देदीप्यमान कमलोंसे जिससमय आकाशरूपी निर्मल दर्पणका मध्य भर गया उससमय वह ऐसा जान पडनेलगा मानो देवागनाओंके कमलके समान शोभायमान मुखोंकी उसने प्रतिबिम्ब ही धारण करली है। अर्थात् आकाशरूपी दर्पणमें वे कमल न थे किंतु कमलके मुखवाली देवागनाओंके मुखोंके प्रतिबिम्ब थे ॥ १५ ॥

स्फुटरुचिरलकाकरावरुद्धा त्रिदशगणैर्विविधा तदा सुमालिः ।

जलधरानिकुरंबनिर्गृहीतक्षणरुचिरुच्यगुणैरिव प्रयुक्ता ॥ १६ ॥

देवगण जो उससमय पुष्पवर्षा करते थे उसपर देदीप्यमान कांतिकी धारक बिजलीकी किरण पडती थीं इसलिये ऐसा मालूम होता था कि पुष्पवर्षा नहीं किंतु मेघोंके समूहसे बाहर निकली हुई बिजलीके मनोहर गुण हैं ॥ १६॥

चलदिभकरटच्युतश्च पश्चादलिपटलाभिगमादिव प्रवृद्धः।
अजनयदजरन्मदप्रवाहः सुरपथकर्दमविभ्रमं जनस्य ॥ १७ ॥

चलते हुए हाथियोंके गंडस्थलोंसे झरनेवाला, भ्रमरोंके समूहसे और भी वृद्धिको प्राप्त, मदका प्रवाह उससमय ऐसा जान पडता था मानो आकाशमार्गमें यह कीचड है। अर्थात् काला काला मद कीचड़ सरीखा जान पडता था ॥

अविरलमवलीढदिग्विभागा रयचलिताः कलधौतवैजयंत्यः।
ततमुखमहिमोपलब्धदीर्घस्थितय इवावबभुस्तडिद्गुणौघाः ॥१८॥

अधिकतासे हर एक दिशामें व्याप्त, वेगसे चलनेवाली और तत आदि बजनेवाले वाजोंसे जिनकी स्थिति बहुत कालतक निश्चित जान पडती थी ऐसी सुवर्णमयी पताका उससमय बिजलीके गुणोंके समान जान पडती थीं॥ १८॥

हयगवयगजादयो वहंतो दिविजपतेस्तनुरूपभूषणाद्याः।
भवविपुरहरन्मनांसि पुंसां पिहितदिशस्तदनन्ययोगवृत्त्या ॥ १९ ॥

इंद्रके शरीरके अनुरूप अपने अपने शरीरों पर भूषणोंको धारण करनेवाले और अपने अनन्य लभ्य संयोगसे स-

भस्त दिशाओंमें व्याप्त घोडे रोज और हाथी आदिक उस-समय अपनी शोभासे मनुष्योंके जित्तोंकी हरण कर-ते थे ॥ १९ ॥

मृदुरसगमनेन वारिणासौ सुरपतये समुपस्थिताय देवी।
कृततनयसनाथमातृपार्श्वे जिनशिशुमुत्प्रमदा शची जहार ॥ २०॥

मंद मंद किंतु मनोहर गमन करनेवाले हाथीसे जिसस-मय इन्द्र बनारस आया उससमय इंद्राणी माताके गर्भगृहमें गई और भगवानकी ही आकृतिका दूसरा बालक माताकी गोदमें सुला कर एवं बालक भगवान जिनेंद्रको लाकर इंद्रकी गोदमें समर्पणकर दिया ॥ २० ॥

अभिनवजिनदेवचन्द्रदृष्टया निटलहटस्खुरपाणिसंपुटौघैः।
अविकचदलदीर्घिकोरुनालस्थगितमिवारुरुचे नभस्तटाकम् ॥२१॥

नवीन भगवान जिनेंद्र चंद्रके देखते ही देवोंने अपने हाथ जोर कर मस्तकों पर रखलिये इसलिये उससमय आ-काश रूपी तालाब ऐसा जान पडता था मानों नहीं हैं विक-सित दल जिन्होंके और लंबे लंबे नालोंके धारक कमलोंसे ढका हुआ है अर्थात् चंद्रमाके रहते कमल विकसित नहीं होते इसलिये देवोंके वे जोडे हुए हाथ न थे किंतु भगवान जि-नेंद्र रूपी चंद्रमाके रहनेसे मुकलित कमल थे और उन जोडे हुए हाथोंके नीचे जो कुहनियां थीं वे कमलोंके विशाल नाल दंड थे ॥ २१ ॥

सरभसहतदुंदुभिस्वनौघः सुरजयनिस्वनबृंहितप्रसूतिः ।
व्यघटयदिव दिक्षु संधिबंधं भयरसराभसिकप्रमद्गजासु ॥ २२ ॥

देवोंके जय जय इसप्रकारके विपुल शब्दोंसे जिसकी और भी अधिक महत्ता बढ गई है ऐसा बडे जोरसे दुंदुभियों का शब्द होने लगा उससे ऐसा जान पडता था कि भयभीत हो दिग्गजोंके इधर उधर भगजाने पर आपसमें जो मिली हुई दिशाएं है वे टूट कर खंड खंड हो जायगी ॥ २२ ॥

प्रवितननिजपाणिपल्लवेऽसौ भुवनगुरुप्रियया समर्प्यमाणः ।
स्तुतिमुखरमुखांबुजेन वृष्णा प्रतिजगृहे स हि कर्मकारिजिष्णुः॥२३॥

इंद्राणी भगवानको लाई उससमय उनके लेनेके लिये इंद्रने हाथ पसार दिये और मुखसे वार वार स्तुति करते हुए इंद्रने बडे आनंदसे समस्त कर्मरूपी शत्रुओंके विजयी भगवानको ग्रहण किया ॥ २३ ॥

स्फुटदरुणपलाशपद्मकल्पं प्रणिदधतापि मुहुः सहस्रमक्ष्णाम् ।
जिनवपुषि विडौजसा न लेभे भवहरधामभृति प्रमोदतृप्तिः ॥२४॥

संसारके नाश करनेवाले भगवान जिनेंद्रके मनोहर रूपके देखनेके लिये इंद्रने खिले हुए लाल कमलके समान हजार नेत्र धारण किये तथापि उसकी तृप्ति न हुई ॥ २४ ॥

प्रतिनवनयनाभिरम्यदीप्तिं बहलतमालरुचिं वहज्जिनेंद्रम् ।
स दिनकृदुदयाद्रितुल्यलीलः कुलिशधरः प्रति मंदरं प्रतस्थे ॥२५॥

धारण किये गये नवीन हजार नेत्रोंकी छाया पडनेसे अत्यंत मनोहर और तमालके वृक्षोंकी कांतिको धारण करनेवाले भगवान जिनेंद्रको लेकर जिससमय इंद्र मेरु पर्वतकी ओर चला उससमय वह ऐसा जान पडता था मानो सूर्यको धारण करनेवाला उदयाचल पर्वत है ॥ २५ ॥

प्रचिसरदमृतोदबिंदुलब्धस्फुटजडिमासनमेरुगंधबंधुः ।
अलिरवमुखरश्च मातरिश्वा स्वयमिव वर्त्म दिशं ववौ तदग्रे २६

जिससमय इंद्र भगवान जिनेंद्रको लेकर मेरूकी ओर चलने लगा उससमय झरते हुए अमृतजलसे शीतल मेरूपर्वतकी गंधका प्रेमी और भ्रमरोंके झंकार शब्दोंसे मनोहर पवन, जिस दिशामें भगवान जा रहे थे उसी दिशामें अनुकूल रूपसे वहने लगी ॥ २६ ॥

पटुरवपरिवादिनीकहूहूप्रमुखमुखोद्गततांडवादिभेदम् ।
समरसहृतसर्वजीवचेतो वियति जनस्तवगीतमुज्जजृंभ ॥ २७ ॥

चटुल शब्द करनेवाले हूहू आदि गंधर्वोंके मुखसे जहां पर तांडव आदि नृत्योंके जुदे जुदे भेद मालूम हो रहे हैं और जो मनुष्योंके चित्तको हरण करनेवाला है ऐसा मनुष्योंके स्तोत्रका गीत उससमय आकाशमें व्याप्त होगया ॥ २७ ॥

अकृषत कृतवेषयानभूषा विकृतरसाः खलु किल्बिषाः प्रमोदम् ।
बहुरसपरिहासहेतुनाथ स्फुटपटवस्त्रिदशाधिपस्य देवाः ॥ २८ ॥

नवीन नवीन वेश और भूषणोंके धारक, विकृत रसके पात्र चतुर किल्विष जातिके देवोंने उससमय अनेक प्रकारके परिहासके कारण कार्योंसे इंद्रको अतिशय आनंद उपजाया ॥ २८ ॥

जलधरपटलोरुपापवेशात्क्षणविरहव्यथयाप्यलीढपूर्वाः ।
प्रतिपदमुदवेजयन् मृगाक्षीः पथि मरुताममराः प्रहासहेतोः २९

हंसीके लिये मेघोंकासा काला वेश धारण कर और अपना असली स्वरूप छिपा कर देव गण, पहिले क्षणभरके लिये भी कभी विरह व्यथाको न सहनेवाली देवगनाओंको पग पग पर व्याकुल करते चले जाते थे ॥ २९ ॥

मदकरिचरणाभिघातपिष्टैर्घनपटलैर्मुमुचे पयःप्रपूरः ।
परिमलमदाविंदुना धारित्री सुरभिरभाव्यत येन सर्वतोऽपि ॥३०॥

मत्त हाथियोंके पैरोंसे खुदने पर मेघोंसे पानी गिरने लगा इसलिये मद मिश्रित जलकी बूंदोंसे उससमय चारो ओर पृथ्वी सुगंधित होगई ॥ ३० ॥

अपसरत पुरः प्रयात जैनीस्तनुत नुतीर्मतिविभ्रमच्छिदायै ।
इति जुघुषुरमोघमिंद्रसेनागतिनियमाधिकृताः प्रसन्नलेखाः ॥३१॥

हटो, आगे चलो और अज्ञानताके नाशके लिये भगवान जिनेंद्रकी स्तुति करो इसप्रकार जो इंद्रकी सेनाके चलानेमें अधिकारी थे और जिनकी आज्ञा दुर्धर्ष थी वे आगे बोलते चले जाते थे ॥ ३१ ॥

जिनपतिमवलोक्य रत्नचक्षुर्निजशिखरैकशिखामणिं नगेशः ।
मुदित इव भृशं ननर्त वायुप्रचलितकल्पतरुप्रपीनबाहुः ॥ ३२ ॥

रत्न स्वरूप नेत्रोंके धारक मेरुपर्वतने जिससमय अपनी शिखरके एक शिखामणि भगवान जिनेंद्रको देखा, पवनसे हिलते हुऐ कल्पवृक्ष ही जिसकी मोटी मोटी भुजा हैं ऐसा वह मेरु पर्वत मारे आनंदके नाचने लगा ॥ ३२ ॥

अविरलधवलातपत्रशुभ्रत्रिदशपथः स दिवौकसां प्रवाहः ।
स्वयमिव जिनदेवमज्जनार्थं गिरिशिखरं प्रययौ पयः पयोधेः ॥३३॥

अपने सफेद छत्रोंसे समस्त आकाशको सफेद करनेवाला देवोंका समूह उससमय ऐसा जान पडता था मानों भगवान जिनेंद्रके अभिषेकके लिये क्षीरसागरका जल ही मेरुकी शिखर पर जा रहा है ॥ ३३ ॥

प्रतिफलितनिलिंपभूरिकोलाहलजयकारबृहद्दरीमुखौघैः ।
गिरिरुरुमुकुलस्थलाब्जपाणिर्भुवनगुरुस्तवनं खलु व्यधत्त ॥ ३४ ॥

देवोंके जयकारके कोलाहलसे मेरु पर्वतकी समस्त गुफाएं शब्दायमान थीं और वहां पर उससमय स्थल कमल (गुलाव) मुकलित थे इसलिये उससमय मेरुपर्वत ऐसा जान पडता था मानों हाथ जोड कर इंद्र वा भगवानकी स्तुति कर रहा है । अर्थात् जयकारसे गुफाओंका शब्द ऐसा जान पडता था मानो वह स्तुतिका शब्द है । और मुकलित स्थल कमल मेरुपर्वतके जोडे हुए हाथ जान पडते थे ॥ ३४ ॥

पृथुमणिमयपांडुकंबलाख्यप्रथितशिलास्थितरत्नसिंहपीठम्।
जिनपतिमधिरोप्य देवराजः स्नपनविधावधिकोयमभ्युयुक्त ॥३५॥

मेरुपर्वतकी प्रसिद्ध मणिमयी पांडुकशिलापर स्थित रत्नमयी सिंहासन पर भगवान जिनेंद्रको विराजमान कर इंद्र उनके अभिषेकके लिये परम उद्योग करने लगा ॥३५॥

अमृतमुपनिनीषवो नगेंद्रादमृतभुजः सविलासमासमुद्रात्।
अविरलगतयो नभस्यभूदन् दृढतरसेतुनिबंधतुल्यलीलाम् ॥३६॥

शीघ्रगतिसे जलको लानेवाले देवगण मेरुपर्वतसे क्षीर समुद्र पर्यंत उससमय ऐसे जान पडते थे मानो यह मजबूत सेतुबंध है अर्थात् जिसप्रकार लंकामें जानेके लिये रामचंद्रके समय सेतुबंध (पुल) की रचना की गई थी उसीप्रकार मेरुपर्वतसे क्षीर सागर पर्यंत लडीवद्ध देव उससमय सेतुबंध सरीखे जान पडते थे ॥ ३६ ॥

किमगमदमृतार्णवस्स्वमूर्त्या दिविजगिरिं दिविजैरुतोपनिन्ये।
अविदितमिति केवलं लुलोके नभसि वहन्नमलस्तु दुग्धराशिः ३७

उससमय आकाशमें बहनेवाला क्षीर समुद्र देवोंको ऐसा दीख पडता था कि यह स्वयं मेरु पर्वतपर आगया है! कि देव इसे मेरुपर्वत पर ले आये हैं ? ॥ ३७ ॥

प्रविकचकुमुदैरिवोद्बभासे पयसि तरच्चरलैस्तु तारकौघैः।
तदुभयतटभित्तिभिस्तु लेभे प्रविततशीकरभूरिविभ्रमश्रीः ॥ ३८ ॥

मेरु पर्वतके दोनों ओर जलके कण विस्तृत थे। सब जगह जलहीजल दीख पडता था इसलिये उससमय, उसजलमें मेरुपर्वतके मध्यभागमें प्रदक्षिणा देनेवाले तारागण ऐसे जान पडते थे मानों खिले हुए ये कमल हैं ॥ ३८ ॥

बहुबहुमुखबाहुलीढपृष्ठैः कनकघटैः स वृषाकपिर्विरेजे ।
भुजबलदलितोद्धतैरिवाद्रेः पृथुतरशृंगसहस्रभूरिभारैः ॥ ३९ ॥

भुजाओंके बलसे तोडीगईं कठिन किंतु विशाल हजारों शिखरोंके समान एवं जिनका पृष्ठ भाग अनेक देवोंकी विशाल भुजाओंके आश्रित है ऐसे चारोओर सुवर्ण मयी घडोंसे उस समय इन्द्र बडा ही शोभनीक जान पडता था ॥ ३९ ॥

जिनवरशिखरेंद्रमध्यवर्षत् सुरससुदुंदुभिमंद्रनादगर्जः ।
परिगतवनिताताडिल्लतांकः पवनपथं पिदधन् महेंद्रमेघः ॥ ४० ॥

भगवान जिनेंद्र और मेरुपर्वतके मध्यमें वर्षने (रहने) वाला, मनोहर दुंदुभियोंके शब्दरूप गर्जनाका धारक और चारो ओर खडीहुई देवांगनारूपी विजलीसे व्याप्त शक्तिशाली इन्द्ररूपी मेघने उससमय समस्त आकाश व्याप्त कर रक्खा था ॥ ४० ॥

अवितविकचावनीविलोलद्रुहलपयःप्रसरेण शैलभर्तुः ।
त्रिभुवनगुरुभारखिन्नखिन्नैरिव सकलैरपि सिश्विदे तदंगैः ॥४१ ॥

उस समय मेरुपर्वतकी विस्तृत और प्रफुल्लित भूमिपर

सब ओर जल ही दीख पडता था इसलिये वह मेरुपर्वत ऐसा जान पडता था मानो तीन भवनके गुरु भगवान जिनेंद्रके भार सहनेमें समर्थ न होनेके कारण सब ओरसे उसके शरीर से पसीना छूट रहा है ॥ ४१ ॥

सममहसि महागिरींद्रतल्पे प्रदरमृते जिनमज्जनांबुराशौ ।
अवमथनसुखागतो वदंति कुलिशभृतो दिविजैर्ध्रुवं विजज्ञे ॥४२॥

उससमय समान कांतिके धारक, क्षीरसमुद्रके जलसे सब ओर सफेद दीख पडने वाले मेरुपर्वतपर रहनेवाला क्षीर-सागर देवोंको ऐसा मालूम पडता था मानो इंद्र द्वारा मथेजानेपर सुख मिलेगा इसी अभिलाषासे वह मेरु पर्वतपर आया है ॥ ४२ ॥

पृथुतरविटपावबद्धपाता चमुरधिकं वहलाः पयःप्रवाहाः ।
जिनवरसवनोत्सवे निबद्धा गिरिपतिनेव सितायताः पताकाः ४३

उससमय विशाल वृक्षोंपर गिरनेवाला सुगंधित जलका प्रवाह ऐसा जान पडता था मानों भगवान जिनेंद्रके उत्सवमें स्वयं मेरु पर्वतने सफेद विशाल पताकायें फहराई हैं ॥४३॥

अतिजवकृतपातपूर्वतस्योच्छलितनभःप्रसृतैः पयःकणौघैः ।
भगवति कुसुमोपहारलीलामिव मुदिताः ककुबंगना विभेजुः ४४

बडी शीघ्रतासे जमीनपर गिरकर पीछे उछलने वाले जलके प्रवाहसे उससमय ऐसा जान पडता था मानो प्रसन्न

होकर दिशारूपी स्त्रियोंने भगवान जिनेन्द्रके लिये फूलोंके मनोहर हार धारण किये हैं ॥ ४४ ॥

अभिषवजलभूरिपूरमग्नैरमरगिरेः शिखरैश्च सामिदृश्यैः ।
अधिजलनिधिदेववृंदमुक्तभ्रमदुरुहेमघटोपमा डुढौके ॥ ४५ ॥

उससमय भगवान जिनेन्द्रके अभिषेक जलमें मग्न, आधे दीखनेवाले मेरुपर्वतके शिखर; ऐसे जान पडते थे मानो क्षीरसागरके जलमें देवोंद्वारा छोडे गये सुवर्णमयी विशाल घडे हैं ॥ ४५ ॥

अतिगुरुगुणजैनभक्तिगर्भा भृशममृताः स्नपनोदकावगाढाः ।
अधिकृतजलकेलयः स्वकोलाहलबधिरास्तु दिशस्तदैव चक्रुः ४६

उससमय भगवान जिनेंद्रके अभिषेकके जलसे लथड पथड और उस जलमें क्रीडा करने वाले एवं भगवान जिनेंद्रके निर्मल गुणोंकी भक्ति करनेवाले देवोंने समस्त दिशाओंको अपने कोलाहलके शब्दोंसे वधिर करदिया । कुछ भी सुनाई नहीं पडता था ॥ ४६ ॥

गिरिवरमभिषिच्य देवमेवं त्रिदशपतिः स बहूकृतप्रमोदः ।
जिनगुणमणिबंधबंधगेयं भुवनगुरोः स पुरोऽमरो ननर्त ॥ ४७ ॥

इसप्रकार मेरुपर्वतपर भगवान जिनेंद्रका अभिषेककर जिसमें भगवानके गुणरूपी मणियां गुथीहुई हैं ऐसे मनोहर गायनके साथ प्रसन्न चित्तके धारक, इंद्रने भगवान जिनेन्द्र के सामने नृत्य करना प्रारंभ कर दिया ॥ ४८ ॥

अगणितभुजभूरिदीर्घशाखा नटदमरैः स लसल्लतासहस्रैः।
स्फुटरसमनटन्नगेंद्रतल्पे कुलिशधरश्चलतीव कल्पवृक्षः ॥ ४८ ॥

उससमय मेरुपर्वतपर अनेक भुजारूपी विशाल शाखाओं का धारक और उनपर नृत्य करनेवाले देवरूपी हजारों लताओंसे शोभित चलते फिरते साक्षात् कल्प वृक्षके समान इंद्र नृत्य करता दीख पडता था ॥ ४८ ॥

उपनतदिविजांगनामनोज्ञक्रममृदुगेयगुहामुखप्रणादी।
नटदनिमिषभर्तृपादहेलाहतमसहिष्णुरिवाचलश्चुकूज ॥ ४९ ॥

उससमय आई हुई देवांगनाओंके उदात्त अनुदात्त आदि क्रमोंके साथ गाए हुए मनोहर गीतोंसे मेरु पर्वतकी समस्त गुफाएं शब्दायमान होगई थीं इसलिये ऐसा जान पडता था मानो नृत्य करनेवाले इन्द्रके पादाघातको सहन न कर सकनेके कारण मेरुपर्वत चिल्ला रहा है ॥ ४९ ॥

अतिचिरमतिसंविधाय पूजामखिलगुरोरमलत्रिबोधबंधोः।
मुकुलितकरपद्मबंधुतालः स्तुतिमनुरागपरो हरिश्चकार ॥ ५० ॥

इसप्रकार समस्त जगतके गुरु और अनंत ज्ञानके धारक भगवान जिनेन्द्रकी बहुत कालतक पूजाकर इन्द्रने हाथ जोड़कर बडे हर्षके साथ इसप्रकार उनकी स्तुति करनी प्रारंभ करदी ॥ ५० ॥

जय जिन भवनोपकारसार त्रिदिवनवागम दिव्यबोधवेद्य।
जय जय जिननिर्वृतादिस्वाद्याशितिसमयेप्यवबुद्धविश्वतत्त्व ॥५१॥

हे भगवन्! आप तीनों लोकके प्रधान उपकारी हैं। स्वर्गसे आनेवाले और दिव्य ज्ञानके ज्ञेय हैं एवं किसी प्रकारके चारित्रके धारक न होने परभी आप लोकके समस्ततत्त्वोंके जानकार हैं। इसलिये आप सदा जयवंते रहें ॥ ५१ ॥

इदमसकृदनादिकर्मबंधप्रबलतमोवृतिमद्विवेकनेत्रम् ।
कथमिव भगवंस्तव प्रसादस्वाहितमृते जगदीक्षितुं क्षमेत ॥ ५२ ॥

हे भगवान्! आपकी कृपास्वरूप आत्महितके विना अनादि कालसे संबंध रखनेवाले प्रबल कर्मोंका नाशक विवेक स्वरूप नेत्र लोगोंको प्राप्त नहीं हो सकता आपकी कृपाके विना वे कर्मोंके नाशकेलिये समर्थ नहीं हो सकते ॥

शिवपुरशरणावरं तथा स्तात् व्यपनय दुर्नयकटकप्रबद्धान् ।
इह कृतगमनानुरोधयोग्यानमृतवचोभिरशैशवप्रधानैः ॥ ५३ ॥

हे भगवान्! आप मोक्षप्रदान करनेवाले हैं यह वात तो पीछे है सबसे पहिले आपके मार्गपर चलनेवाले जो लोग दुर्नय रूपी कांटोंमें फसे हैं उन्हे बालकालमें सर्वथा दुष्पाप्य अपने मनोहर वचनोंसे सुमार्गपर लाइये। उनका उद्धार करिये ॥ ५२ ॥

चिरमिति रचितस्तवं जिनेंद्रं सुरपतयः समुपेत्य वारणासीम् ।
अभिगमकृतसंभ्रमाय राज्ञे सपदि समर्च्य वचस्तदेवमूचुः ॥५४॥

इसप्रकार बहुत कालतक मेरुपर्वत पर भगवान की स्तुतिकर देवगण बनारस लौट आये। उन्हें इसप्रकार सन्मानके साथ

स्वय भगवानके लोटता देख राजा विश्वसेनको वडा आश्चर्य होने लगा। इसलिये पहिले उनकी पूजा सत्कार कर इंद्र इस प्रकार उनसे कहने लगा॥ ५४॥

अयमिह नियमो दिवस्पतीनां जिनपतयो यदमीभिरभ्युपेतैः।
नृप निरुपमपंचसूत्सवेषु स्थिरगुरुभक्तिभिरर्चिता भवंति॥ ५५॥

हे राजन्! जो देव यहां उपस्थित हैं वे जिस समय भगवान जिनेंद्रका जन्म होता है उससमय गर्भ जन्म आदि पांचो कल्याणोंमें आकर उनकी विशाल भक्तिसे पूजा करते हैं यह नियम है॥ ५५॥

तदसुमुपनिधाय मातुरग्रे कृततनयं नयवर्त्मतत्त्ववेदी।
गिरिपतिमुपनीय नाकनाथैरमृतजलैर्भगवान् समभ्यषेचि॥ ५६॥

इसलिये माता ब्रह्मदत्ताकी गोदमें नवीन कृत्रिम बालक सुलाकर नयमार्गके ज्ञाता भगवानको मेरु पर्वतपर लेजाकर देवोंने उनका क्षीर सागरके जलसे अभिषेक किया है॥ ५६॥

अनुपमसुखधामपार्श्ववृत्त्या सकलजगद्विषयप्रभावभूम्ना।
सविनयमयमुच्यतां समस्तैर्भुवनगुरुर्वसुधेशपार्श्वनाथः॥ ५७॥

ऐसा कहकर इंद्रने, उससमय भगवान जिनेंद्रके पार्श्व (पास) में अद्वितीय सुख और कांति दीख पडती थी और समस्त जगतपर उनका प्रभाव पडा हुआ था इसलिये तीन लोकके स्वामी जिनेंद्रका पवित्र नाम पार्श्वनाथ रख दिया॥

निरवाधिनिजानिर्मलावबोधव्यवसितविश्वविशेषतत्त्ववृत्तिः ।
त्वमिव च न परो जनः कृतार्थो यदसि गुरुर्जगतां गुरोरपि त्वम्

और वह इसप्रकार राजा विश्वसेनसे विनय पूर्वक कहने लगा कि निर्मर्याद निर्मल अवधि ज्ञानसे समस्त पदार्थोंके स्वरूपको निश्चय करनेवाले राजन्। आपके समान अन्य कोई भी मनुष्य धन्य नहीं क्योंकि इस समय आप तीन लोकके गुरु भगवान जिनेंद्रके भी गुरु–पिता हैं ॥ ५८ ॥

जिनवरजनकप्रमोदहेतोर्महिमपरं दिविजाः पुनर्विधाय ।
कृतजिननमना दिवं प्रजग्मुर्मणिमुकुटच्छविमेचकीकृताशाः ५९

इसप्रकार भगवान जिनेंद्रके पिता राजाविश्वसेनको आनन्दित कर उनकी पूजा की । भगवान जिनेन्द्रको नमस्कार किया और देदीप्यमान अपने मणिमय मुकटोंकी प्रभासे समस्त दिशाओंको जगमगानेवाले समस्त देव निज धाम स्वर्गको चलेगये ।। ५९ ।।

प्रतिदिनममरोपनीतभोगाननुभवतः परमेश्वरस्य तस्य ।
कतिपयदिवसैर्व्युदस्य वाल्यं तदनुभवा वयसा समुद्बभूवे ॥६०॥

इस प्रकार प्रतिदिन देवोपनीत भोगोंके भोगने वाले भगवान पार्श्वनाथकी कुछ दिनवाद बालक अवस्था व्यतीत होगई उसके पीछे आनेवाली अवस्था प्रगट होगई। अर्थात् भगवान जिनेन्द्रने युवास्थामें पदार्पण करदियां ॥ ६० ॥

हिमकरमुखमंबुजोपमाक्षं पुरपरिघायतबाहु तुच्छमध्यम् ।

पृथुतराविलसद्विशालवक्षस्तरलतमालरुचिप्रकाशरुच्यम् ॥ ६१ ॥

भगवान जिनेन्द्रका मुख चंद्रमाके समान था। नेत्र कमलके समान थे। भुजा परिघाके समान विशाल थी। कटिभाग पतला और वक्षः स्थल मनोहर किंतु विशाल था। एवं शरीरकी कांति तमालवृक्षके समान मनोहर थी॥ ६१॥

अतिसितरुधिरं सरोजगंधि व्यपगतधर्मजलं मलादपोढम्।
असकलशुभलक्षणोपपन्नं प्रथमकसंहननं मनोज्ञकांतिम् ॥ ६२ ॥

कुलगिरितलभूमिसंधिबंधं श्लथपरिहासविधिक्षमं जवेन।
वपुरथ परमेश्वरेण बभ्रे शतमखहस्तसरोजराजविंबम् ॥ ६३ ॥

भगवान पार्श्वनाथका शरीर सफेद रुधिरका धारक, कमलके समान सुगंधिवाला, स्वेदजल मलमूत्र आदिसे रहित, समस्त शुभलक्षणोंका धारक, वज्रवृषभनराचनामक उत्तम संहननसे युक्त, महा मनोहर, कुल पर्वतके नीचेकी भूमिके समान संधियोंका धारक और कडा था एवं उसमें इंद्रके मनोहर कर कमलोंकी बिंब पडती रहती थी अर्थात् सदा उसकी सेवा इंद्र किया करता था॥ ६२–६३॥

इदमकथयदेकदा नृपाणां सदसि गते समुपेत्य पार्श्ववर्ती।
निटिलनिहितांजलिः सदूरादुपनतविस्मयचोदितः कुमारम् ॥६४॥

सभा लगीहुई थी। एक मनुष्य सभामें आया। कुमार भगवान जिनेंद्रको दूरसे ही नमस्कार किया और पासमें आकर बडे आश्चर्यसे यह कहने लगा॥ ६४॥

उपवनचलितेन देव कश्चिन्मुनिवृषभो दृढधीर्मया व्यलोकि।
ज्वलदतिबहलाग्निमध्यवर्तीरविगतदृष्टितया तपश्चरिष्णुः ॥ ६५ ॥

हे देव! मैं उपवनमें जारहा था कि मेरी दृष्टि एक मुनिपर पड़गई जो मुनि उत्तममुनि है। परम धीर वीर है। चारो ओर भयंकर रूपसे जलनेवाली अग्निके मध्यमें बैठकर और सूर्यकी तरफ दृष्टि लगाकर पंचाग्नितप तप रहा है॥

अनुचरवचनं निशम्य देव स्वमवदधौ नरकेन भूयदुःखम्।
बहुजलनिधिविंशतिं कुताश्चिन्निजरिपुरेव गतं मनुष्यभूयम् ६६
पुनरिदमवदत्स तत्त्ववेदी न भवति तस्य तपो न चोपयोगि।
अभिमतविषयोपसर्पणार्थं किमु कुपथेन कृतं भवेत्प्रयाणम् ॥६७॥
यदि तव न मतं तदेहि सद्यः स्वचक्षुर्वाणि तदग्रतः प्रतीतम्।
इति मदकरिकंधरं प्रपेदे मरकतशैलमिवान्यमंजनाद्रिम् ॥ ६८ ॥

अनुचरके वचन सुनकर भगवान पार्श्वनाथने अपने अवधिज्ञानसे यह निश्चय कर लिया कि अपना परम वैरी कमठका जीव बीसौं सागर प्रमाण नरककी आयु भोगकर मनुष्य होगया है और वही यह तप तप रहा है। तथा तत्त्ववेदी भगवान उस अनुचरसे यह कहने लगे कि— जो वह तप तप रहा है उसका तप उपयुक्त नहीं। उस मिथ्या तपसे स्वस्वरूपकी कभी प्राप्ति नहीं होसकती। ठीक भी है अभीष्ट पदार्थकी प्राप्तिकेलिये मिथ्यामार्गका आराधन करना ठीक नहीं। मिथ्यामार्गसे कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होस-

करती । यदि मेरे कहने पर तुझे विश्वास न हो तो चल मैं उसके आगे ही तुझे विश्वास कराये देता हूं । बस वे भगवान शीघ्र ही मत्त हाथीपर सवार होगये और उससमय वे ऐसे शोभित होने लगे जैसा मरकत (हरे) रंगका पर्वत काले अंजन गिरिपर स्थित हो अर्थात् भगवानका रंग हरा और हाथीका रंग काला था इसलिये काले हाथीपर सवार भगवान उससमय ऐसे जान पडते थे मानो काले पर्वतपर हरा पर्वत सवार है ॥ ६६-६८ ॥

पटुपटहरवं पुरो जजृंभे जयनिनदैरिति मांसलः प्रजानाम् ।
अकृत वसितमातपत्रमस्य श्रियमासितस्य गिरेरिवेंदुबिंबम् ॥ ६९ ॥

मत्त हाथीपर सवार हो जिससमय भगवान वनकी ओर जाने लगे उससमय मनोहर पटह वाजोंका शब्द उनके सामने होने लगा था और लोग जय जयकार शब्द करते थे । उससमय भगवानके ऊपर फिरनेवाला सफेद छत्र ऐसा जान पडता था मानो काले पर्वतपर साक्षात् चन्द्रमा है ॥ ६९ ॥

उपनतवति तत्र राजवीथीं विरचितमंगलरम्यकर्मशोभाम् ।
युवतिभिरतिचुक्षुभे समंतात् प्रभुमवलोकयितुं त्वरावतीभिः ॥७०॥

वंदनी कलश आदि मंगलीक मनोहर पदार्थोंसे जो अत्यन्त शोभायमान था ऐसे राज मार्गपर जिससमय भगवानकी सवारी आई उससमय उनके देखनेकेलिये नगरकी युवतियोंमें वडे वेगसे कोलाहल मच गया ॥ ७० ॥

करगतमुकुरात्मरत्नपात्रप्रतिमितवक्त्रतया तमीक्षमाणा ।
अविकचकनकांबुजेन काचित् प्रमदकृतेऽर्घमिवोज्जहार तस्मै ॥७१॥

हाथमें लगाहुआ जो दर्पण स्वरूप रत्नोंका पात्र उसमें जिसके मुखका प्रतिबिंब पडरहा है ऐसी स्त्रीने जिससमय भगवानको देखा उससमय ऐसा जान पडने लगा मानो आनंदमयी भगवानकेलिये फूलेहुए सुवर्णमयी कमलसे वह अर्घ दे रही है ॥ ७१ ॥

क्षणदर्शनपूर्वमीलिताक्षी स्मरविवशा तु तमेव भावयित्वा ।
अपसृतमपुनर्विलोकयंती निजमतिमेव निनिंद कापि मुग्धा ॥७२ ॥

कोई स्त्री भगवानको देखकर उसी क्षणमें नेत्र मूदकर कामदेवके वश हो उनकी मनही मन भावना करने लगी। जब भगवान आगे चलेगये और देर वाद नेत्रोंके खुलनेपर उसे न दीखे तो वही खिन्न हुई और अपनी वैसी बुद्धिको वार वार धिकारने लगी ॥ ७२ ॥

तदनु गद्गदयैव सौधशृंगे विषमतले पदसंविमादधाना ।
इत इतिभयचोदिता सखीभिः कथमपि काचन चेतनां प्रपेदे ७३

कोई स्त्री तो भगवानके देखनेमें ऐसी गाफिल होगई कि वह मकानकी छतपर सीढीपर पैर न रखकर अन्य जगह रखने लगी। जब सखियोंने उसे चेताया कि 'हैं यहां पैर मत रख गिरजायगी, तब उसे होश आया ॥ ७३ ॥

विकसितवदनांबुजा वराच्छस्फाटिकगृहस्य शिरोगता न कांगी।

कुचतटपीरमाल्येलख्यपत्रा नभसि गता नलिनीव निर्बभासे ७४

फूले हुए मुखरूपी कमलसे शोभित, स्वच्छ स्फटिकमयी घरकी शिखरपर स्थित और अपने कुचतटपर आलेख्यपत्र, मकरी आदि काढे जानेसे मनोहर कोई स्त्री तो आकाशमें कमलिनी सरीखी जान पडती थी ॥ ७४ ॥

निजगृहगुहरास्थिता गवाक्षागतनृपनंदनदर्शनोत्कदृष्टिः ।
रतिरसदयितानुरोधमेका न किमपि चित्रमयीव बुध्यतेस ॥ ७५ ॥

कोई कोई कामनी भीतर घरमें बैठकर गवाक्षसे भगवान जिनेन्द्रको देखकर उन्हीके दर्शनमें एकतान होजानेके कारण तस्वीर सरीखी जान पडने लगी और उससमय पतिद्वारा किये गये अनुनयको जरा भी न जान सकी ॥७५॥

मरकतभवनात्कुमारमन्या कनकमयीव दिदृक्षया व्रजंती ।
जलधरपटलादिवांजनाद्रिं प्रतिचलितेव तडिल्लता चकाशे ॥७६॥

अन्य स्त्री मरकत मणिके बने महलसे निकलकर सुवर्णमयी प्रतिमाके समान भगवान जिनेंद्रके देखनेकेलिये जाने लगी सो उससमय वह ऐसी शोभित होने लगी मानो मेघपटलसे निकलकर अंजनपर्वतकी ओर जानेवाली बिजली है ॥ ७६ ॥

नृपतनयकृतसरा नतभ्रूः स्वयमवलोक्य च नीविमुल्लसंतीम् ।
अवनतवदनैव सामिदृष्ट्या निकटगता त्रपया सखीरपश्यत् ७७

भगवानके देखनेमात्रसे स्मरपरवश कोई कामिनी तो अपने नीवीहीको देखने लगी और अर्धमीलित नेत्र हो नीचा ही मुख कीये रही। जब सखियोंने उसकी हंसी उडाई तो लज्जित हो टकटकी बांधकर उनकी ओर देखने लगी॥

नवनखपदमेदुरं वपुस्स्वं नियतिकरस्य पुरो विभावयंती।
कृतिरिव कुसमायुधस्य दस्योरिति निजगाद विनापि शब्दमेका॥

नवीन नखक्षतोंसे चित्रविचित्र अपने शरीरको भगवान जिनेन्द्रके सन्मुख प्रदर्शन करनेवाली किसी कामिनीने तो विना ही वोले यह कह दिया कि यह नखक्षत करना चोर कामदेवकी कृति है॥ ७८॥

मदकरिमुखरम्यहेमपट्टे कमलदृशः प्रतिबिंबिताश्च काश्चित्।
रतिपतिरचितैर्द्वितयिकायैगजमिव तेन समध्यरोहत॥ ७९॥

उससमय हाथीके मुखसे शोभित हेमपट्ट (सुवर्णमयी अंबारी) में वहुतसी कामिनियोंकी प्रतिबिंव पड रहीं थीं उससे ऐसा जान पडता था मानों कामदेवने उनकेलिये नवीन हाथी तयार किया है उस पर वे भगवान जिनेन्द्रके साथ चढी हुई हैं॥ ७९॥

अपसृतमपि तं नितंबवत्यो नृपसुतमेव पुरो निरीक्षमाणाः।
स्मरहतमतयस्तु राजवीथेरविकलतन्मयतामिवाभिजग्मुः॥ ८०॥

राजमार्गसे जब भगवान जिनेंद्र आगे बढ गये तो स्त्रियां उन्हींकी ओर टकटकी लगाकर देखती रहीं सो ऐसी जान

पडने लगीं मानों कामदेवसे बुद्धिके हरण हो जाने पर वे भगवान जिनेन्द्रमें ही तन्मय होगई हैं ॥ ८० ॥

इति सुखगमनेन देवदेवः स वनमुपेत्य ददर्श तापसं तम् ।
स्फुटमिदमवदज्ञ केन हिंसापरमिदमुच्चरासि त्वमल्पमेधः ॥ ८१ ॥

इसप्रकार सुखपूर्वक गमनकर जिससमय भगवान पार्श्वनाथ वनमें पहुंचे तो उन्होंने उस पंचाग्नि तप तपनेवाले तपस्वीको देखा और उससे यह कहा कि भाई ! अज्ञानी हो यह हिंसामय तप तु क्यों कर रहा है ? ॥ ८१ ॥

वच इदमवधीय तस्य कोपादवददभिज्वलिताभिरन्तनारिः ।
अनुचितमिदमाह कस्त्वदन्यो मुनिषु निरंतरसंपदुन्मादिष्णुः ८२

वह तपस्वी भगवानका पुराना बहुतकालका वैरी था। भगवानके वचन सुनते ही मारे क्रोधके वह भवलगया और इसप्रकार कहने लगा—तू इससमय निरंतर होनेवाली संपत्तिसे उन्मत्त है इसलिये तेरे सिवाय अन्य कौन मुनियोंसे अनुचित वचन कह सकता है ? ॥ ८२ ॥

अहसितवदनांबुजस्तदुक्त्या भुवनगुरुर्भगवांस्तु तत्प्रतीत्यै ।
अदलयदनलार्धदग्धमेधः परिदृढमुष्टिपरस्वधेन तेन ॥ ८३ ॥

तपस्वीके कठोर वचन सुनकर भी त्रिलोकीनाथ भगवानको कुछ भी क्रोध न आया वे हंसनेलगे और हाथमें कुल्हाड़ी ले अध जलती लकड़ीको फाड़ा ॥ ८३ ॥

परिणमदनलोष्मपाकजातश्रमभरितं भुजगं प्रियासमेतम् ।

जिनवररविरौदयत् स्वधाम्ना सकलमपास्य तताप तापसस्य ८४

भगवान जिनेंद्ररूपी सूर्यने जलतीहुई अग्निकी उष्णता से छटपटातेहुए नाग और नागनीको बाहर निकाला और अपने अलौकिक तेजसे तपस्वीके तपको खिडबिडकर उसे क्रुद्ध कर दिया॥ ८४॥

प्रणिहितमनसा गुरुस्तवेषु व्यथिततमोभुजगो विपत्तिकाले।
अपि लघुगणनेषु देवदेवो न हि कुरुते स कृती कदाप्यवज्ञाम् ८५

नाग उससमय मरणके सन्मुख था इसलिये आपत्तिकालमें भगवान जिनेंद्रने ज्योंही उसे पंच परमेष्ठी मंत्र सुनाया; चित्तको एकाग्र कर उसने सुना और उससे उसका अज्ञानांधकार दूर हो गया। ठीक है जो धर्मात्मा पुरुष हैं वे देवोंके देव भी हों तो भी तुच्छ प्राणियोंकी अवज्ञा नहीं करते। वे उनपर भी दया दिखाते हैं॥ ८५॥

परिगतवहनं व्युदस्य देहं भुजगपतिर्भवने बभूव देवः।
समजनि भुजगी च तस्य देवी विदलत्कोमलनीलनीरजाक्षी॥ ८६॥

मंत्रके प्रभावसे चारो ओरसे अग्निसे जलनेवाले शरीरका परित्याग कर नाग भवनवासी जातिका देव होगया और वह सर्पिणी प्रफुल्ल नीलकमलके समान नेत्रवाली उसी देवकी देवी हुई॥ ८६॥

पद्मावती च धरणश्च कृतोपकारं
तत्कालजातमवधिं प्रणिधाय बुद्ध्वा।

आनम्रमौलिरुचिरच्छविचर्चितांघ्रि—
मानर्चतुः सुरतरुप्रसवैर्जिनेंद्रम् ॥ ८७ ॥

जब वे नाग नागनी धरणेंद्र और पद्मावती हो गये तो उसीसमय प्राप्त अवधिज्ञानसे उन्हें अपने उपकारीके उपकारका ज्ञान हुआ । वे शीघ्र ही बनारस आये और नम्रीभूत मुकटोंकी मनोहर कांतिसे जिनके चरण पूजित हैं ऐसे भगवान पार्श्वनाथकी उन्होंने पूजा की ॥ ८७ ॥

लक्ष्मीधामश्रीजिनधर्मादपि बाह्यः
कायक्लेशादायुरपाये स तपस्वी ।
देवो जातः ज्ञातिमयासीदपि नाम्ना
भूतानंदो भावनदेवेष्वसुरेषु ॥ ८८॥

लक्ष्मीके स्थान श्रीजिनधर्मसे बाह्य होनेपर भी वह तपस्वी केवल कायक्लेशके प्रभावसे भवन वासीनिकायकी असुरजतिके देवोंमें वह भूतानंद जातिका देव हुआ ॥ ८८

श्रीमानूर्जितशासनो जिनविभुः श्रीवाराणस्यां वसन्
तत्तद्भासितसर्ववस्तुविसरत्स्फारावबोधद्युतिः ।
नागेंद्राद्युपनीतनित्यविलसद्भोगोपभोगावहो
देवः सप्रजयोश्चकार सुचिरं पित्रोस्स नेत्रोत्सवम् ॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वचरिते
महाकाव्ये कुमारचरितव्यावर्णनं नाम
दशमः सर्गः ।

प्रशंसितरूपसे शासन करने वाले, प्रयोजनीय समस्त पदार्थोंके धारक, विशाल ज्ञान स्वरूप कांतिसे शोभित, नागेंद्र आदि देवों द्वारा उपनीत नवीन नवीन भोग उपभोगोंके करनेवाले, वे जिनेंद्र देव भगवान पार्श्वनाथ; माता पिता और प्रजाके नेत्रोंको आनंद देते हुए बनारसमें सुखसे रहने लगे॥

इसप्रकार श्रीवादिराज आचार्य द्वारा विरचित श्रीपार्श्वनाथ जिनेश्वरके चरित महाकाव्यमें कुमार भगवानका चरित्र वर्णन करनेवाला दशवां सर्ग समाप्त हुआ।

ग्यारहवां सर्ग ।

श्रीरूपयौवनैर्धन्याः कन्याः सर्वे महीभृतः ।
वाराणसीमुपानैषुर्दातुं तस्मै जिगीषवे ॥ १ ॥

शोभा रूप यौवनसे मनोहर अनेक कान्याय भगवान जिनेंद्रकेलिये प्रदान करनेके लिये बहुत राजा उससमय बनारसमें आकर ठहरे थे ॥ १ ॥

विवाहमंगलेऽवश्यं विश्वसेनः कुतूहली ।
कुमारांतिकमागत्य ज्ञात्वावसरमब्रवीत् ॥ २ ॥

विवाहमंगलके कुतूहली राजा विश्वसेन भगवान पार्श्वनाथके पास गये और अवसर पाकर इसप्रकार कहने लगे ॥

विशुद्धज्ञानदेहस्य तव किं नाम कथ्यते ।
किं तु वाचालयत्यस्मानन्वयस्नेहसंभ्रमः ॥ ३ ॥

प्रियपुत्र ! आप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो । कौन बात उचित और कौन अनुचित है इसबातके पूर्ण जानकार हो इसलिये तुम्हारे लिये कुछ कहना व्यर्थ है तथापि आपकी ओरसे जो मेरे हृदयमें बलवान स्नेह बैठा है वह मुझे जबरन बुलवाता है ॥ ३ ॥

नित्यमानंदरूपस्त्वमस्त्यानन्दमयात्मनः ।
बहिर्भोगोचिते वस्तुविस्तरे कस्तवादरः ॥ ४ ॥

आप सदा आनंदस्वरूप हो इसलिये आनंदस्वरूप

आपका भोगके योग्य जो बाह्य पदार्थ स्त्री आदिक हैं उनमें कभी प्रेम नहीं होसकता ॥ ४ ॥

अतिसर्व्वस्वधाम्नस्ते किमेते पितरो वयम् ।
अथवा मणयः किं न पाषाणादुत्पतिष्णवः ॥ ५ ॥

परम कांतिके धारक आपके हम सरीखे नाचीज मनुष्य पिता माता हैं यह भी एक बेजोड बात है। अथवा ठीक ही है देदीप्यमान भी मणि पाषाणसे ही उत्पन्न होती है ॥ ५ ॥

त्वयैव कुलमस्माकं दीपितं किमिह द्युतम् ।
प्रदीपं जीवलोकनां त्वामेव प्रविदुर्बुधाः ॥ ६ ॥

भगवान् ! विशेष क्या ! आपनेही हमारा कुल दीपित किया हैं क्योंकि विद्वान लोग समस्त लोकको मार्ग सुझानेवाला आपको ही जाज्वल्यमान दीपक मानते हैं ॥ ६ ॥

अनुमत्या तथापीदं राजकं प्रतिमन्यताम् ।
कन्यारत्नप्रभाभिस्त्वामाराधयतुमागतम् ॥ ७ ॥

तो भी कन्या रत्न लेकर आपकी सेवाकरनेके लिये जो थे बहुतसे राजा आये हैं इनका सत्कार कीजिये । कन्याओंके साथ विवाहकी स्वीकारता दे इन्हें आनंदित करिये ॥ ७ ॥

भोगार्थमपि तद्वाक्यं तस्य वैराग्यमादधौ ।
मुख्यमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात्कृतात्मनाम् ॥ ८ ॥

यद्यपि राजा विश्वसेनका वचन भोगोंकी ओर प्रेरणा कर-

नेवाला था तथापि उसके सुननेसे भगवान जिनेंद्रको वैराग्य होगया ठीक ही है जो महानुभाव संसारके स्वरूपके भले-प्रकार जानकार हैं उनकी प्रवृत्ति इष्ट पदार्थकी सिद्धिकेलिये ही होती है; अन्य पदार्थकी सिद्धिकेलिये नहीं । भगवान को स्वस्वरूपकी प्राप्ति इष्ट थी इसलिये विषय भोगोंकी ओर उनकी प्रवृत्ति न झुकी ॥ ८ ॥

भवानुबंधिनो भोगान्वशिनस्तस्य जानतः ।
इति संसारधिक्कारी वितर्कोऽजनि कर्कशः ॥ ९ ॥

जितेंद्रिय भगवान जिनेंद्र भोगोंको संसारका ही कारण जानते थे इसलिये संसारको धिक्कार देनेवाला यह विचार उनके हृदयमें होने लगा ॥ ९ ॥

यद्योजयति भोगांगे जानन्नपि जनो मनः ।
अतः कूपनिपातोऽयं दीपहस्तस्य देहिनः ॥ १० ॥

विषय भोगोंके स्वरूपको जानकर भी जो मनुष्य उन्हीं-में अपने मनको लगाता है—उन्हें ही अच्छा समझता है वह हाथमें दीपक रहनेपर भी कूवेमें गिरता सरीखा जान पडता है ॥ १० ॥

वैराग्यं विषये पुसां विवेकस्य हि सत्फलम् ।
कालकूटं किमश्नीयादनभिज्ञ इवेरितः ॥ ११ ॥

विषयभोगमें वैराग्यका होनाही विवेकका उत्तमफल है ठीक भी है अनभिज्ञ—विषको न जानने वाला ही मनुष्य

विषयको खा सकता है बुद्धिमान नहीं। बुद्धिमान् तो विषसे उपरत ही होजाता है॥ ११॥

अदूरक्षेमदं नूनं प्राप्य मार्गमनर्गलम्।
प्रत्यावर्ति सको नाम प्रबुद्धः शुद्धदर्शनः॥ १२॥

निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक जिस विद्वान मनुष्यने शीघ्रही सुख प्रदान करनेवाले उत्तम मार्गका अनुसरण किया है फिर वह वहांसे नहीं लौटा। विषयोंमें लीन नही हुआ। उससे फिर उसने स्वस्वरूप मोक्ष सुखही प्राप्त कर लिया १२

दोषदृष्ट्या यदि त्याज्यो विषयस्तद्ग्रहेण किं?।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥ १३॥

अनेक दोषोंके घर स्वरूप विषयभोग जब सर्वथा त्याज्य हैं तब उनके ग्रहण करनेसे क्या प्रयोजन? सर्वथा उन्हें छोड ही देना चाहिये। ठीक भी है कीचडमें पैर फसाकर पाछे उसे धोना इससे उससे जुदाही न रहना। विषयोंको भोगकर उनको छोडे इससे विषयोंसे जुदाही न रहे॥ १३॥

पित्रे निवेदयत्येवमिदमेव तदागतैः।
देवैर्लौकांतिकैरूचे दिवः प्रणतमौलिभिः॥ १४॥

बस भगवान पार्श्वनाथ अपने पिता विश्वसेनसे यह निवेदन ही कर रहे थे कि उसी समय लौकांतिक देव आये। जो बात भगवान विचार रहे थे उसी बातकी पुष्टि उन्होंने आकर की, एवं इसप्रकार स्तुति करने लगे॥ १४॥

प्रसीद मदनाराते प्रसीद ज्ञानदीधिते ।
प्रसीद जगदीशान प्रसीद परमेश्वर ॥ १५ ॥

कामदेवके परमशत्रु; ज्ञानके भंडार, समस्त जगतके ा परमेश्वर, हे भगवन् ! आप प्रसन्न हों ॥ १५ ॥

आजवंजवनिर्वेदस्तव सार्वोदपादि यः ।
उत्तरक्रियया देव कृतार्थः क्रियतामयम् ॥ १६ ॥

सब जीवोंके हितका करनेवाला, जो आपको संसारसे वैराग्य हुआ है भगवन् ! उत्तरक्रियासे, उसको कृतार्थ कीजिये । अब दिगंबर दीक्षा धारण करिये ॥ १६ ॥

अवारवारिदध्वंसध्यानोदयगतस्य ते ।
ज्ञानभानोस्तमोनुत्यै भव्यलोकः प्रतीक्षते ॥ १७ ॥

अज्ञानरूपी मेघको नष्ट करनेवाले, ध्यान रूपी उदयाचल पर्वत पर प्राप्त जो ज्ञानरूपी देदीप्यमान सूर्य है उसीकी हे भगवान् ! यह समस्त लोक प्रतीक्षा कर रहा है । कब भगवानको केवलज्ञान हो और कब हमें हित उपदेश प्राप्त हो समस्त लोककी यह अभिलाषा है ॥ १७ ॥

मुक्तिवर्त्मनिरुंधाना संति दुर्नयतस्कराः ।
श्रेयसे जगतां तेषु त्वत्प्रभावः प्रभाव्यताम् ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! इस संसारमें दुर्नयरूपी प्रबल चोरोंने मोक्षका मार्ग रोक रक्खा है अब जगतके कल्याणकेलिये आपका प्रखर प्रभाव उनपर फैले यह प्रार्थना है ॥ १८ ॥

तान्प्रत्याहस देवः स नैर्ग्रंथ्ये प्रति श्रमम् ।
वरहासभृतत्रस्यद्बंधुनेवाननेंदुना ॥ १९ ॥

स्वयं प्रसन्न चित्त होनेपर भी बंधुओंको त्रासके कारण, अपने मुख चंद्रमासे उत्तरमें भगवान पार्श्वनाथने कहा कि मैं दिगंबर दीक्षाके लिये सन्नद्ध हूं ॥ १९ ॥

अवनम्य ततो देवं जग्मुर्देवमहर्षयः ।
तदभिप्रायबोधार्थप्रमोदोत्फुल्लचक्षुषः ॥ २० ॥

उस भगवानके अभिप्रायज्ञानसे जायमान जो आनंद उससे जिनके नेत्र कमल फूले हुए हैं ऐसे उन लौकांतिक देवोंने भगवानको नमस्कार किया और वे अपने स्थान ब्रह्मस्वर्गमें चलेगये ॥ २० ॥

तुराषाहं पुरोऽधावत्तदनु त्रिदिशाधिपाः ।
वाराणसीमुपासेदुरासनोत्त्रासबोधिताः ॥ २१ ॥

भगवान जिनेन्द्रके वैराग्यके कारण इंद्र और देवोंके आसन कंपायमान होगये । अवधिबलसे उन्होंने भगवान जिनेन्द्रके वैराग्यका निश्चय किया और आगे आगे इंद्र पीछें पीछें देव सब मिलकर बनारस आये ॥ २१ ॥

विलंब्य समयं द्वारे दौवारिकनिवेदिताः ।
सदो रत्नमयीं देवस्यासदिन्नमृतांघसः ॥ २२ ॥

बनारसमें आकार देवगण भगवानके महलके द्वारपर थोडी देर खडे रहे । द्वारपालने जब भगवानसे उनके आनेका

निवेदन किया तो उनकी आज्ञानुसार वे भीतर गये और रत्नमयी सभामें सबके सब जाकर उपस्थित होगये ॥ २२ ॥

तत्प्रभूमिभृतां मध्ये हेमपीठोपवेशिनम् ।
गारुडश्यामलं मेरुतटकल्पद्रुमोपमम् ॥ २३ ॥

भगवान जिनेन्द्र उससमय समस्त राजाओंके बीच सुवर्णमयी सिंहासनपर विराजमान थे और स्वयं मरकतमणिके समान रंगके धारक थे इसलिये ऐसे जानपडते थे मानो हरे हरे वृक्षोंसे शोभित मेरुपर्वतका तट है ॥

आसन्नस्थगितानेकपद्मरागमणित्विषा ।
निर्वेदभयनिष्क्रांतरागेणेव बहिर्वृतम् ॥ २४ ॥

उनके पासमें अनेक पद्मराग मणियोंकी प्रभा फैलीहुई थी इसलिये उसकी प्रभासे व्याप्त भगवान ऐसे जान पडते थे मानो वैराग्यके भयसे निकले हुए रागसे ही वे आच्छन्न हैं ॥ २३ ॥

विनयावनतोर्वीशमुकुटांशु नुभानुभिः ।
क्षणद्युतिभिरालीढं प्रावृषेण्यमिवांबुदम् ॥ २५ ॥

नम्र राजाओंके मुकुटोंकी प्रभासे व्याप्त भगवान उस समय ऐसे जान पडते थे मानो विजलीसे व्याप्त वर्षाकालका मेघ है । अर्थात् राजाओंके मुकुटोंकी प्रभा विजली जान पडती थी और मेघके रंगके भगवान साक्षात् मेघ जान पडते थे ॥ २५ ॥

अनुलेपनमाल्यादींस्तत्क्षणोपाहितान् जनैः ।
अवज्ञयैव पश्यंतमंगस्येव पतत्रिणः ॥ २६ ।

तद्दृष्टिपातमन्वेक्ष्य कुमारममरेश्वराः ।
प्राणमंत् किरिटाघृष्टप्रस्फुरद्दंडभित्तयः ॥ २७
सर्वामरेंद्रसंमत्या सुत्रामा कामविद्विषे ।
इदं निवेदयामास दुकूलाच्छादिताननः ॥ २८ ॥

उससमय मनुष्योंद्वारा धारण कराये गये विलेपन और माला आदि भगवानके शरीरपर पक्षी सरीखे जान पडते थे। उन्हें जरा भी नहीं सुहाते थे इसलिये उनको अनादरकी दृष्टिसे देखते थे। कुमार भगवानका दृष्टि पात होते ही मुकुटोंके घर्षणसे उटी प्रभासे सभामंडपको जगमगानेवाले देवोंने भगवानको नमस्कार किया और समस्त देवोंकी सम्मतिपूर्वक इंद्र, मुखसे वस्त्र लगाकर कामदेवके शत्रु भगवान जिनेंद्रसे इसप्रकार निवेदन करनेलगा ॥ २६–२७ ॥

अमर्त्यादवतारोऽयं परार्थैकफलस्तव ।
किं पुनस्त्रिदिवादन्यभोगातिशयहेतवः ॥ २९ ॥

हे भगवन्! देवलोकसे जो आपका अवतार हुआ है उसका फल पर हितका संपादन करना है इसलिये स्वर्गसे अन्य जितने भर भी भोग हैं वे स्वर्गके भोगोंसे अधिक आपको अच्छे नहीं लग सकते। दूसरोंका हित संपादन करनेवाले आप, विषय भोगोंमें नहीं फस सकते ॥ २९ ॥

निर्वेदस्तेन देवार्यं फलेन प्रतिमन्यताम् ।
समुन्मीरयास्त्वया चैताः सतामांतरदृष्टयः ॥ ३० ॥

इसलिये हे भगवन्! आपको जो वैराग्य हुआ है उसे सफल बनाइये। दिगंबरी दीक्षा धारण कीजिये और केवल ज्ञान पाकर उपदेश दे भव्यजीवोंके अंतरंग नेत्रोंको खोल दीजिये

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य संभ्रमेणोपधावितम् ।
आलंब्य हस्तमुत्तस्थौ प्रचुरास्थानमंडपात् ॥ ३१ ॥

बस इंद्रके इसप्रकारके निवेदन करते ही इंद्रद्वारा शीघ्र ही हाथ बढानेपर उसका सहारा ले भगवान सभामंडपसे उठ खडे हुए ॥ ३१ ॥

देवदुंदुभयो व्योम्नि गंभीरमभिदध्वनुः ।
वितर्कमाणतत्कर्मपर्वतस्फाटपाटवाः ॥ ३२ ॥

उससमय आकाशमें देवदुंदुभि वडे जोरसे वजने लगीं सो ऐसी जान पडने लगीं मानों भगवानके कर्मरूपी पर्वतको ही ये ढाह देंगी ॥ ३२ ॥

वीणावेणुरवोन्मिश्रं श्रीस्थानसुभगोद्भवम् ।
तद्गुणस्तवसंपन्नं किंनरैर्मधुरं जगे ॥ ३३ ॥

उससमय किंनर जातिके देवोंने वीन बाजेके शब्दसे मिश्रित यति-विरामसे अतिशय मनोहर भगवानके गुणोंकी स्तुति की ॥ ३३ ॥

जलदोपस्थितास्तन्व्यस्तरलोद्धलमूर्तयः ।
सौदामिन्य इवोच्चैरनृत्यन् देवकन्यकाः ॥ ३४ ॥

उससमय तन्वी और चंचल मूर्तीकी धारक देव कन्यायें आनंद नाच नाचने लगी सो ऐसी जान पडने लगी मानो मेघसे निकली हुई ये विजुलियां हैं ॥ ३४ ॥

आकृष्टभ्रमरा वृष्टिरपतत्कौसुमी दिवः ।
तत्स्वयंवरमालेव निर्मुक्ता निर्वृतिश्रिया ॥ ३५ ॥

जिसपर मोरें झंकार शब्द कर रहे हैं ऐसी महासुगंधित पुष्पवृष्टि उससमय होने लगी सो ऐसी जान पडने लगी मानों मोक्ष लक्ष्मी द्वारा छोडी गई यह स्वयंवर माला है।

विचित्रमणिनिष्ठ्यूतरुचिमेचकितांबरा ।
शिबिका चामरस्थानादुपतस्थे तमीश्वरम् ॥ ३६ ॥

भांति भांतिकी मणियोंकी प्रभासे जिसने समस्त आकाशको चित्र विचित्र कर दिया है ऐसी पालकी देवोंने भगवानके सामने लाकर रख दी ॥ ३६ ॥

अवहन्नवनीपालाः तथा तां पदसप्तकम् ।
परं क्रमेण गीर्वाणाः कर्मारिविजयैषिणः ॥ ३७ ॥

भगवान जिनेन्द्र पालकीमें बैठ गये । सात पैड तक राजा लोग उसे ले चले बाद कर्म रूपी शत्रुओंको जीतनेकी इच्छावाले देवगण उसे लेकर चलने लगे ॥ ३७ ॥

वियोगेन जगद्भानोरभवन्नगरं परं।
शोकांधतमसा छन्नं संकुचन्मुखपंकजम् ॥ ३८ ॥

भगवान जिनेन्द्र रूपी सूर्यके वियोगसे समस्त नगर शोक रूपी अंधकारसे व्याप्त होगया और सब लोगोंका मुख कमल संकुचित हो गया ॥ ३८ ॥

आससाद सदानंदि पुरंदरपुरस्कृतः।
सेव्यभोगविकत्थानावश्वत्थवनमीश्वरः ॥ ३९ ॥

सर्वदा आनंदित इंद्र जिनके सामने चलता था ऐसे भगवान, जहांपर पहिले भोगे गये भोगोंकी व्यर्थता जान पड़ती है ऐसे अश्वत्थ नामक वनमें आगये ॥ ३९ ॥

इंद्रहस्तप्रतिध्वस्तसेनाकलकलश्रवे।
आसित्वा प्राग्मुखं तत्र स्फुटिकोपलमंडले ॥ ४० ॥
बद्धांजलिर्वभाण प्राग्नमः सिद्धेभ्य इत्यलम्।
निर्लुलाव पुनःकेशान् पंचाभिर्दृढमुष्टिभिः ॥ ४१ ॥

उससमय इंद्रके हाथके इशारेसे कल कल शब्दके बंद हो जानेपर भगवान पार्श्वनाथ पूर्वको मुखकर स्फटिकमयी पाषाणशिलापर विराज गये और हाथ जोड़कर 'नमः सिद्धेभ्यः' यह वचन उच्चारण किया ॥ ४० ॥ ४१ ॥

तत्केशराशिमादाय मघवा क्षीरवारिधौ।
निदधौ सोऽपि बभ्राजे चांकेनापि स चंद्रमाः ॥ ४२ ॥

इंद्रने भगवानके केश सुवर्णपात्रमें रखकर क्षीर सागर-

में क्षेपण कर दिये और उससमय अपने चिन्हसे शोभित चंद्रमाके समान क्षीर सागरकी शोभा जान पडने लगी ॥

नेला निसर्गरुच्यानि मुक्तेनायकवद्धभौ ।
मग्ने तु केवलं तेन मुक्तया मणिमालया ॥ ४३ ॥ (?)

सहजातत्रिबोधस्य दीक्षानंतरतत्क्षणे ।
मनःपर्ययनामापि बूझ प्रादुरभूत्प्रभोः ॥ ४४ ॥

जन्मसे ही तीन ज्ञानके धारक भगवानके दीक्षाके दूसरे ही क्षणमें मनःपर्यय ज्ञान भी प्रगट हो गया ॥४३–४४॥

उपोष्य दिवसान् देवः स्फुरन्मरकतच्छविः ।
पारणादिवसे प्रापत् गुल्मभेदमकल्मषः ॥ ४५ ॥

मरकत मणिके समान मनोहर कांतिके धारक, निर्दोष भगवान जिनेन्द्रने उपवास किये और पारणाके दिन वे गुल्मभेद नामक नगरमें आहारके लिये गये ॥ ४५ ॥

राजा धर्मोदयस्तत्र धर्मराजमुपास्थितम् ।
प्रत्यग्रहीन्नमन्मौलिशिखरस्खलितांजलिः ॥ ४६ ॥

गुल्म भेद नगरका राजा धर्मोदय था । ज्योंहीं अपने घर आते धर्मके राजा भगवान जिनेन्द्रको उसने देखा मस्तक नवा हाथ जोड शीघ्र ही उनका पडिगाहन किया ॥ ४६ ॥

सुरसं पायसं तस्मै प्रतिपाद्य यथाविधि ।
इदं प्रश्रयितावाचा प्रोवाच पृथिवीपतिः ॥ ४७ ॥

राजा धर्मोदयने शास्त्रोक्त विधिसे भगवान जिनेन्द्रको खीरका आहार दिया और इसप्रकार विनम्रवाणीमें निवेदन किया ॥ ४७ ॥

इतः स्वल्पविशेषो मे देव संसारवारिधिः।
तत्पुरोपांतवर्ती त्वं दृष्टया प्राप्तोऽसि यन्मया ॥ ४८ ॥

भगवन्। यह संसार समुद्र अब मेरे लिये पार करनेके लिये थोडा ही बाकी है। क्योंकि भाग्यसे आज मैंने उसके बिलकुल पास रहनेवाले आपको पाया है ॥ ४८ ॥

दूरस्तवोऽपि देवस्य दुःखहानाय देहिनाम्।
संनिधानं पुनः किं न भुक्तये मुक्तयेऽपि वा ॥ ४९ ॥

हे जिनेंद्र! दूरसे की हुई आपकी स्तुति भी जब जीवोंके दुखको हरण करनेवाली है तब समीपमें साक्षात् स्तुति करने पर तो उससे अनेक उत्तमोत्तम भोग और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं ॥ ४९ ॥

अनुगम्य तमीशानं निवृत्य च तदाज्ञया।
गृहमहीमयमद्राक्षीदाश्चिप्ताश्चर्यपञ्चिकाम् ॥ ५० ॥

वनको जाते समय राजा धर्मोदय उनके पीछे पीछे चलने लगा और उनकी आज्ञानुसार लौट आया एवं अपने घरमें होते पंचाश्चर्योंको देखने लगा ॥ ५० ॥

पावने तु वने कापि स कदाचित्तपोनिधिः।
प्रतिमायोगमास्थाय तस्थौ स्थाणुरिव स्थिरः ॥ ५१ ॥

तपोनिधि भगवान प्रतिमा योगसे निश्चल स्थाणुके समान वनमें आकर विराज गये ॥ ५१ ॥

मैत्री तस्य प्रभावेण तिरश्चां च व्यतिद्विषाम् ।
अभूदन्यविजातीनां छिन्नदोषभृतामिव ॥ ५२ ॥

भगवान जिनेंद्रके प्रभावसे निर्दोष व्यक्तियोंके समान आपसमें कट्टर भी द्वेषी तिर्यंचोंमें मैत्रीभाव हो गया। कोई किसीका आपसमें वैरी न रहा ॥ ५२ ॥

भोगिनो घर्मसंतप्ता शिखंडेन शिखावलैः ।
अन्वगृह्यंत निश्राद्याः छायामंडलशालिना ॥ ५३ ॥

सर्प यद्यपि मयूरोंके वध्य होते हैं। सर्पोंको देखते ही मयूर तत्काल उसे मार डालते हैं तथापि उस वनमें भगवान जिनेंद्रके प्रभावसे आपसमें दोनोंमें मित्रता होगई थी इसलिये छायामें बैठनेवाले मयूरोंने ज्योंही धूपसे व्याकुल सर्पोंको देखा शीघ्र ही उन्हे छायामें ले आये ॥ ५३ ॥

पेपतुप्तैः सिंहैर्वाढमाक्रमणक्षमैः । (?)
वह्वमन्यत गृह्योऽपि स्निग्धविस्तीर्णदृष्टिभिः ॥ ५४ ॥

उससमय भगवान जिनेंद्रके माहात्म्यसे आक्रमण करनेमें समर्थ भी सिंहोंके विशाल नेत्रोंमें स्नेह झलक रहा था इसलिये जो उनके वध्य— शिकार थे उनको न मारकर अत्यंत प्रेमकी दृष्टिसे देखते थे ॥ ५४ ॥

अमृतद्रवता तस्य तरुभिस्तांनिरूपितैः ।
वसंतवैभवाच्चैव रवौ तीव्रेऽपि तत्यजे ॥ ५५ ॥

भगवान जिनेन्द्रके प्रभावसे वनमें सर्वत्र वसंत ऋतुका वैभव फैला हुआ था इसलिये प्रचंडरूपसे सूर्यके तप्तायमान होने पर भी वृक्षोंसे शीतलता ही झरती थी ॥ ५५ ॥

नित्यं तद्दर्शनानंदवार्द्धितास्तु पतत्रिणः ।
अवात्सुर्मत्सराविश्रामथनादावपीडिताः ॥ ५६ ॥

पक्षिगण भगवान जिनेन्द्रके दर्शनसे परम आनंदित थे इसलिये ईर्षासे एक दूसरेको पीडा न पहुंचा कर सुखसे निवास करते थे ॥ ५६ ॥

अभवंस्तद्वनस्थानामसवो न तथा प्रियाः ।
तदंगस्पर्शिनो वाता यद्वदानंदहेतवः ॥ ५७ ॥

उस बनमें रहने वाले जीवोंको जैसी भगवान जिनेन्द्रके शरीरसे स्पर्श करनेवाली पवन आनंद देनेवाली प्रिय थी वैसे उन्हे अपने प्राण प्रिय न थे ॥ ५७ ॥

अस्मिन्नवसरे व्योम्नि भूतानंदस्य गच्छतः ।
मुनिप्रभावसंरुद्धं दैवमासीद्विमानकम् ॥ ५८ ॥

भगवान उस वनमें विराजमान थे कि उसी समय कमठका जीव भूतानंद देव आकाश मार्गसे निकला और मुनि भगवान जिनेन्द्रके प्रभावसे उसका दैवी विमान रुक गया

विमानप्रतिबंधस्य हेतुं दिक्षु विचिन्वता।
तेन संददृशे देवः क्रोधरूक्षेण चक्षुषा॥ ५९॥

विमानके रुकते ही भूतानंद अवाक् रह गया। जहां तहां दिशाओंमें वह विमानके रुकनेका कारण तलाश करने लगा। भगवान जिनेन्द्रपर उसकी दृष्टि पड गई। जिससे मारे क्रोधके उसके नेत्र रूखे होगये॥ ५९॥

रवेरिव मुनेस्तस्य धाम्ना पृष्टस्तमोमुचा।
जज्वाल दुःसहस्वांतः सूर्यकांत इवासुरः॥ ६०॥

अंधकारको नाश करनेवाले सूर्यके प्रतापके समान भगवान जिनेन्द्रके प्रतापसे भूतानंद देवका हृदय सूर्यकांत मणिके समान जलने लगा॥ ६०॥

प्रघूर्णलोचनोत्सर्पल्लोहितच्छवितंतवः।
क्रोधांकुरमिवं चक्रुस्तस्मै तत्पार्श्ववर्तिना॥ ६१॥
पर्यस्तवामहस्तेन हसता चाभ्यसूयया।
तेनोत्साहवता चख्ये निर्भर्त्सनपरं वचः॥ ६२॥

जिसके घूमते हुए नेत्रोंसे अग्निकी ज्वाला निकल रही है ऐसा वह देव एकदम क्रुद्ध होकर शीघ्र ही भगवान जिनेन्द्रके पास आया। और उनसे बदला लेनेके लिये उत्सुक, बायां हाथ उठाकर सूखी हंसी हंसता हुआ इसप्रकार ताडना गर्भित वचन कहने लगा॥ ६१॥ ६२॥

निर्ग्रंथ त्यज पंथानं विमानप्रतिबंधिनम् ।
अन्यथा नातिदीर्घेण जीवनेन विमुच्यसे ॥ ६३ ॥

रे मुने ! जिस मार्गसे विमान जारहा है उस मार्गको तू छोड दे । यहांसे उठकर चला जा । नही तू अभी अपनी जिंदगीसे हाथ धो बैठगा ॥ ६३ ॥

दृष्टानुश्राविकेभ्यस्त्वं विषयेभ्यो विरम्य च ।
आनंदपरमावस्थामपि वांछसि विस्मयः ॥ ६४ ॥

दृष्ट—प्रत्यक्ष देखे जानेवाले, आनुश्रविक स्पष्टरूपसे सुने जाने वाले भोगोंसे विरक्त होकर अत्यंत कठिन परमानंदमयी अवस्था तू प्राप्त करना चाहता है ! यह वडा आश्चर्य है।

प्रजिघाय सहस्राणि प्रेतस्फारमरीचिभिः ।
उल्कापातैरिवाकीर्णं व्योम तैर्विदधेऽखिलम् ॥ ६५ ॥

हजारों जीवोंको मार कर जिससमय प्रेतोंकी भयंकर कांति संसारमें फैली तो वह ऐसी जान पडने लगी मानो समस्त आकाश उल्कापातोंसे व्याप्त होगया है ॥ ६५ ॥

तन्नियोगविधानोच्चैः पिशाचैरामिचुक्षुभे ।
विचित्रविक्रियाक्रांतवेषभेदविभीषणैः ॥ ६६ ॥

खोटी विक्रियासे अनेक प्रकारके भयावने वेषोंसे महा भयंकर उस भूतानंद देवकी आज्ञामें चलनेवाले पिशाचोंने उससमय सब ओर क्षोभ उत्पन्न कर दिया था ॥ ६६ ॥

केचित्केसरिणः संतो जगर्ज्जुर्विक्रमोर्जितम् ।
आरक्तनेत्रभ्रूभंगं तीव्रदंष्ट्रा उदग्मुखैः ॥ ६७ ॥

बहुतसे पिशाचोंने तो लाल लाल नेत्र, तिरछी भृकुटि और तीखी डाढोंके धारक सिंहोंका स्वरूप धारण कर लिया औ पूर्वदिशाकी ओर खडे होकर वे भयंकर गर्जना करने लगे ॥ ६७ ॥

केचित्कृतभयाकारास्तावदाघ्रातनिर्घृणाः ।
सर्वानुत्पर्ययामासुः नेत्रानिष्ठ्यूतपावकाः ॥ ६८ ॥

बहुतसे पिशाचोंने निर्दयी भयंकर सिंहोंका रूप धारण कर लिया और वे नेत्रोंसे अग्निकी ज्वाला छोडते हुए सब जीवोंको व्याकुल करने लगे ॥ ६८ ॥

अभ्यधावन्मुनीशानं केचिदाचुंबिताधराः ।
पिंगोर्ध्वमूर्ध्वजाः क्रोधादुद्यतोदरपाणयः ॥ ६९ ॥

अनेक सिंहोंके रूपके धारक पिशाच, अपने अधरोंको चुंबन करने लगे और क्रोधसे जिनके पीले वर्णके केश ऊपरको उठे हुए हैं और हाथ एवं पेट ऊपको उठा हुआ है ऐसे वे भगवान जिनेन्द्रकी ओर धावा करने लगे ॥ ६९ ॥

दंष्ट्रानिर्दष्टसृक्काणः कोपविस्फारितेक्षणाः ।
केचित्पादैर्धरां जघ्नुर्वाढमाबद्धमुष्टयः ॥ ७० ॥

बहुतसे सिंहोंके स्वरूपके धारक पिशाच, मारे क्रोधके

नेत्रोंको फाडकर डाढोंसे अपने ओठोंके मध्यभागको चवाने लगे और हाथोंकी मुट्ठी बांधकर वडे जोरसे जमीन खुचरने लगे ॥ ७० ॥

निर्भिद्य पृथिवीचक्रं केचित्प्रचुरविग्रहाः ।
उत्पेतुरतिवेगेन पातालक्ष्माधरा इव ॥ ७१ ॥

विशाल शरीरके धारक वहुतसे पिशाच पृथ्वीको भेद कर वडे वेगसे वाहर निकलने लगे सो ऐसे जान पडने लगे मानो पातालसे निकले हुए ये विशाल पहाड ही हैं ॥ ७१ ॥

प्राभवत्सक्रिया तस्य चित्तक्षोभाय न प्रभोः ।
तत्त्ववित्किं विपर्य्येति स्फुरंत्या मृगतृष्णया ॥ ७२ ॥

भूतानंदने जितने भी विक्रियासे भगवानको तपसे भ्रष्ट करनेके उपाय रचे उनसे जरा भी उन्हे क्षोभ न हुआ। वे परम धीर वीर वने रहे। ठीक है जो पुरुष तत्त्व ज्ञानी हैं अपनी आत्माका स्वरूप भले प्रकार जानता है वह मृगतृष्णा-व्यर्थवातोंसे अपना कार्य नहीं छोड वैठता ॥ ७२ ॥

पुष्पी वृष्टिरभूत्सापि वैरे शस्त्रपरंपरा ।
किं नाम दुष्करं तस्य लोकोत्तरतपस्विनः ॥ ७३ ॥

भूतानंद देवने प्रवल वैरसे जो शस्त्रोंकी वर्षाकी थी वह पुष्पवर्षा हो गई थी। ठीक ही है भगवान जिनेन्द्र लोकमें परम तपस्वी थे इसलिये कोई दुष्कर—भय करनेवाला कार्य उन्हे सता नहीं सकता था ॥ ७३ ॥

क्रोधाविष्टमना भूयस्तोयवृष्टिं व्यभावयत् ।
स्थूलधारानिपातेन श्वभ्री क्षतशिलातलाम् ॥ ७४ ॥

दुष्ट नारकी भूतानंदने फिर जल वर्षाना प्रारंभ कर दिया और उसकी ऐसी मोटी धारा गिरने लगी जिससे वडी वडी शिलायें टूटने लगी ॥ ७४ ॥

जलप्रक्रियया तस्य धैर्यभंगमपश्यता ।
विद्वेषात्तेन दावाग्निः कोपवत्प्रवितस्तिरे ॥ ७५ ॥

जब भगवान जिनेंद्रका धैर्य जल वर्षासे भी भंग न हुआ तब उसे वडी ईर्षा हुई और उसने मारे द्वेषके अपने भयंकर कोपानलके समान दावानल–वनमें अग्नि जलानी प्रारंभ कर दी ॥ ७५ ॥

जिनप्रभावाद्दावाग्नौ चंदनद्रवतां गते ।
प्रहितो महतो वैरात् दुर्निहार महीधरम् ॥ ७६ ॥

भगवान जिनेंद्रके प्रभावसे जब दावानल भी चंदन स्वरूप शीतल हो गई तो तीव्र द्वेषसे प्रेरित हो दुष्ट भूतानंद ने पहाड ढाना प्रारंभ कर दिया ॥ ७६ ॥

पापाचारस्य दुश्चेष्टामुद्वीक्ष्य चरिचक्षुषा ।
पद्मावत्या समं देवमुपतस्थौ फणीश्वरः ॥ ७७ ॥

पापाचारी दुष्ट भूतानंदकी दुश्चेष्टाका ज्योंहीं धरणेंद्रको पता लगा शीघ्र ही वह पद्मावती देवीके साथ भगवान जिनेंद्रकी सेवामें आकर उपस्थित होगया ॥ ७७ ॥

तस्य विस्तारयामास सधैर्यस्तवपूर्वकम् ।
स्फुरन्मणिरुचिस्फारस्फुटामंडलमंडपम् ॥ ७८ ॥

आते ही धरणेन्द्रने भगवानकी स्तुति की और जिसमें भांति भांतिकी देदीप्यमान मणियां जगमगा रही है ऐसा अपना फन भगवान जिनेन्द्रके ऊपर फैला दिया ॥ ७८ ॥

श्वेतच्छत्रं दधौ देवीमुक्तादामाभिवेष्टितम् ।
ज्योत्स्नाकलापसंपृक्तं पार्वेणेंदुमिवापरम् ॥ ७९ ॥

देवी पद्मावतीने भी देवोपनीत मोतियोंकी कांतिसे व्याप्त सफेद छत्र भगवानके ऊपर लगा दिया सो ऐसा जान पडने लगा मानो चांदनीसे भूषित पूर्णिमासीका दूसरा चंद्रमा ही है ॥ ७९ ॥

असमालोचयन्नेव जिनस्याजय्यतां परैः ।
चक्रे तस्योरगो रक्षामीदृक्षा हि कृतज्ञता ॥ ८० ॥

भगवान जिनेन्द्र अजय्य हैं । दूसरोंसे जीते नहीं जा सकते इस वातका न विचार कर धरणेन्द्र उनकी रक्षाके लिये प्रवृत्त हो गया । कृतज्ञता इसीका नाम है ॥ ८० ॥

कोलाहलोत्तरं तेन निर्मुक्ताश्चिरवैरिणा ।
अपतन् पर्वता तस्मिन् निर्झराबद्धसानवः ॥ ८१ ॥

चिरकालके वैरी भूतानंद असुरने जिनकी शिखरोंसे झरने झर रहे हैं ऐसे विशाल पर्वत ढाने प्रारंभ कर दिये और बडे जोरसे कोलाहल मचाने लगा ॥ ८१ ॥

अनुबध्य पतद्भूरिपर्वतध्वानभीरवः।
न केवलं मृगा वेगाद्विनेशुर्वनदेवताः॥ ८२॥

उठाकर डाले जानेवाले विशाल पहाडोंके शब्दोंसे भयभीत हो वनमें केवल मृग ही नहीं छटपटाने लगे वनदेवताओंकोभी चल विचल हो जाना पडा॥ ८२॥

फणामणिशिलाघातचूर्णिताःपतदद्रयः।
भेजिरे भुजगेंद्रस्य श्वासधूमोद्गमश्रियम्॥ ८३॥

धरणेन्द्रका फन रूपी जो विशाल शिला उसपर पडनेसे छार छार हो जाने वाले पहाड ऐसे जान पडते थे मानो ये धरणेन्द्रके श्वासके धूआंके गुब्बारे हैं॥ ८३॥

एकत्ववितर्कवीचारध्यानवह्निप्रभावतः।
घातिकर्मवनं सर्वमदेहि विजिगीषुणा॥ ८४॥
आविर्बभूव देवस्य तत्क्षणादेव केवलम्।
परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासनक्रमम्॥ ८५॥

जयशील भगवान जिनेन्द्रने एकत्व वितर्क वीचार नामका जो शुक्लध्यानका दूसरा पाया है उससे समस्त घातियां कर्मोको नष्ट कर दिया और उसीसमय सर्व प्रकारसे स्वपरावभासी केवल ज्ञान रूपी ज्योति भगवान जिनेन्द्रके प्रगट हो गई॥ ८४-८५॥

ततः प्रघोषं जयकारतूर्यै—
र्दिवौकसां बह्रसितं समंतात्।

निशम्य निर्मुच्य रुषं तदैव
बभूव शत्रुः स च कांदिशीकः ॥ ८६ ॥

केवल ज्ञानके प्रगट होते ही देवोंका बडे जोरसे जय जयकार शब्द होने लगा जिसे सुनते ही भूतानंदका क्रोध एकदम शांत हो गया और वह एकदम अवाक् रह गया ॥

अनन्यशरणास्तदा प्रभुमुपेत्य बद्धांजलि-
जिनेंद्र जगतांपते जय जयाभिरक्षेति माम्।
ननाम मुकुटोल्लसन्मणिभिरुल्लिखन्नुर्वरां
जगत्त्रयगुरुं रिपुर्विपुलबोधलक्ष्मीनिधिम् ॥ ८७ ॥

जब उसने देखा कि अब मेरा कोई शरण नहीं है तो वह शीघ्र भगवानके पास आया और हाथ जोड इस प्रकार स्तुति करने लगा—हे तीन लोकके स्वामी भगवान जिनेन्द्र आप जय वंते रहें मेरी रक्षा करें। तथा मुकुटमें लगी हुई मणियोंकी प्रभासे पृथ्वीको जगमगानेवाले उसने केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मीके स्थान तीन लोकके स्वामी जिनेंद्रको विशिष्ट भक्तिसे नमस्कार किया ॥ ८७ ॥

देवाः सर्वचतुर्निकायपतयः संभूय सद्भूतयो
भक्तिप्रौढप्रवाहबद्धमतयो गाढोपगूढश्रियः।

श्रोतृश्रोत्ररसायनैस्तनुभृतां नृत्यैश्च नेत्रप्रियै—
अक्रुस्तस्य समाजनां भजनया; लोकैकशांतिप्रदां ॥८८॥
इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते श्रीपार्श्वचरिते
महाकाव्ये केवलज्ञानप्रादुर्भावो नाम
एकादशः सर्गः ।

उत्तम विभूतिसे व्याप्त, भक्तिमय बुद्धिके धारक, उत्तम शोभासे शोभित, मिलकर आये हुए चारो निकायके देवोंने सुननेवालोंके कानोंको और नेत्रोंके गीत और नृत्योंसे समस्त लोकको शांति प्रदान करने वाली भगवानकी कीर्तीको विस्तृत कर दिया ॥ ८८ ॥

इसप्रकार श्रीवादिराज आचार्य द्वारा विरचित श्रीपार्श्वनाथ जिनवरके चरित महाकाव्यमें भगवानको केवल ज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ।

बारहवां सर्ग।

शक्रस्तदा जिनमहक्रमतत्त्ववेदी
स्वादिष्टवस्तुसकलेन धनेश्वरेण।
श्रीमानचीकरदनन्यसमव्यवस्था—
मास्थायिकां जिनरवेर्जगदीश्वरस्य ॥ १ ॥

भगवान जिनेन्द्रकी पुजाके क्रमके भले प्रकार जानकर इंद्रने; समस्त उत्तमोत्तम पदार्थोंके स्वामी कुबेरको आज्ञा दे शीघ्र ही भगवान जिनेन्द्रका समवसरण मंडप तयार कराया

तत्राभवन्मणिमयी सकला धरित्री
चित्रोल्लसत्किरणकंटकितप्रदेशा।
मुग्धास्तु दिव्यवनिताः प्रविलोकयंत्यो
यां तर्कयंति विततांकुरितेंद्रचापाम् ॥ २ ॥

भांति भांतिकी मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त मणिमयी पृथ्वीकी शीघ्र ही रचना हो गई जिसे भोली भाली देवांग-नाएं विस्तृत और अंकुरित इंद्रधनुष समझती थीं ॥ २ ॥

माणिक्यगोपुरचतुर्मुखनिर्गमैश्च
प्राकारभित्तिवलयैः कनकत्रिभेदैः।
आवेष्टितं जिनपुरं तदलं बभासे।
रत्नत्रयप्रतिनिभैः कुदृशो निषेद्धुं ॥ ३ ॥

जिनके चारो दिशाओंमें माणिक्य रत्नके बने हुये चार गोपुर दरवाजे जगमगा रहे हैं ऐसे सुवर्णमयी तीन प्राकार, मिथ्यादृष्टियोंका भीतर प्रवेश रोकनेके लिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयके समान जान पडते थे और उनसे भगवान जिनेन्द्रकी समवसरण स्वरूप नगरी बडी ही शोभित होती थी ॥ ३ ॥

ख्यातो जलेन परमावधिपावनेन
गाधेतरप्रकृतिना परिधिः परीये ।
उत्फुल्लहेमकमलेषु बधूसमेताः
क्रीडंति यत्र मुदिताः कलहंसभव्याः ॥ ४ ॥

समवसरणका परकोट अत्यंत निर्मल अगाध जलसे व्याप्त था और उसके फूले हुए कमलोंमें अपनी भार्याओं-रियोंके साथ राज हंसरूपी भव्य आनंद किलोल करते थे

आस्वादरम्यरसनिर्भरसत्फलौघैः
कल्पद्रुमैरुपवनानि चिरं विरेजुः ।
यत्राभवन्नमरसौख्यमिवाप्तवंत—
श्छायागताः सपदि मध्यमजीवलोकाः ॥ ५ ॥

खानेमें अत्यंतमधुर मनोहर उत्तमोत्तम फलोंसे शोभित कल्पवृक्षोंसे व्याप्त वहांके उपवन बडे ही मनोहर जान पडते थे और उनकी छायामें बैठने वाले मध्यम श्रेणीके लोग देवोंके सुखका अनुभव करते थे ॥ ५ ॥

सोपानबद्धविमलस्फटिकावतारा:

स्वच्छांबुसारसहिताश्च महासरस्य ।

वाप्यो बभूवुरसुरेंद्रसुजप्रभाव—

प्रोत्पाटिताद्रिकधराविवरोपमेया: ॥ ६ ॥

जिनकी लडीवद्ध सीडियां स्फटिकमयी पाषाणकी बनी हुई हैं और जिनमें अत्यंत निर्मल मानस सरोवरका जल लहलहा रहा है ऐसी उससमवसरणकी बावडियें थीं सो ऐसी जान पडतीं थीं मानो देवोंकी दृढ भुजाओंसे पहाडोंके उखाडनेपर ये पृथ्वीके विशाल विशाल गढे हैं ॥ ६ ॥

स्तूपा: पयोधरपथस्फटिकाश्च बद्धा:

कूटाग्रकोटिदलितभ्रमदभ्रकूटा: ।

भव्यैकदृश्यवपुषो नितरामभव्या

मार्गे गते स्खलनकालितया विबभ्रु: ॥ ७ ॥

आकाशके समान अत्यंत निर्मल, अपनी विशाल शिखरोंमे इधर उधर घूमते हुए मेघोंको तितर वितर करनेवाले भव्योंके ही देखनेमें आने वाले और अभव्योंको भीतर समवसरणमें बाधा उपस्थित करनेवाले स्तूपोंसे वह समवसरण बडी ही शोभा धारण करता था ॥ ७ ॥

आकंपमानमणिबद्धमहापताका

स्तंभाश्च तुंगविहारगिथर्वहेमगद्या: ।

आधूनयन्निव जयोन्नतिसंविभागा
देवस्य तूर्णमभिमानरजांसि पुंसाम् ॥ ८ ॥

हिलती हुई मणिमयी पताकाओंसे शोभित जिनकी ऊंची शिखरोंपर सुवर्णमयी यक्ष जगमगा रहे हैं, ऐसे भगवानकी जय और उन्नतिको जतलाने वाले उस समवसरणके थंभे मनुष्योंकी अभिमान रूप धूलीको नष्ट करते थे ॥

नृत्यन्निलिंपवनिता रुचिदीप्तिगर्भा—
वाद्यस्वनैर्मरकताकृतिनाट्यशालाः।
सौदामिनीगुणलताकलितोदराणां
लीलां दधुर्ध्वनितकालवलाहकानाम् ॥ ९ ॥

जिनमें देवांगनाएं नृत्य कर रहीं हैं ऐसी कांति और शोभासे व्याप्त मरकतमणियोंकी बनी हुई नाट्यशालाएं बाजोंके शब्दोंसे महामनोहर थीं सो ऐसी ज्ञान पडती थीं मानो बिजुलियोंसे व्याप्त शब्द करते हुए ये मेघ हैं ॥ ९ ॥

अंतस्थकिंनरकलध्वनिदत्तशब्दै—
रुद्दामहेमशिखराः कृतकाद्रिमुख्याः।
स्फारैर्गुहामुखमुखैर्जगुरुत्सवेन
देवस्य कर्मविजयं जगदेकजिष्णोः ॥ १० ॥

जिनकी भीतर गुफाओंमें किन्नर जातिके देव कल कल शब्द कर रहे हैं और जिनके सुवर्णमयी शिखर विशाल

हैं ऐसे कृत्रिम पहाड उस समवसरणकी भूमिमें ऐसे जान पडते थे मानो आनंदित हो अपनी गुफारूपी मुखोंसे संसारमें अद्वितीय जयशील भगवान जिनेंद्रके कर्मोंके विजयकी ही ये घोषणा कर रहे हैं ॥ १० ॥

मध्येपुरं परमवस्तुनिबद्धभीति—
रभ्रंलिहस्फुरितरत्नसहस्रकूटा ।
षष्ठीमिव प्रकटयंत्यथ मेरुसृष्टिं
त्वष्ट्रा स्वयं विरचिता वसतिर्बभूव ॥ ११ ॥

समवसरणके ठीक मध्यमें जिसकी दीवालें उत्तमोत्तम पदार्थोंसे बनी हुई हैं और जिसके रत्नोंकी कांति मेघका मुख चुंबन कर रही है ऐसी भगवान जिनेंद्रकी वसति—गर्भगृह इंद्रने स्वयं तयार किया सो ऐसा जान पडने लगा मानो साक्षात् मेरु पर्वत ही है ॥ ११ ॥

कंठीरवोद्घृतहटन्मणिबद्धपीठे
प्राच्याद्रिकूट इव दीप्तमयैकमूर्तिः ।
आनम्रमौलिशिखरैर्ददृशे समंता—
देवस्तमोपह इव त्रिदिवादिनाथैः ॥ १२ ॥

उदयाचल पर्वतकी शिखरके समान, सिंहोंसे चिन्हित, मणिमयी सिंहासनपर विराजमान परम तेजस्वी भगवान उस समय नम्रीभूत देवोंको ऐसे जान पडते थे मानो ये साक्षात सूर्य हैं ॥ १२ ॥

छत्रत्रयी नवसुधारुचिरुच्यकान्ति—
स्तस्योल्लास चराविद्रुमवद्धयष्टिः ।
मुक्तिद्रुमस्य रुचिराचिरसत्फलस्य
प्रागुच्चकैरुपनता नवमंजरीव ॥ १३ ॥

जिनकी डंडियां उत्तमोत्तम मूंगाओंसे गुथी हुई हैं और जिनकी क्रांति चंद्रमा सरीखी मनोहर जान पडती है ऐसे भगवानके शिरपर रहनेवाले छत्र ऐसे शोभित जान पडते थे मानो वहुत शीघ्र विकसित होनेवाने उत्तम फलके धारक मोक्षरूपी वृक्षकी यह नवीन मनोहर मंजरी (मौर) हैं ॥

भर्तो बभावुभयपार्श्वसमुद्भ्रमद्भि—
र्यक्षेद्रहस्तकलितैश्चमरीजवृंदैः ।
क्षीरार्णवस्य निविडैरभितः प्रवृद्धः
प्रोद्भ्राम्यदूर्मिनिकरैरिव नीलशैलः ॥ १४ ॥

भगवानके दोनों पसवाडोंमें यक्षेन्द्र चमरी गाओंके वालोंके बने चमर ढोर रहे थे इसलिये चमरोंसे नीलवर्णके धारक भगवान ऐसे शोभित होते थे मानो क्षीरसागरकी उठती हुई लहरोंसे व्याप्त यह नील पर्वत है ॥ १४ ॥

सर्वर्तुसर्वतरुपुष्पसमभ्यवालः
सर्वाभिमतविषयवल्पफलगहेतुः ।
सर्वांगशीतलितया स तरां बभार
कल्पद्रुमस्य महिमानमशोकशाखी ॥ १५ ॥

सब ऋतुओंके फलोंसे जिसकी समस्त शाखायें व्याप्त हैं ऐसे सबको प्यारे अशोकवृक्षने सर्वांगमें शीतल होनेके कारण कल्पवृक्षकी शोभा धारण की॥ १५ ॥

आविर्भवल्लयविभागमनोभिरामा
व्योम्नि स्वयं दिविजदुंदुभयः प्रणेदुः
यच्छन्दकर्णविवरस्फुरणेन पुंसां-
मुन्मीलति स्म हितवस्तुनि चित्तनेत्रम्॥ १६ ॥

लयके विभागसे मनको अत्यंत प्यारी देव दुंदुभियां आकाशमें बजती थीं जिनके शब्दोंके सुननेसे मनुष्योंके चित्तरूपी नेत्र हितकारी पदार्थोंकी ओर झुकते थे अर्थात् उन्हें हित अहितका ज्ञान होता था॥ १६ ॥

दूरावरुद्धरजसो जिनराजधान्यां
नीचैर्ववुः सपदि वायुकुमारदेवाः ।
केचित्सुराः सुरपतेस्तु नियोगदृष्ट्या
गंधोदकैर्वसुमतीमसिचन्मनोज्ञैः ॥ १७ ।

भगवान जिनेन्द्रकी समवसरणभूमिमें धूलिके कणोंको दूर करनेवाले वायुकुमार जातिके देवोंने मंद मंद पवन बहाना प्रारंभ कर दिया था और इंद्रकी आज्ञासे अनेक देवगण सुगंधित जलसे समवसरणकी भूमिको सिंचते थे॥

गामन्मधुमत्तवधूमाचिषाः समंतात्
स्वर्गच्युता कुसुमवृष्टिरनल्पहृष्टिः ।

तद्वद्बभूव न तदा महते महिम्ने
यद्वत्स्वयं कुसुमितारिषु बाणवृष्टिः ॥ १८ ॥

अनुपम महिमाके धारक भगवान जिनेन्द्र पर 'जिसपर भ्रमर झंकार शब्द कर रहे हैं' ऐसी पुष्पवृष्टि उससमय इतनी अधिक हुई थी जितनी बहुतसे शत्रुओं पर कोई बाण वर्षा भी न करेगा ॥ १८ ॥

ज्योतिर्जगत्त्रयगुरोर्ज्वलदग्निलोल—
ज्वालाकलापबहलं नयनप्रियं च
दीप्रं बभूव दुरितोरुतमोपहं त—
देवातिरिक्तमिव केवलबोधशेषम् ॥ १९ ॥

देदीप्यमान अग्निकी ज्वालाके समान तेजवाली, नेत्रोंको अतिशय प्यारी और पापरूपी घोर अंधकारको नाश करनेवाली भगवान जिनेन्द्रके शरीरकी ज्योति थी और वह केवलज्ञानका खंड सरीखी जान पडती थी ॥ १९ ॥

तं षड्गुणद्विगुणिता जगदेकचंद्र—
मुत्पाणिपद्ममुकुला नलिनीव भेजे ।
तस्याः प्रभुस्स निजसंक्रमणेन चक्रे
निर्धूमकं कमलबंधुरमंतरंगम् ॥ २० ॥

जिसमें भव्यगण हाथ जोडे बैठे हुए हैं ऐसी बारह योजनमें विस्तृत समवसरणभूमि समस्त जगतमें अद्वितीय चंद्रमा भगवान जिनेन्द्रको धारण करनेके कारण कम-

लिनी (कमलवेल) सरीखी जान पडती थी तथा भगवान जिनेन्द्रने अपने प्रभावसे समवसरण भूमिके अंतरंगको निर्दोष बना दिया था। उससमय किसीके परिणामोंमें किसी प्रकारका दोष न था ॥ २० ॥

देवस्तदा गणधरः प्रथमं स्वयंभू—
देवाधिदेवमुपढौक्य कृतप्रणामः।
आनम्रमौलिकतया स्थितिमस्तु पश्चा—
दिंद्रेषु वस्तुगणने हितमन्वयुंक्त ॥ २१ ॥

प्रथम गणधर स्वयंभू देवाधिदेव भगवान जिनेन्द्रके पास आये। भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनके समीपमें बैठ गये तथा अपने पीछे मस्तक नमाकर इंद्रोंके बैठ जानेपर उन्होंने पदार्थोंके विचारमें चित्त लगाया। और वे इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

दुर्वारदुःखदवपावकदग्धसार—
संसारकाननगता इव भव्यजीवाः।
जीवंति कष्टमथ सारपथानभिज्ञा—
स्तेषां त्वमेव भगवन् प्रतिकर्तुमीशः ॥ २२ ॥

दुःख रूपी प्रबल दावानलकी ज्वालासे जिसका सार भाग नष्ट होगया है ऐसे संसार रूपी वनमें भटकनेवाले और सार मार्ग-मोक्षमार्गसे अनभिज्ञ ये भव्य जीव हैं। भगवन्! इनके उद्धार करनेकेलिये आप ही समर्थ हैं ॥ २२ ॥

जीवः स्वयं यदि भवेत् प्रतिलब्धसिद्धिः
संसारमुक्तिरसयोर्भवतीह पात्रम् ।
क्षोदक्षमस्तु स तथा न तदा विनोति
श्रोत्रादरं परमियं परलोकवार्ता ॥ २३ ॥

जीवोंको यदि स्वयं प्रतिबोध प्राप्त हो जाय तब वह मोक्ष और संसारके रहस्यका-जानकार बन सकता है। किंतु जबतक उसे प्रतिबोध न हो तबतक परलोकका-व्याख्यान ही उसके कानोंको आनन्द प्रदान करता है ॥ २३ ॥

इत्याद्यनेकनयवादनिगूढतत्त्वं
जीवादिवस्तु खलु मादृशामभूमिः ।
त्वं विश्वचक्षुरसि देव तव प्रसादात्
सन्निर्णयोऽस्तु सुलभः स्वयमस्मदाद्यैः ॥ २४ ॥

अनेक नय वादोंसे जिसका स्वरूप छिपा हुआ है ऐसे जीव अजीव आदि पदार्थ आप सरीखे महानुभावोंके ज्ञानके अगोचर नहीं। यथार्थरूपसे आपको उनके स्वरूपका ज्ञान है। आप विश्वचक्षु-सर्वज्ञ है भगवन्! आपकी कृपासे हमे उनका निर्णय सुलभरीतिसे हो सकेगा ॥ २४ ॥

इत्थं निवेद्य विरते सति सद्घनादि—
निर्वाधवृत्तिरुदियाय जिनस्य वाणी ।
व्यक्तनीतिनियमान्वितसप्तभंगी
भृंगारिता सदसि सर्ववचःस्वभावा ॥ २५ ॥

इसप्रकार प्रथम गणधर स्वयंभूके निवेदन करनेके बाद मेघकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनि खिरने लगी उसमें वस्तुके स्वरूपका नियम बतलाने वाली सप्तभंगीका उपदेश होने लगा और सब जीव उसे अपनी अपनी भाषाओंमें समझने लगे ॥ २५ ॥

आत्मास्ति तावदुपयोगविवर्तमूर्तिः
कायावधिश्च निजवेदननिश्चितोऽसौ ।
अर्थांतरं च पृथिवीप्रभृतेस्तमाहु—
भिन्नप्रमाणविषयत्वनियामसिद्धेः ॥ २६ ॥

तस्मिन् प्रवादिनिकरस्य भवंति केचि—
दुक्तस्थितेरितरथेतरथा विकल्पाः ।
तद्युक्तयो व लघुतूलवदुत्प्लवंते
प्रत्यक्षमानपवनप्रतिहन्यमानाः ॥ २७ ॥

आत्मा उपयोग स्वरूप है, अपने शरीरके परिमाण है, स्वानुभव प्रत्यक्षका विषय है और पृथ्वी आदि जड पदार्थोंसे वह जुदा है क्योंकि उसका चेतन स्वरूपसे और पृथिवी आदि पदार्थोंका जडस्वरूपसे ज्ञानमें प्रतिभास होता है। यद्यपि यह जो स्वरूप आत्माका बतलाया गया है वास्तवमें यही स्वरूप युक्तियुक्त है तथापि बहुतसे प्रवादी उसको भिन्न भिन्न स्वरूपसे मानते हैं और आत्माके अनेक भेद कर डालते हैं परंतु जिन युक्तियोंसे वे उसका भिन्न स्वरूप

मानते हैं वे युक्तियां प्रत्यक्षप्रमाणरूपी प्रबलपवनसे आहत हो रुईके टुकडोंके समान इधर उधर उडती फिरती हैं। कोई भी युक्ति उनकी स्थिर नहीं रहती ॥ २६–२७ ॥

नानाविधो भवविवर्तवशादनादि—
बंधस्तमावसति कर्मपरंपरायाः ।
येनाजवंजवमहार्णवमध्यवर्ती
दुःखं परिभ्रमति दूरमतीरदर्शी ॥ २८ ॥

संसारमें घूमनेके कारण अनेक प्रकारका अनादि कर्मोंका बंध उसके स्वरूपको ढक देता है इसलिये संसाररूपी महासमुद्रमें गिरा हुआ यह जीव उसका तीर न दीख पडनेके कारण घूमता रहता है और अनेक कष्टोंको सहता रहता है ॥ २८ ॥

तस्यास्य संसृतिनिदाननिरुद्धवृत्ति—
रत्नत्रयाद्भवति मुक्तिरुदारयुक्तिः ।
दोषप्रकोपशमनक्षययोरसिद्धौ
प्रध्वंसनं हि सुपरिस्फुटमामयानाम् ॥ २९ ॥

इस आत्मामें संसारके कारणोंका सर्वथा निरोध और मोक्षकी प्राप्ति, रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रसे ही होती है। रोगोंकी नास्ति जवही कही जाती है जब दोषोंके प्रकोपका उपशम और क्षय नहीं होता किंतु जहां दोषोंके प्रकोपका उपशम और क्षय होता रहता है वहां रोगको सत्ताही

समझी जाती है। उसीप्रकार कर्मोंका उपशम वा क्षय जहांपर बना रहेगा वहांपर उनकी नास्ति नहीं कही जाती किंतु उपशम और क्षयके सर्वथा नष्ट होजानेपर ही उनकी नास्ति कही जा सकती है। वह सर्वथा नास्ति रत्नत्रयसे ही होती है॥

जीवादिवस्तुविषयाभिरुचिस्तु दृष्टि—
विज्ञानशुद्धिवशसंयमवृद्धिहेतुः।
उज्झेति तापमुपपद्य यथा नियोगात्
संतो नितांतममृतांबुधिवेलयेव॥ ३०॥

जीवादि पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्ज्ञानके साथ चारित्रकी वृद्धिमें कारण है जिसप्रकार अमृतमय समुद्रका किनारा संतापको नाशकर शांति उत्पन्न करता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी संसारका संताप नष्ट कर अलौकिक शांति प्रदान करता है॥ ३०॥

नैसर्गिकी निरुपदेशपुरस्सराद्या
वस्तुस्थितेरधिगमाद्भवती द्वितीया।
वेद्यस्समस्त्यधिगमोऽपि नयप्रमाणै—
र्निर्धूतबाधकनयप्रसरप्ररूढैः॥ ३१॥

सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं एक निसर्गज दूसरा अधिगमज। निसर्गज सम्यग्दर्शन वह कहा जाता है जो किसी उपदेश आदिकी अपेक्षा न कर स्वभावसे ही प्रगट हो और

गुरु आदिका उपदेश वा शास्त्रके स्वाध्याय आदिसे होने-वाला सम्यग्दर्शन अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा जाता है तथा उसका ज्ञान दूसरोंके नय और प्रमाणोंसे अबाधित नय और प्रमाणोंसे होता है ॥ ३१ ॥

स्थानत्रयेऽपि जिनशासनमानदंड—
निर्भक्तिसीमनि विशुद्धिविशेष्ययोगात्।
यत्संनयाद्यनुपसंकलितं क्रमेण
ज्ञानं तदाहुरपवर्गनिमित्तभूतम्॥ ३२ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की सीमा जुदी जुदी हैं। उनमें क्रमसे विशुद्धि विशेषसे होने-वाला जो ज्ञान-केवलज्ञान, नयोंके विषयसे विभिन्न है—नयोंकी जिसमें अपेक्षा नहीं ली जाती वही मोक्षका कारण हैं॥

दुर्वारसंसरणकारणनिर्भिदायै
तत्त्वावबोधविशदीकृतचित्तवृत्तिः।
अभ्यंतरेतरसमीहननिर्विमुक्ति—
र्नूनं प्रयच्छति चरित्रमिदं पवित्रम्॥ ३३ ॥

तत्वोंके ज्ञानसे जिसकी चित्तवृत्ति निर्मल है; बाह्य-अभ्यंतर विषयभोगोंमें जिसकी अभिलाषा नष्ट होगई है ऐसा आत्मा ही उत्कट संसारके कारणोंके नाशके लिये उत्तम-चारित्र प्रदान कर सकता है ॥ ३३ ॥

पुंसो न कर्ममलनिर्वहणात्त्रयाणां
तेषां भवेत् सुकरमन्यतमव्यपाये।
ज्ञानाधराचरणसंगमसिद्धिरेव
सिद्धिं करोति पुरुषस्य रसायनादिः॥ ३४॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होते-ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसलिये उन तीनोंमें यदि एककी भी कमी होगई तो मनुष्य अभिलषित पदार्थ प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि जिसप्रकार रसायन आदिसे पुरुषकी इष्ट सिद्धि होती है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्रसे भी इष्टकी प्राप्तिकी होती है॥

मुक्तश्च तस्य न विशेषगुणव्यपायः
तत्संगरे हि न पुमान् प्रविशिष्यतेऽन्यः।
संवित्प्रवृत्तिनियमानवता यतस्तं
जीवं विशेषगुणरूपमुदाहरंति॥ ३५॥

आत्माके विशेष गुणोंका नाश नहीं होता। उनगुणोंमें आपसमें एक गुण दूसरेका विघातक भी नहीं, अविरोध रूपसे वे आत्मामें निवास करते हैं। यदि उन गुणोंका नाश वा आपसमें उनमें वध्यघातक भाव माना जायगा तो जीव पदार्थही विशिष्ट—अजीवसे भिन्न; सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि यह बात विशिष्टप्रमाणसे सिद्ध है इसलिये जीवको विशेष गुणस्वरूप ही कहा जाता है॥ ३५॥

न ब्रह्म शून्यमपि सत्वमिवेदभावा—
नाप्यन्यरूपगमनं तदुपायहानेः।
अंतर्मलक्षयविजृंभितबोधगर्भ—
मानस्वरूपममृतं पदमामनंति॥ ३६॥

आत्मा न ब्रह्मस्वरूप है न शून्य स्वरूप है और अन्य ही किसी पदार्थ स्वरूप है क्योंकि उसको ब्रह्मस्वरूप वा शून्य स्वरूप आदि सिद्ध करनेवाला कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं। और उसको ब्रह्मादि स्वरूप माननेपर उसकी शुद्धताके लिये किसीप्रकारके तप आदि उपाय रचनेकी भी जरुरत न होगी किंतु वह समस्त कर्मोंके नाश होजानेसे चमचमाता हुआ सम्यग्ज्ञान स्वरूप; उत्तम, अमृत, पद मोक्ष स्वरूप है ऐसा माना जाता है॥ ३६॥

तत्रादरं कुरुत संसृतिपातभीताः
तस्मात्परं न परमं ननु पौरुषेयम्।
तद्रूपसिद्धनिजरूपमरूपगर्भाः
कांतं नितांतमगतांतमतापशांतम्॥ ३७॥

इसलिये हे संसारसे भयकरनेवाले पुरुषो! तुम आत्मामें ही आदर और प्रेम करो आत्मासे उत्कृष्ट अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं तथा रूप आदिका किसीप्रकारका गर्भ न कर अविनाशी अत्यंत मनोहर संताप रहित शांत अपने प्रसिद्ध स्वरूपको प्राप्त करो॥ ३७॥

इत्थं जिनेंद्रवदनांबुरुहोद्गतेन
तथ्येन तेन वचसा परिभाव्यमाना ।
आनंदमंद्रममृतोत्प्लवनादिवासी —
न्निर्मुक्ततत्त्वतृषितेव सदस्तदानीम् ॥ ३८ ॥

इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रके मुख कमलसे निकले हुए मनोहर किंतु सत्य वचनोंसे लोग बडे ही संतुष्ट हुये। उससमय सभा अमृतके उछलनेसे ही मानो आनन्दमयी ज्ञात पडती थी। और भगवानके मुख से निकलेहुवे तत्त्वोंके सुननेमें बडी ही लालायित थी ॥३८॥

श्रीजैनवागमृतसेकपवित्रबुद्धेः
भूयस्त्रपाविधुरितस्य निजापराधात् ।
तस्यापि दूरमसुरस्य मनस्युदीर्णा
सम्यक्त्वशुद्धिरभवद्भवबंधभीरोः ॥ ३९ ॥

जिनेन्द्रकी वाणीरूपी अमृतके सेकसे जिसकी बुद्धि पवित्र है, ऐसा अपने अपराधसे अत्यन्त लज्जित और संसार से भयभीत उस भूतानंदके मनमें सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिका उदय होगया ॥ ३९ ॥

अद्यापि दानवपतिर्जिनपादपूजा —
मत्यादरेण रचयन्भवनालयेषु ।
तत्र प्रयोगविधिना बहुमन्यतेऽसौ
लक्ष्मीस्तथा न परिभोगगुणानुगुण्या ॥ ४० ॥

आजकल भी वह दानवपति भूतानंद बडी भक्तिसे विधिपूर्वक भगवान जिनेन्द्रकी भवनवासी देवोंके मंदिरोंमें पूजा करता हुआ अपनेको धन्य मानता है। ठीक ही है लक्ष्मीका उपयोग भोगोपभोग सेवन ही करना नहीं धर्मका सेवन करना भी है ॥ ४० ॥

जायासुखस्य धरणस्य प्रसिद्धिभूते—
हेतुं निशम्य च गुरुस्तवनं गणेशात्।
विस्मेरसस्मरमना मतिमाततान
तत्रादरोदयवृती नरदेवलोकः ॥ ४१ ॥

धरणेन्द्र मोक्षको जायगा यह समाचार स्वयंभू गणधरके मुखसे सुनकर देव और मनुष्योंने उसकी बडी भारी स्तुति की और अत्यंत हर्षायमान हो सबके सब उसका परम सत्कार करने लगे ॥ ४१ ॥

पद्मावती जिनमतस्थितिमुन्नयंती
तेनैव तत्सदसि शासनदेवतासीत्।
तस्याः पतिस्तु गुणसंमहृदक्षचेता
यक्षो बभूव जिनशासनरक्षणज्ञः ॥ ४२ ॥

देवी पद्मावती जिनमतकी उन्नतिकी करनेवाली थी इसलिये वह शासन देवता कही जाने लगी और गुणोंकी परीक्षामें चतुर जिनशासनकी रक्षाका भलेप्रकार जानकार धरणेन्द्र यक्ष कहागया ॥ ४२ ॥

राजा पुनः स जिनभक्तिभरावनम्रः
प्रोच्यैकराज्यपदमंडितमंडलश्रीः
देवस्य तीर्थमघसार्थहरं नरेषु
प्राभावयत् त्रयविधिनर्नु विश्वसेनः ॥ ४३ ॥

भगवान जिनेन्द्रकी भक्तिसे नम्रीभूत, उत्तम राज्य-से शोभित, तीन ज्ञानके धारक राजा विश्वसेन पापोंके नाशक भगवान जिनेन्द्रके तीर्थकी मनुष्योंमें प्रभावना करने लगे ॥ ४३ ॥

देवस्तु धर्मममृतं वरभव्यशस्यैः
संभाहयन् प्रविजहार विधाय जिष्णुः ।
स्वाभाविकः खलु रवेः कमलावबोधी
दिक्षु भ्रमस्स न विचारपथोपसर्पी ॥ ४४ ॥

जिसप्रकार कमलोंके खिलानेवाला; दिशाओंमें सूर्यका भ्रमण स्वभावसे ही होता है उसके वैसे भ्रमणमें विचार करनेकी जरूरत नहीं पड़ती उसीप्रकार जयशील भगवान जिनेन्द्रका भी भव्य जीवरूपी धान्योंके लिये धर्मामृत वर्षाने वाला विहार स्वभावसे ही होनेलगा । आज यहांतो कल वहां विहार करना चाहिये इसप्रकार इच्छा पूर्वक उनका विहार न था ॥ ४४ ॥

आनीतनम्रजननिर्मदसंमदश्रीः
संमेदशैलमनुशीलनिधिर्जगाम ।

श्रृंगेषु यस्य गुणतुंगतया प्रसिद्धाः
सिद्धिं गता गतरजस्कतया जिनेंद्रः ॥ ४५ ॥

नम्रीभूत मनुष्योंको परम आनन्द प्रदान करनेवाले, शीलके निधि भगवान जिनेन्द्र; जिसकी टोंकोंसे अनंते परमगुणधारी मुनिगण समस्तकर्मोंका नाश कर मोक्ष पधारे हैं ऐसे सम्मेदशिखर पहाडपर जा विराजे ॥ ४५ ॥

आमंद्रदुंदुभिरवप्रतिशब्दभूमै—
रुद्दामगह्वरमुखस्स धराधरेंद्रः ।
तस्यातिचारमसहन्निव सर्वभर्तुः
शक्रैः सुतुंगशिखरोल्लिखितोऽभ्रकूटः ॥ ४६ ॥

बडे जोरसे बजनेवाली दुंदुभियोंके शब्दोंसे जिसकी वेशाल गुफायें अत्यन्त शब्दायमान हैं ऐसे उस सम्मेद शिखर पहाडने सर्वभर्ता भगवानको मेरी तरफसे कोई अतीचार न लगजाय इसलिये उन्हें अपनी अतिशय ऊंची शिखरपर विराजमान किया और देवोंने उसका सुवर्णभद्रकूट नाम धरा ॥ ४६ ॥

द्वारोपकंठविलसन्मणिश्रृंगकूटे
तत्कुंभनिर्भरविजृंभितदेवसूर्ये ।
सिद्धेः स्वयंवरवरस्रंगिवोपतस्थे
संयोगिनं प्रति नवासुरपुष्पवृष्टिः ॥ ४७ ॥

जिसके सुवर्णमयी कुंभ; सूर्यके समान जाज्वल्यमान हैं ऐसे देदीप्यमान मणियोंसे जगमगाते हुए उस कूटपर देवों

द्वाराकी गई नवीन नवीन पुष्पोंकी वृष्टि भगवान जिनेन्द्रके लिये स्वयंवर माला सरीखी जान पड़ती थी ॥ ४७ ॥

तत्रापसृत्य सदसः स्वयमेव दृश्यो
मासेन योगमवमुच्य समोवतुमिच्छुः ।
शुक्लं परं व्युपरतक्रियमप्रपाति
ध्यानं निधानमिव चित्तगृहे चकार ॥ ४८ ।

वहांपर सर्वज्ञ भगवान जिनेन्द्रने समस्त सभासे वियुक्त होकर एक मासका योग निरोध किया और वे अपने चित्तमें खजानेके समान व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यानके पायेका चिंतवन करने लगे ॥ ४८ ॥

पंचाक्षरीसमयवर्त्तिनि तत्त्वदीप्तो
ध्यानानले स बलवत्यखिलावलोकी ।
उद्घातकर्मविधिना सममायुषा स—
न्नामादिबंधगतमिंधनतां निनाय ॥ ४९ ॥

सर्वज्ञ भगवान जिनेन्द्रने आयु वेदनीय नाम गोत्र इन चारो अघातियां कर्मोकी स्थिति बराबर कर उन्हे अ इ उ ऋ ऌ इन पांच ह्रस्व वर्णोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है उतने समय तक, बलवान ध्यानरूपी अग्निमें ईंधन बना जलाना प्रारंभ करदिया ॥ ४९ ॥

निर्भिद्य कर्मनिगलं सकलं तदेव
निर्हृत्य दुःखममृतं पदमध्यरोहत् ।

आसेदिरे च करवारिजकुड्मलौघै—
रंतर्दृशा नियमिनां निटलप्रदेशाः ॥ ५० ॥

समस्त कर्मरूपी वेडियोंको तोड और दुःखको सर्वथा नाशकर भगवान जिनेन्द्रने मोक्ष पदको पाया उससमय जितने भी अंतरदृष्टि-दिव्य ज्ञानके धारक मुनिगण थे उन्होंने अपने दिव्य ज्ञानसे भगवान जिनेन्द्रकी मोक्ष प्राप्ति जान हाथ जोड कर मस्तकोंपर रख लिये। भगवान पार्श्व-नाथको भक्तिपूर्वक उन्होंने नमस्कार किया ॥ ५० ॥

देवैस्तदैव समुपेत्य चतुर्निकायै—
रानंदमंदरमनोगतभक्तिभारैः।
तस्यांतिमां जिनरवेर्विधिविद्भिरिज्या
माज्या स्वयं विजयराज्यगतैर्वितेने ॥ ५१ ॥

आनन्द और भक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न चारो निकायके देवोंने विधिपूर्वक भगवान जिनेन्द्रके निर्वाण कल्याणकी पूजा की और पांचो कल्याणोंके निर्विघ्न समाप्ति हो जानेसे उन्होंने अपना विजय समझा ॥ ५१ ॥

पूजावसानसमये जिनदिव्यमूर्ते—
ज्योतिर्वितानरचिता घनबंधजाता।
आनंददुंदुभिरवोन्नतगर्जितश्रीः
सांतर्हृदी प्रतिययौ क्षणदृश्यलीलाम् ॥ ५२ ॥

दिव्यमूर्ती भगवान जिनेंद्रकी पूजाके बाद जिसकी

चारो ओर ज्योति छटक रही थी और आनंदमय दुंदुभियोंका शब्द जिसमें हो रहा था ऐसा वह सब ठाठ बाट विजलीके समान चंचल दीख पड़ा ॥ ५२ ॥

इत्थं प्रभुस्त्रिजगतीशिखराभिराम—
क्षेमंधरः प्रतिगतो जितकर्ममल्लः ।
इंद्रादिभिस्तदजरामरधामकाम—
स्पष्टाभिविष्टहृदयैरभितुष्टवे यः ॥ ५३ ॥

इसप्रकार कल्याणकर्ता, समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले भगवान जब तीनों लोककी शिखरपर जा विराजे तब उनके अजरामर स्थानकी कामनासे इंद्र आदि देवोंने इसप्रकार उनकी स्तुति करनी प्रारंभ कर दी ॥ ५३ ॥

देव त्वदंघ्रिकमलानुसरा नरा ये
कल्याणकामसुरभिं न विदंति भक्तिम् ।
तत्त्वज्ञसंगतगुणैकरसानभिज्ञा—
स्ते कल्पवल्लिमपरां यदि कल्पयंति ॥ ५४ ॥

भगवन् ! आपके चरण कमलोंका अनुसरण करने वाले जो मनुष्य समस्त कल्याणोंके प्रदान करनेमें काम धेनुके समान आपकी भक्तिको नहीं जानते । आपकी भक्ति नहीं करते वे मनुष्य तत्वज्ञानियोंके गुणोंके रसके अनभिज्ञ हैं और अभीष्ट पदार्थ प्रदान करनेवाली दूसरीही कल्पलताकी कल्पना करते हैं । ऐसा समझना चाहिये ॥ ५४ ॥

यत्रास्पदं न लभते जिन शासनं ते
तेजोरवेरिव तमःप्रसरोपहारि ।
सा बन्धमोहनमयी जिन चित्तवृत्ति—
र्न श्यामिकां त्यजति विंध्यगिरेर्गुहेव ॥ ५५ ॥

हे भगवन ! जिन मनुष्योंके हृदयमें सूर्यके समान आपका शासन (आज्ञा भक्ति) रूपी प्रकाश नहीं है उन मनुष्योंके मोह बहुल चित्तकी कालिमा जिसप्रकार काले विंध्याचल पहाडकी गुफाकी कालिमा नहीं छूटती उसीप्रकार नहीं छूट सकती । विना आपके शासनको धारण किये उनके चित्त कभी निर्मल नहीं वन सकते ॥ ५५ ॥

आत्यंतिकं सुखमभीप्सति दुःखहान्या
तत्कारणं न भवतः कुरुते सपर्याम् ।
लोकस्य एष विपरीतगतिः कुतो वा
मोहांधकारपिहितस्य विवेकदीपः ॥ ५६ ॥

यह लोक दुःखके नाश पूर्वक आत्यंतिक सुख—मोक्षकी अभिलाषा करता है परंतु उसको प्रदान करनेवाली आपकी पूजा नहीं करना चाहता । भगवन् ! मोहरूपी अंधकारसे अंधा रहनेके कारण यह इसप्रकार विपरीत मार्गपर चल रहा है सो विना विवेक रूपी दीपकके इसका यह विपरीत मार्गपर चलना कैसे छूट सकता है ? ॥ ५६ ॥

विश्वं करामलकदृश्यविदं प्रभोस्ते
साक्षी ततोऽसि जगतः शतशः प्रवृत्तौ ।

त्वामंशुमानिति वदंति ततोऽनिमित्त—
मिच्छाक्रिये नु कृतकृत्य कुतस्तव स्तः ॥ ५७ ॥

हे भगवन! हाथकी रेखाके समान आप समस्त जगत के जानकार हैं इसलिये संसारकी जितनी भर प्रवृत्तियां हैं उनके आप ही साक्षी हैं क्योंकि आपको लोग सूर्य कहते हैं। तथा आप कृतकृत्य हैं इसलिये विना कारण इच्छा और क्रिया आपके कभी हो नहीं सकतीं ॥ ५७ ॥

निर्धूतकल्मषमतिप्रसरप्रकाशं
चित्रं जिनेश भवतो जगदीश्वरत्वम्।
निस्संगसारकथयैव सुखं प्रयच्छन्
भव्यान् कृतार्थयसि दिव्यनिकामसेव्यः ॥ ५८ ॥

कर्मोंके नष्ट हो जानेपर केवल ज्ञानको प्राप्त कर लेना ही आपका जगदीश्वरपना है यह वडी आश्चर्य कारी वात है क्योंकी दिव्य निष्काम योगियों द्वारा सेवनीक आप जिसमें परिग्रहका कोई संबंध नहीं ऐसे उपदेशसेही भव्य जीवोंको कृतार्थ कर देते हैं। अर्थात् जगदीश्वरपना धन आदिकी विभूतिसे होता है आपके पास वह नहीं तिसपर भी आपके सेवक निष्काम हैं और आप भी परिग्रहके त्यागका उपदेश देते हैं यह जगदीश्वरपना अवश्य ही आश्चर्य कारक है ॥ ५८ ॥

त्वामव्ययं सकलवत्सलसप्रभावं
चित्ते करोमि वरमंत्रपदैः स्तवीमि ।
क्लेशार्णवप्रभवदुःसहदुःखपंकात्
मामुद्धरिष्यति हि धर्मविनोद एषः ॥ ५९ ॥

हे समस्तजीवोंपर दया करनेवाले भगवन ! आप अविनाशी हैं । विचित्र प्रभावके धारक हैं इसलिये आपको हम अपने हृदयमें धारण करते हैं और उत्तमोत्तम मंत्रोंसे आपकी स्तुति करते हैं हमें विश्वास है कि प्रचंड संसारके दुःखसे अवश्य आप हमारा उद्धार करेंगे । इसीका नाम धर्मविनोद है

आस्तां गुणस्तवकृतौ तव देव दक्षाः
श्रेयोऽलमंत यतिकांतगुणार्णवस्य ।
तुभ्यं नमोस्तु वरदेव प्रवक्तुकामाः
सम्यक्त्वतुंगमहिमानमुपाश्रयंति ॥ ६० ॥

भगवन् ! जो चतुर पुरुष आपके गुणोंकी स्तुति करने वाले हैं वे मुनियोंके उत्तमोत्तम गुणोंके समुद्र स्वरूप आपने जिस कल्याणको प्राप्त किया है उसे प्राप्त कर लेते हैं यह बात दूर रहो किंतु आपको सर्वोत्कृष्ट देव माननेवाले भी मनुष्य सम्यग्दर्शनकी सर्वोत्कृष्ट महिमाको प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये आपकेलिये नमस्कार है ॥ ६० ॥

स्वाधीनबोधमयनिर्मलदर्पणांत—
र्बिंबागतत्रिविधकालजगत्त्रयाय ।

भव्यांबुजाकरविबोधनतत्पराय
श्रीपार्श्वनाथ भगवन् भवते नमोऽस्तु ॥ ६१ ॥

हे भगवन्! आप स्वाधीन बोध–केवल ज्ञान रूपी दर्पण-में झलकने वाले भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालों और ऊर्ध्व मध्य पाताल तीनों लोकोंको साक्षात देखने वाले हैं और भव्यरूपी कमलोंको प्रबोध देनेवाले हैं इसलिये हे भगवन्! पार्श्वनाथ आपको बार बार नमस्कार है ॥ ६१ ॥

त्रिभुवनगुरुमेवं सिद्धिलक्ष्मीसमेतं
त्रिभुवनशिखरश्रीसौधशृंगाधिरूढम्।
सविनयमभिनुत्य स्वर्गिणामग्रगण्या
निजपदमभिजग्मुस्तिग्मरश्मिप्रकाशम् ॥ ६२ ॥

तीनोलोकके गुरु, मोक्ष लक्ष्मीके स्वामी, तीनों लोककी शिखरपर विराजमान और सूर्यके समान देदीप्यमान कांतिके धारक भगवान पार्श्वनाथकी इसप्रकार विनय पूर्वक स्तुति कर देवोंके स्वामी इंद्र अपने स्थानोंपर चले गये

श्रीनिर्वाणनवोदयाद्रिशिखरप्रव्यक्तबोधस्तुतिः—
सर्वप्राग्प्रहरोपि नीतविनयप्रोद्दामपुण्यांजलिः।
भव्यांभोजविकासवैभवकरो देयात्स वः श्रेयसे
देवो दीप्रमुपांतिमो जिनरविः कैवल्यसिद्धिश्रियम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीवादिराजसूरि विरचिते श्रीपार्श्वनाथजिनेश्वरचरित्रे
महाकाव्ये भगवन्निर्वाणगमनं नाम
द्वादशः सर्गः।

निर्वाण रूपी नवीन उदयाचल पर्वतके शिखर पर अपनी केवल ज्ञान रूपी तेजसे जगमगाने वाले सबके स्वामी होनेपर भी अत्यन्त विनयसे पुण्य उपार्जन करने वाले, भव्यरूपी कमलोंके खिलानेवाले अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर जिनेंद्रसे पहले होनेवाले श्री पार्श्वनाथ जिनेंद्र रूपी सूर्य हमारे कल्याणके लिये केवल ज्ञान और मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ६३ ॥

इसप्रकार श्रीवादिराज आचार्य विरचित श्रीपार्श्वनाथ भगवानके चरित महाकाव्यमें भगवानका मोक्ष गमन वर्णन करनेवाला बारहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

ग्रंथकर्ताकी प्रशस्ति।

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थे—
नित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः।
प्रसिद्धभागी मुनिपुंगवेन्द्रैः
श्रीनंदिसंघोऽस्ति निवर्हितांहाः ॥ १ ॥

श्री जिनेंद्र भगवानके मुखसे उद्गत श्री सरस्वतीरूपी पवित्र तीर्थका नित्य अवगाहन करनेसे जिनकी निर्मल बुद्धि सबल है ऐसे मुनि पुंगवोंसे प्रसिद्ध निर्दोष श्री नंदिसंघ है ॥ १ ॥

तस्मिन्नभूदुद्यतसंयमश्री—
स्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः।
सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः
श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥ २ ॥

उस संघमें उत्कट संयमका धारक तीन विद्याओंके धारक, विद्वानोंसे भले प्रकार स्तुत, नयमार्गके ज्ञाता सिंहपुरमें सबसे प्रधान श्रीपाल नामके आचार्य थे ॥ २ ॥

तस्याभवद्भव्यपयोरुहाणां
तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः।
निषिद्धदुर्मार्गनयप्रभावः
शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः ॥ ३ ॥

भव्य रूपी कमलोंको आनन्द प्रदान करने वाले उन्नत

शोभाके धारक निंदित मार्ग और नयोंके प्रभावको रोकने वाले उन श्रीपाल आचार्यके परम शिष्य श्री अमित सागर नामके थे ॥ ३ ॥

तत्पादपद्मभ्रमरेण भूक्ना
निश्रेयसश्रीरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा
जैनी स्वबुद्धयेयमनिर्दयापि ॥ ४ ॥

उन्हीं आचार्य श्री अमित सागरके चरण कमलोंका भ्रमर, मोक्ष लक्ष्मीके अत्यन्त लोलुपी श्री वादिराज सूरी था उसीने यह श्री पार्श्वनाथ स्वामीका चरित्र रचा है ॥ ४ ॥

शाकाब्दे नगवार्धिरंध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥ ५ ॥

शक संवत् ९४७ क्रोधन संवत्सरकी कार्तिक सुदी तीजके दिन जब कि जयसिंह नामका राजा पृथ्वीका शासन करता था उससमय मुझ वादिराज सूरीने यह भगवान जिनेंद्रका चरित्र पूर्ण किया था। वह आप लोगोंको कल्याण प्रदान करे ॥ ५ ॥

लक्ष्मीवासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।

निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यंदसिंधुप्रबंधो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकांतपुण्यः ॥ ६ ॥

जिससमय सिंहचक्रेश्वरका अभिलषित पदार्थोंके प्रदानसे अत्यन्त सुभग कट्टगा नामकी किसी नदीके किनारे रहने वाले लक्ष्मीके निवास स्वरूप कटक वसा था उस समय नवीन अमृतका समुद्र स्वरूप यह पार्श्वचरित रचकर समाप्त हुआ था वह भगवान जिनेंद्रके भवोंके दर्शनसे जायमान पुण्यका भाजन पार्श्वचरित ग्रन्थ सदा जयवन्त रहो ॥ ६ ॥

अन्यः श्रीजिनदेवजन्मविभवव्यावर्णनाहारिणः
श्रोता यः प्रसरत्प्रमोदसुभगो व्याख्यानकारी च य.,
सोऽयंः मुक्तिवधूनिसर्गसुभगो जायेत किं चैकश-
स्सर्गात्तोऽप्युपयाति वाङ्मयलसल्लक्ष्मीपदश्रीपदम् ॥ ७ ।

जिसमें भगवान जिनेंद्रके जन्मके वैभवका वर्णन ऐसी विशाल कृतिका सुननेवाला वा प्रमुदित चित्तहो व्याख्यान करने वाला पुरुष मोक्ष लक्ष्मी का प्यारा वन जाता है औरजो उनके वैभवके वर्णनमें एकही सर्ग लिखनेवाला है वह भी वाणी रूपी लक्ष्मीका स्थान वन जाता है ॥ ७ ॥

इति प्रशस्ति समाप्त ।